वाराह श्रौत-सूत्र का परिशीलन

डॉ० राम हित त्रिपाठी



मङ्गलम् प्रकाशन, इलाहाबाद

वाराह श्रौत-सूत्र का परिशीलन

डॉ रामहित त्रिपाठी
प्राचार्य
पं महादेव शुक्ल कृषक स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, गौर, बस्ती (उ० प्र०)

मङ्गलम् प्रकाशन, इलाहाबाद

वाराहश्रौतसूत्र का परिशीलन

डॉ० रामहित त्रिपाठी
प्राचार्य,
पं० महादेव शुक्ल कृषक स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, गौर, बस्ती (उ०प्र०)

मङ्गलम् प्रकाशन, इलाहाबाद

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई-दिल्ली की
वित्तीय सहायता से प्रकाशित

प्रथम संस्करण २००३ (एक हजार प्रतियाँ)

मूल्य : एक सौ छत्तीस रुपये



• प्रकाशिका: •

श्रीमती शोभा त्रिपाठी

४६३/जी-२/३५९, शिवम् अपार्टमेण्ट, ममफोर्डगंज
इलाहाबाद, उ०प्र०
दूरभाष : ०५३२-२६४४१८६



• मुद्रक •

दुबे प्रिन्टर्स

५०-ए, रायबहादुर रामचरनदास रोड
इलाहाबाद

VĀRĀHA-ŚRAUTA-SŪTRA
KĀ
PARIŚĪLANA

By

DR. RAMHIT TRIPATHI
Principal
Pt. Mahadeva Shukla Krishak
Post-Graduate College, Gaur
Basti (U.P.)

MANGALAM PRASASHAN, ALLAHABAD

Published with the Financial Assistance from the Rastriya Sanskrit Sansthan, New-Delhi

First Edition 2003 (1000 Copies)



• *Published by* •

SMT. SHOBHA TRIPATHI
463/G-2/359, Shivam Apartments
Mumfordganj, Allahabad
Phone : 0532–2644186



• *Printed by* •

DUBEY PRINTERS
50-A, Raibahadur Ramcharan Das Road
Allahabad

परमपूज्य पिता

स्व० रामदौर त्रिपाठी 'मङ्गल'

की शक्तिदायिनी स्मृतियों को

अशेषश्रद्धासहित

समर्पित

प्राक्कथन

वैदिक वाङ्मय हमारे क्रान्तद्रष्टा मनीषियों के चिन्तन की उपलब्धियों का अप्रतिम एवं असीम रत्नकोश है। ज्ञान एंव कर्म इस वाङ्मय के दो मौलिक आधार एवं प्रतिपाद्य हैं। वेद के क्रियार्थ होने के कारण स्वभावत: यज्ञ का सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में प्राधान्य है। यज्ञविधि या कर्मकाण्ड के सम्यक् प्रतिपादन की एक सुदीर्घ् परम्परा अपौरुषेय ब्राह्मण ग्रन्थों से आरम्भ कर वेदाङ्ग नाम से प्रख्यात परवर्ती अपौरुषेय रचनाओं तक अविच्छिन्न रूप में दिखायी पड़ती है। वेदविहित कर्मों की क्रमानुसारी व्यवस्था करने वाला वेदाङ्ग साहित्य सुसमृद्ध एवं विपुल होने के कारण गवेषणात्मक अनुशीलन के लिए अपरिमित सामग्री उपस्थापित करता है। कल्प के अन्तर्गत श्रौतयज्ञों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करने वाले श्रौतसूत्रों का वैदिक साहित्य में असाधारण स्वरूप एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रौतसूत्रों में अन्यतम एवं कालक्रम की दृष्टि से अपेक्षाकृत परवर्ती वाराहश्रौतसूत्र का यथासंभव साङ्गोपाङ्ग गवेषणात्मक अध्ययन का एक प्रयास है। प्रथम अध्याय में विषय की प्रस्तावना के रूप में श्रौतसूत्रों के प्रतिपाद्य यज्ञ का परिचयात्मक विवेचन करने के उपर्यन्त श्रौतसूत्र पर रचनाकार, समय एवं भाषाशैली की दृष्टियों से विचार किया गया है। इन विषयों की समीक्षा करते समय अर्वाचीन विद्वानों के मतों का आदर करते हुए उनके तथ्यपूर्ण निष्कर्षों को भी उपस्थापित किया गया है।

द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों की योजना वाराहश्रौतसूत्र के तीन खण्डों-प्राक्सौमिक, अग्निचयन तथा वाजपेयादि के आधार पर ही की गयी है। यज्ञों का विवेचन करते समय वाराहश्रौतसूत्र की सामग्री का ही प्रमुख रूप से उपयोग किया गया है और पादटिप्पणियों में आवश्यकतानुसार

अन्य प्रमुख श्रौतसूत्रों के सन्दर्भ भी दिये गये हैं। प्रत्येक यज्ञक्रिया का पृथक्-पृथक् निर्देश करते हुए उनका यथासम्भव स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इस श्रौतसूत्र की विशेषताओं का निर्देश करने के लिए ही पञ्चम अध्याय में इसकी अन्य श्रौतसूत्रों से तुलनात्मक विवेचना की गयी है। इस तुलनात्मक अध्ययन से आचार्य वराह की मान्यताओं पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। षष्ठ अध्याय का संबन्ध वाराहश्रौतसूत्र की संरचना से है। इसमें वाराहश्रौतसूत्र के आधार अथवा स्रोत का अनुरेखन किया गया है। उल्लेखनीय है कि इस श्रौतसूत्र का आधार मैत्रायणी-संहिता है। हमने वाराहश्रौतसूत्र एवं मैत्रायणीसंहिता के सन्दर्भों को यज्ञानुष्ठानों के क्रम में एक साथ तुलनात्मक रूप देकर इस श्रौतसूत्र का अपनी संहिता के प्रति प्रभूतऋण का लेखा प्रस्तुत करने के साथ अन्य संहिताओं यथा ऋग्वेद, शुक्लयजुर्वेदीया माध्यन्दिनसंहिता, कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय एवं काठक संहिताओं से तथा तैत्तिरीयब्राह्मण से संगृहीत सामग्री को इंगित करते हुए उन पूर्ववर्ती रचनाओं के साथ इसके सम्बन्ध को भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

सप्तम अध्याय में वाराहश्रौतसूत्र में प्रतिबिम्बित समाज एवं संस्कृति की समीक्षा करते हुए संक्षेप में तत्कालीन सामाजिक संस्थाओं, वर्गों, सभ्यता की उन्नति एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल्याङ्कन किया गया है। इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि इस समीक्षा को हमने इसी श्रौतसूत्र के सन्दर्भों तक सीमित रखा है। श्रौतसूत्रों की यज्ञवेदियों तक के संकुचित विवेचन में भी तत्कालीन समाज का स्पष्ट चित्र देखा जा सकता है।

अध्यायों के अन्त में दो परिशिष्टों में क्रमशः श्रौतसूत्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली एवं विविध यज्ञों में प्रयोज्य उपकरणों की संक्षिप्त परिचयात्मक टिप्पणियाँ सन्निविष्ट की गयी हैं। यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है; कि वैदिक यज्ञों का पूर्णतः स्पष्ट एवं सूक्ष्म विवेचन एक कठिन कार्य है, तथापि उनका वाराहश्रौतसूत्र के सन्दर्भ में यथासम्भव स्पष्ट, तथ्यपूर्ण एवं तुलनात्मक परिशीलन प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ का लक्ष्य है।

कृतज्ञताज्ञापन

मैं सर्वप्रथम अपने परमपूज्य आचार्यवर डॉ० अतुलचन्द्र बनर्जी, पूर्व प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दी०द०उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय तथा पूर्व कुलपति, रा०म०लो० अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद के प्रति प्रणतिपूर्वक हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। उनकी सहज वदान्यता ने मुझे इतना अधिक अनुगृहीत किया है कि मैं कभी अनृण नहीं हो सकता।

स्व० प्रो० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी (पूर्व आचार्य, संस्कृत विभाग, दी०द०उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय) से मुझे स्नेहपूर्ण पथप्रदर्शन मिला है। उनके उपकारों के लिए मैं आजीवन आभारी रहूँगा। डकन कालेज, पूना के शब्दकोश के निदेशकं, वेद के प्रसिद्ध विद्वान् मान्यवर डॉ० सी०जी० काशिकर ने महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों एवं ग्रन्थों के सन्दर्भ में जिस उदारता से अपने अनेक पत्रों द्वारा मुझे उपयोगी परामर्श दिये हैं उसके लिए मैं उनके प्रति सश्रद्ध कृतज्ञ हूँ। श्रद्धेय डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय पूर्व प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दी०द०उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय से मुझे अनेकशः प्रोत्साहन एवं परामर्श प्राप्त हुए हैं। उनके प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

श्रद्धेय प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय, भूतपूर्व आचार्य एवम् अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने मुझे निरन्तर अपने प्रेरणाप्रद आशीर्वचनों से उपकृत किया है। मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ। प्रो० आद्या प्रसाद मिश्र, पूर्व कुलपति, वेद विज्ञान विश्वविद्यालय, जबलपुर के स्नेहिल आशीष् से मैं सदा उपकृत होता रहा हूँ, एतदर्थ उन्हें सादर प्रणति निवेदित है।

लोकसाधना के मेरे पथप्रदर्शक तथा सतत उपकारक, आदरास्पद

अग्रज डॉ. रमाशंकर मिश्र, प्रोफेसर संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ के प्रति कृतज्ञतापूर्वक नतशिर हूँ। मैं कभी अनृण नहीं हो सकता। डॉ० दामोदर राम त्रिपाठी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग, कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल मित्रवर डॉ० रामप्रताप त्रिपाठी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग हे०न०ब० विश्वविद्यालय श्रीनगर, गढ़वाल तथा मेरे सहपाठी डॉ. बनारसी त्रिपाठी, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर से प्राप्त स्नेहबल से मैं सदा प्रोत्साहित रहा मैं इन सभी विद्वानों के प्रति आभारी हूँ।

मेरी सहधर्मिणी श्रीमती शोभा त्रिपाठी तथा पुत्रगण डॉ. दिवाकर त्रिपाठी, दिनकर त्रिपाठी, ऋतेश त्रिपाठी एवं पुत्रवधू डॉ. श्रीमती गीता त्रिपाठी, प्रवक्ता-संस्कृत विभाग, गनपत सहाय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सुलतानपुर और मेरी पौत्री श्रेया ने मुझे सर्वविधबाधामुक्त कर सारस्वत साधना का सदा अवसर प्रदान किया है, एतदर्थ सभी साधुवाद के पात्र हैं।

दूबे प्रेस, इलाहाबाद के सत्त्वाधिकारी श्री रविकान्त दूबे की सुजनता एवं कार्यप्रवीणता से यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो सका, इसके लिए उन्हें सप्रेम धन्यवाद। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रिय श्री आनन्द कुमार आर्य ने कम्प्यूटर कम्पोजिंग का कार्य दक्षता से सम्पन्न कर बहुमूल्य सहयोग दिया है उन्हें मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। इति शुभम्।

गुरुपूर्णिमा, सम्वत् २०६०

१३ जुलाई, २००३ **रामहित त्रिपाठी**

प्रयुक्त संक्षेपाक्षर

तु०	=	तुलनीय / तुलना करें
द्र०	=	द्रष्टव्य
अ०सं०	=	अथर्ववेद शौनक संहिता
अ०पै०सं०	=	अथर्ववेद पैप्पलाद संहिता
आ०ब्रा०	=	आर्षेय ब्राह्मण
आ०गृ०	=	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आप०गृ०	=	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आप०परि०	=	आपस्तम्ब परिशिष्ट
आप०श्रौ०	=	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
इ०फि०	=	इण्डियन फिलासफी
इ०वै०व०	=	इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज़
इ०वे०वे०सेक्रे०	=	इम्पिलिमेण्ट्स ऐण्ड वेसेल्स इन वैदिक सेक्रिफाइसेज़
इ०वि०क०	=	इण्डियन विलेज कम्युनिटीज़
इ०स्तू०	=	इण्डिश्शे स्तूदिएन
इ०ब्रा०	=	स्टडीज इन द ब्राह्मणाज़
ऋ०सं०	=	ऋग्वेदसंहिता
से०बु०ई०	=	सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट
ऐ०ब्रा०	=	ऐतरेय ब्राह्मण
ऐ०आ०	=	ऐतरेय आरण्यक
कपि०सं०	=	कपिष्ठल कठ संहिता
का०सं०	=	काठक संहिता
का०श्रौ०	=	कात्यायन श्रौतसूत्र
काठ०श्रौ०	=	काठक श्रौतसूत्र

का०श०ब्रा०	=	काण्व शतपथब्राह्मण
कौ०ब्रा०	=	कौषीतकि ब्राह्मण
कौ०सू०	=	कौशिक सूत्र
गो०ब्रा०	=	गोपथब्राह्मण
गौ०ध०	=	गौतम धर्मसूत्र
च०व्यू०	=	चरणव्यूह
छा०ब्रा०	=	छान्दोग्यब्राह्मण
जै०ब्रा०	=	जैमिनि ब्राह्मण
जै०सू०	=	जैमिनि सूत्र
जै०न्या०	=	जैमिनि न्यायमाला
तां०ब्रा०	=	ताण्ड्य महाब्राह्मण
तै०आ०	=	तैत्तिरीय आरण्यक
तै०सं०	=	तैत्तिरीय संहिता
तै०ब्रा०	=	तैत्तिरीय ब्राह्मण
द०प्र०	=	दर्शपूर्णमास प्रकाश
द्रा०श्रौ०	=	द्राह्यायण श्रौतसूत्र
पा०गृ०	=	पारस्करगृह्यसूत्र
बौ०श्रौ०	=	बौधायन श्रौतसूत्र
भा०श्रौ०	=	भारद्वाज श्रौतसूत्र
भा०पै०सू०	=	भारद्वाज पैतृमेधसूत्र
मान०श्रौ०;मानवश्रौ०	=	मानवश्रौतसूत्र
मान०गृ०	=	मानवगृह्यसूत्र
मै०सं०	=	मैत्रायणी संहिता
य०त०प्र०	=	यज्ञतत्त्व प्रकाश
रि०फि०वे०उ०	=	रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ दी वेद ऐण्ड उपनिषद्स
ला०श्रौ०	=	लाट्यायनश्रौतसूत्र
वा०का०सं०	=	वाजसनेयि काण्वसंहिता
वारा०श्रौ०	=	वाराहश्रौतसूत्र
वारा०गृ०	=	वाराहगृह्यसूत्र

वारा०शु०	=	वाराहशुल्बसूत्र
वा०शा०	=	वाजसनेयि शाखा
वै०सा०सं०	=	वैदिक साहित्य और संस्कृति
वै०श्रौ०	=	वैतानश्रौतसूत्र
वैखा०श्रौ०	=	वैखानस श्रौतसूत्र
वैखा०गृ०	=	वैखानसगृह्यसूत्र
वै०को०	=	वैदिक कोश
वै०मै०	=	वैदिक मैथालोजी
श०ब्रा०	=	शतपथब्राह्मण (माध्यन्दिन शाखा)
शां०ब्रा०	=	शाङ्खायन ब्राह्मण
शां०आ०	=	शाङ्खायन आरण्यक
शां०श्रौ०सू०	=	शाङ्खायन श्रौतसूत्र
श्रौ०प०नि०	=	श्रौतपदार्थ निर्वचन
ष०ब्रा०	=	षड्विंश ब्राह्मण
स०श्रौ०	=	सत्याषाढ श्रौतसूत्र
स०गृ०	=	सत्याषाढ गृह्यसूत्र
सा०वे०सं०	=	सामवेद संहिता
सा०वि०ब्रा०	=	सामविधान ब्राह्मण
हि०ऐ०सं०	=	हिस्ट्री आफ ऐंशिएण्ट एंस्कृत लिटरेचर
हि०ध०शा०	=	हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र
ध०शा०इ०	=	धर्मशास्त्र का इतिहास
सी०सी०आर०एस०एस०	=	कल्चर ऐण्ड सिविलाइजेशन ऐज रिविल्ड इन श्रौतसूत्राज़

विषयानुक्रम

पृष्ठ सं0

पृष्ठ सं०

पृष्ठ सं0

पृष्ठ सं0

वाराहश्रौतसूत्र
का
परिशीलन

अध्याय - १

प्रस्तावना

श्रौतसूत्रों का प्रतिपाद्य - यज्ञ

विश्व के प्राचीनतम वाङ्मय में वैदिक साहित्य का विशिष्ट महत्त्व है। वेद भारतीय धर्म एवं संस्कृति के प्रधान स्रोत हैं। वेद-प्रोक्त धर्म की प्रमुख विशेषता उसके मूल में सन्निहित यज्ञों की प्रधानता है। यज्ञ ही वैदिक जनों का प्रधान धर्म था।[१] सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का अध्ययन यज्ञों की पृष्ठभूमि में ही सम्यक् रूप से किया जा सकता है। स्वयं वैदिक साहित्य में ही स्पष्टत: यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म के रूप में स्वीकारा गया है। यज्ञ से ही निखिल जगत् की उत्पत्ति मानी गयी है और यज्ञ को जगत् का उत्पत्ति-स्थान (नाभि) कहा गया है।[२] इस संसार में दृष्टिगत होने वाले समस्त जड एवं चेतन पदार्थसमूह यज्ञ-रूप ही हैं। स्वयं प्रजापति भी यज्ञ-स्वरूप है और यज्ञ ही विष्णु का भी प्रतीक है। आदित्य यज्ञ का केन्द्र है।[३] यज्ञ के माध्यम से ही चारो वेदों, पशु-पक्षी एवं मनुष्य आदि समस्त जीवों तथा सूर्य, चन्द्र आदि देवताओं की भी उत्पत्ति हुई है।[४] यज्ञ ही सम्पूर्ण सृष्टि का संरक्षक है। इसी सन्दर्भ में भगवान् श्री कृष्ण ने भी गीता में यह उद्घोषणा की है कि मनुष्य

---

१. ऋ० १०/९०/१६ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

२. ऋ.सं. १-१६४-३५ अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि:।

३. श०ब्रा० १/७/४/५ यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।
श०ब्रा० १/१/१/१३ प्रजापतिर्वै यज्ञ:।
श०ब्रा० १४/१/१/६ स य: यज्ञो स आदित्य:

४. ऋ० १०/९०/९, द्र० मन्त्र १०-१२
तस्मायज्ञात्सर्वहुत: ऋच: सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।

यज्ञ-कर्म के बन्धन में बँधा हुआ इस संसार में इतस्ततः भ्रमण करता रहता है।[५] यज्ञों के सम्पादन से अक्षय्य सुकृत की प्राप्ति होती है तथा इसी से ही ऐहिक एवं आमुष्मिक दोनों प्रकार के फलों की प्राप्ति सम्भव है। यज्ञ से समस्त पापों का भी विमोचन सम्भाव्य है। अश्वमेधयाग की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि "इसके सम्पादन से यजमान को ब्रह्महत्या जैसे घोर पापों से मुक्ति मिल जाती है और वह मृत्यु जैसे अवश्यम्मावी दुःख को भी पार कर जाता है।"[६] इसी प्रकार विविध कामनाओं की प्राप्ति हेतु भी अनेक अनुष्ठान सम्पादन किये जाते हैं।[७]

वस्तुतः, यज्ञ समस्त सांसारिक क्रियाओं के सम्पादन के प्रतीक रूप में सम्पन्न किया जाता है। जहाँ एक ओर यज्ञ संसार-सृष्टि के नियमों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर यह परम कल्याण को देने वाला है। यथा- अग्नि में हुत हवि वायु के माध्यम से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष में फैल जाती है और वहाँ सूर्य के प्रभाव से मेघमण्डल के रूप में परिवर्तित हो मेघों के साथ मिलकर H_2O का निर्माण कर वर्षा कराती है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण अन्तरिक्ष पृथिवीस्थानीय जीवजन्तु एवं समस्त जडचेतन पदार्थ उपकृत एवं पवित्र हो जाते हैं। सूर्य भी अपनी रश्मियों को पवित्र करता है और उन पवित्र रश्मियों के द्वारा संसार की समस्त दुर्गन्धि को दूर कर जलों को भी पवित्र एवं निर्मल बनाता है। अतः इस प्रकार की उपादेयता से युक्त होने के कारण संसार में यज्ञ ही एकमात्र कल्याणकारी साधन है।[८]

---

५. श्रीमद्भगवतद्गीता, ३/९ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

६. द्र० वारा श्रौ ३/४/५/३२, श०ब्रा० १३/५/४/१ सर्वा ह वै पापकृत्यो सर्वा ब्रह्महत्यामपहन्ति यो अश्वमेधेन यजते।
तै०सं० ५-३-१२-२ तरति मृत्युं; तरति पाप्मानं; तरति ब्रह्महत्यां -योऽश्वमेधेन यजते। द्र० श०ब्रा० २/३/९/६, काठक सं० १०/१०

७. वारा.श्रौ. ३/४/१/१ 'विजित्याश्वमेधेन यजेत राजा। स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत, तथा वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राड् भवति।

८. ऐ०ब्रा० १/७ कल्पते यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्तैवं विद्वान् होता भवति। पशु, प्रजा, धन, यश आदि अनेक लौकिक फलों की प्राप्ति यज्ञ द्वारा होती है, इस प्रकार के वचन ब्राह्मणों में यज्ञ की इष्टियों के प्रसङ्ग में बहुशः आये हैं।

यज्ञ का अर्थ

प्रारम्भ में यज्ञ शब्द का प्रयोग यजन, पूजन एवं उपासना इत्यादि सामान्य कर्मबोधक अर्थों में किया जाता रहा, किन्तु कालान्तर में अग्नि में आहुति देने के साथ अनेक कर्मकाण्डों के द्वारा विहित अनुष्ठान को यज्ञ की संज्ञा दी जाने लगी और नृतत्त्ववेत्ताओं ने यज्ञों के विकास अनुक्रम के मूल में निहित चार प्रधान सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये चारों सिद्धान्त हैं - (१) बलिदान, (२) पितृपूजा, (३) उर्वरतामूलक अनुष्ठान और (४) देवसामीप्य[९]। किन्तु √यज् = 'देवपूजासंगतिकरणदानेषु' से 'नञ्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न यज्ञ शब्द का अर्थ देवताविशेष को उद्दिष्ट कर हव्यादि द्रव्यों का अग्नि में प्रक्षेपण करना है।[१०] अतः ऋत्विजों द्वारा किया जाने वाला दक्षिणायुक्त वह कर्म, जिसमें ऋक्, साम एवं यजुर्मन्त्रों के प्रयोग से देवताओं को उद्दिष्ट कर अग्नि में हवि आदि का अर्पण किया जाता है, यज्ञ कहलाता है।

यज्ञ के अङ्ग

यज्ञ कर्म की सम्पूर्णता उसके अन्तर्गत निहित उसके पाँच अङ्गों पर निर्भर होती है - जिनके नाम हैं-(१) देवता, (२) द्रव्य, (३) मन्त्र, (४) ऋत्विज् और (५) दक्षिणा। यज्ञ का कोई न कोई अवश्यमेव विहित देवता होता है, जिसे मन्त्रों के उच्चारण द्वारा उद्दिष्ट कर अग्नि में आहुति दी जाती है। एतदर्थ देवताओं का द्विधा विभाजन है, प्रथमतः मनुष्यदेवता और द्वितीयतः भौतिक देवता।[११] शतपथब्राह्मण में विद्वान् ब्राह्मणों को मनुष्यदेवता के रूप में स्वीकार किया गया है।[१२] इसी प्रकार

---

९. रि०फि० वे उ०, भाग १, पृ० २५७,

१०. ऐ०ब्रा० सायणभाष्य, १/१/७ उद्दिष्ट देवतो द्रव्यत्यागे यागोऽभिधीयते।
का०श्रौ० १/२/२ द्रव्यं देवता त्यागः।
स०श्रौ० १/१/७ यज्ञो हि मन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दानम्।

११. द्र० भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण एवं आरण्यक भाग पृष्ठ १८०

१२. शब्रा० २/२/२/६, ३/७/३/१०, विद्वांसो हि देवताः।
शब्रा० २/४/३/१५, 'ये ब्राह्मणा शुश्रूषांसोऽनूचानस्ते मनुष्यदेवाः।

ऐतरेयब्राह्मण में भौतिक देवों को सत्य से अनुप्राणित बताया गया है।[१३] इन देवताओं के निमित्त अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति हेतु अर्पणीय हवि आदि की द्रव्य संज्ञा है। द्रव्य के तीन प्रकार हैं :

(१) आहुति द्रव्य - यथा-आज्याहुति एवं सोमाहुति आदि।

(२) होम द्रव्य - यथा-तिल, पय, दधि, घृत, तेल, यवागू, तण्डुल, ओदन, मांस, सोम रस तथा माष आदि।

(३) याग द्रव्य - यथा-आज्य, पृषदाज्य, तानूनप्त्राज्य, आमिक्षा, वाजिन्, चरु, पुरोडाश, वपा, अपूप, सक्तू सुरा और सोम।

द्रव्यों को यथाविहित देवताओं के नाम-निर्देशपूर्वक किये गये मन्त्रोच्चारण द्वारा अग्नि में अर्पण किया जाता है, क्योंकि मन्त्रों के द्वारा ही देवों का आह्वान सम्भव है। अतएव इस प्रकार आहूत देवता यज्ञ में उपस्थित होते हैं और अपने भाग को ग्रहण कर प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न होकर यजमान की कामनाओं की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार देवताओं का आह्वान एवं उन्हें उनका अवदानप्रदान आदि कर्म मन्त्रों के द्वारा ही सम्भव है। इसके साथ ही यज्ञ के अनुष्ठान काल में किये जाने वाले कर्मों का वाचन भी इन्हीं मन्त्रों द्वारा होता जाता है। वस्तुतः अनुष्ठान-काल में जो कार्य किये जा रहे हैं, उन्हें उस समय उच्चारण की जाने वाली ऋचाएँ भी कहती जाती हैं। इस प्रकार मन्त्रों के कथन के कारण ही यज्ञ-समृद्धि की सम्पूर्णता सिद्ध होती है।[१४] यज्ञ-काल में मन्त्रों का शुद्धोचारण अनर्थ-निवारण के साथ ही साथ कामनाओं की पूर्ति हेतु अर्थ-कथन करते हुए परम श्रेयस् की प्राप्ति कराने वाला होता है। परन्तु शब्द, वर्ण एवं स्वर-गत त्रुटियों से दुष्ट मन्त्र का उच्चारण केवल अभीप्सित अर्थ कथन को ही नहीं करता, अपितु यजमान का विनाशक भी सिद्ध होता है। अतएव अनुष्ठान काल में मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण

---

१३. ऐ०ब्रा० १/६, सत्यसंहिता वै देवाः।
मन्त्रहेतु द्र०, निरुक्त ७/१२,मन्त्राः मननात्।-
मननात् वै मन्त्राः।

१४. ऐ०ब्रा० १.४.१३.१६, एतद्वै यज्ञस्य रूपसमृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगमभिवदति।

और विनियोग किया जाना नितान्त आवश्यक है।[१५] ज्ञातव्य है कि यज्ञ-कर्म अनुष्ठान के लिए यजमान द्वारा आमन्त्रित ऐसे विद्वान् ब्राह्मणों को ऋत्विज् कहा जाता है, जो यज्ञ-कर्म में निष्णात हों तथा जो दक्षिणा पर आमन्त्रित किये गये हों।[१६] इन ऋत्विजों का चयन करते समय उनके वर्ण, गोत्र, प्रवर, वेद, शाखा एवं सूत्रादि का विशेष रूप में ध्यान रखा जाता था। इस प्रकार ऋत्विजों का चयन उनकी विद्या, जाति, जन्मादि के आधार पर किया जाता है। इसी विद्या-भेद के कारण इन ऋत्विजों का चतुर्धा विभाजन क्रमशः (१) होता, (२) अध्वर्यु, (३) उद्गाता और (४) ब्रह्मा के रूप में किया गया है।[१७] इन ऋत्विजों को अपने-अपने वेद से संबद्ध कार्यों का ही सम्पादन करना पड़ता है।[१८] अतः स्पष्ट है कि होता ऋग्वेद से सम्बद्ध होकर अपने कार्य का सम्पादन करता है, अध्वर्यु यजुर्वेद से तथा उद्गाता सामवेद से। ब्रह्मा का सम्बन्ध विशेषतः अथर्ववेद-विहित कार्यों से रहता है। किन्तु ब्रह्मा को समस्त वेदों का ज्ञाता होना चाहिए। वही यज्ञ के समस्त कार्यों का निरीक्षण ही नहीं अपितु अधीक्षण भी करता रहता है। यज्ञ के विभिन्न अवसरों पर ऋत्विजों को अपनी अनुज्ञा प्रदान करता रहता है। वही यज्ञगत त्रुटियों के

---

१५. द्र० महामाष्य, प्रथमाह्निक,
दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।

१६. पद्मपुराण-सृष्टिखण्ड-४१-८२, मधुसूदन शर्मा, यज्ञमधुसूदन, पृ०-३ तथा मनुस्मृति २. १४३ या.स्मृ. आचाराध्याय मिताक्षराटीका श्लोक-३५
द्र०-निरुक्तम्-३-४, सागरिका एकविंश वर्षे द्वितीयो अङ्कः - पृष्ठ-८३ डॉ० श्री किशोर मिश्र का शोध लेख तथा D.V.R. Page – 57
द्र०-पा०गृ०सू० - विवित्ति टीका-श्रौतस्मार्तादीनियो दक्षिणादिना परिक्रीतः कर्माणि करोति सऋत्विक्।

१७. यज्ञ तत्त्व प्रकाशः -पृष्ठ-१७, ध.शा. इ०-प्रथम भाग-पृष्ठ-५०९-१०
यज्ञमधुसूदन, पृ० ५-६ त्रीणि यस्यांवदा तानि विद्याकर्म च जन्म च।
स ब्राह्मणो भवेदृत्विक् स पारयति पारगः।
वर्णगोत्रप्रवरैर्लक्ष्येते जन्मकर्मणी।
वेदः शाखा च सूत्रं च कुले विद्यां प्रचक्षते।
वेदः शिक्षा च सूत्रं च कुलकर्मभिचक्षते।

१८. ऋ सं० १०/७१/११

शमन हेतु प्रायश्चित्तों का भी विधान करता है।[१८क] अवधेय है कि उक्त चारों ऋत्विजों के अतिरिक्त इनके तीन-तीन सहायक ऋत्विज भी होते हैं; जो यज्ञानुष्ठानों की सम्पन्नता में अनिवार्यतः प्रयोज्य होते हैं; उनका उल्लेख प्रसङ्गतः अग्रक्रम में किया गया है -

(१) होता के सहायक ऋत्विज् - मैत्रावरुण, आच्छावाक तथा ग्रावस्तोता।
(२) अध्वर्यु के सहायक ऋत्विज् - प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता।
(३) उद्गाता के सहायक ऋत्विज् - प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य।
(४) ब्रह्मा के सहायक ऋत्विज् - ब्राह्मणच्छंसी, आग्नीध्र, पोता।[१९]

यज्ञ के पाँचवें अङ्ग के रूप में दक्षिणा स्वीकार्य है। यज्ञानुष्ठानों की समाप्ति के अवसर पर ऋत्विजों को उनके पारिश्रमिक के रूप में दी जांने वाली वस्तु दक्षिणा कहलाती है।[२०] यज्ञ की पूर्णता उसके अन्तर्गत विहित दक्षिणा पर निर्भर है। दक्षिणा के रूप में प्रायः गौ,[२०क] भूमि, स्वर्ण, अश्व, रथ आदि प्रदान किये जाते हैं। दक्षिणा का विभिन्न यज्ञों में भिन्न-भिन्न विधान है, किन्तु गौ की दक्षिणा सर्वोत्तम दक्षिणा के रूप में स्वीकार की गयी है। गौ की दक्षिणा उत्तम दक्षिणा होने के कारण ही कालान्तर में दक्षिणा शब्द का प्रयोग गौ के अर्थ में भी किया गया और यह गौ दक्षिणास्वरूप हो गयी। इसलिए उपनिषद् साहित्य में दक्षिणा गौ शब्द का पर्याय सा बन गया है।[२१] इस प्रकार यज्ञ की सम्पूर्णता उपर्युक्त पाँच अङ्गों पर निर्भर करती है। जिनका सम्यक् रूप में अनुष्ठान विधान विहितव्य है।

यज्ञों के भेद

श्रौताग्नियों एवं गृह्याग्नियों की दृष्टि से श्रौत एवं गृह्य यज्ञ

१८क. विशेष हेतु द्र०-''ऋत्विजों में ब्रह्मा'' डॉ० रामहित त्रिपाठी, मङ्गलम् प्रकाशन, इलाहाबाद, २००२

१९. तै०ब्रा०- ३.३.५-७, गो०ब्रा०-पूर्वभाग- ५-२४. यज्ञमधुसूदन, पृ०-६; का०श्रौ० ७-१-७; वैखा०श्रौ०-२.३.१.१२.१; ता०ब्रा०-१-१-१- द्रा०श्रौ० १-१-१०; आप०श्रौ० १०.१.१-३ एवं १०.२.९; जै०सू०-६.५५-५०-५९ बौ०श्रौ०-७-१

२०. विशेष हेतु द्र०- सं. शब्दार्थ कौस्तुभ. पृ०-५०४; श०ब्रा०-४.३.४.२. निरुक्तम्- १.३.९. ग्रो०ब्रा०-३.१७. वै०इ० १.७४; का०सं० १३.३

२०क. विशेष हेतु द्र. कल्याण-जून अङ्क १९९५ - ''हविर्यज्ञों की दक्षिणा पदार्थ के रूप में गौ की महत्ता''-शोधलेख डॉ. रामहित त्रिपाठी

२१. द्र० कठोपनिषद्, १/१/२ दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा आविवेश।

नामक यज्ञ के दो प्रभेदों के अतिरिक्त साङ्गोपाङ्ग वर्णन के आधार पर सर्वप्रथम यज्ञों का प्रकृति तथा विकृतियाग के रूप में द्विधा विभाजन है - (१) प्रकृति याग-ऐसे यागों को कहते हैं, जिनके अन्तर्गत यज्ञ के सभी अनुष्ठानों के अङ्ग प्रत्यङ्गों का विधिवत् वर्णन किया जाता है। विकृतियाग-उन यागों का अभिधान है, जिनमें प्रकृति याग के अतिरिक्त यज्ञ के अन्य विधानों का भी वर्णन किया जाता है। इसके अतिरिक्त यज्ञों का पञ्चधा विभाजन भी उपन्यस्त किया गया है; यथा-अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम।[२२] सुविधा की दृष्टि से यज्ञों को कुल तीन संस्थाओं में आचार्यों ने विभक्त किया है, जो अग्रलिखित हैं -[२३]

(१) पाकयज्ञ संस्था - औपासन, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिश्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, श्रावणा तथा शूलगव।[२४]

(२) हविर्यज्ञ संस्था - अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रायण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी और पिण्डपितृयज्ञ।[२५]

(३) सोमयज्ञ संस्था - अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय तथा आप्तोर्याम।[२६]

इस प्रकार कुल मिलकार यज्ञ की २१ संस्थायें सुनिश्चित होती हैं। इन यज्ञों का अग्नियों के आधार पर भी द्विधा विभाजन किया गया है, जिसे क्रमशः श्रौतयज्ञ और गृह्ययज्ञ कहा जाता है। श्रौतयज्ञों का अनुष्ठान श्रौताग्नियों में किया जाता है, जिन्हें आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि के नामों से जाना जाता है। श्रौतयज्ञों के अन्तर्गत हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ संस्थाओं के समस्त यज्ञ समाहित हैं। गृह्याग्नियों में अनुष्ठेय यज्ञों की गृह्य अथवा स्मार्त यज्ञ संज्ञा है। यज्ञ संस्था के समस्त यज्ञों का इनके

---

२२. ऐ०ब्रा० २/३/३/४- स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुः सोमः।

२३. द्र० गौ.ध.सू. ३/१६, बौ श्रौ २४/४, वैखा गृ० १/१/१, ग्रो.ब्रा. १/१/१२ स एवं त्रिवृतं सप्ततन्तुमेकविंशतिसंख्यं यज्ञमपश्यत्।

२४. गौ.ध.सू. ३/१६ तथा बौधा० श्रौ० २४/४

२५. गौ० ध.सू. ८/१८ तथा बौधा० श्रौ० २४/४

२६. गौ० ध.सू. ८/१६ तथा बौधा० श्रौ० २४/४

अन्तर्गत परिगणन किया जाता है। गृह्य यज्ञों को आवसथ्य एवं सभ्याग्नियों में सम्पादित किया जाता है। उपरितन वर्णित इन श्रौताग्नियों में अनुष्ठेय सभी यागों को सुविधा के लिए त्रिधात्मक रूप में विभक्त किया जा सकता है- जिनको (१) इष्टि, (२) पशुयज्ञ तथा (३) सोमयज्ञ कहते हैं।[२७] इन यज्ञों को ही वैदिक अथवा श्रौतयज्ञ की संज्ञा प्रदान की गयी है।

श्रौतसूत्रों का उद्भव

ज्ञातव्य है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों के अनुष्ठान विधानों की विशद व्याख्यायें उपन्यस्त हैं। ब्राह्मण काल के अन्तिम चरण तक वैदिक आर्यों का सर्वविध विकास हो चुका था। उनके जीवन का प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञानुष्ठान का सम्पादन करना ही था और उस समय इन याज्ञिक क्रियाओं के विधानों का एक मात्र ज्ञान अति विस्तृत सरहस्य एवं व्याख्यात्मक रूप में निबद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों से ही जाना जा सकता था। इस काल तक याज्ञिक कर्मकाण्ड बहुजटिल, दुरूह एवं विस्तृत हो चुका था; क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में अति व्यापकता से निबद्ध होने पर भी अपरिहार्य अनुष्ठान के रूप में अनुष्ठेय इन समस्त कर्मकाण्डों का साङ्गोपाङ्ग ध्यान रख पाना अब तक एक कठिन कार्य हो चुका था। एक ओर तो किसी भी अनुष्ठान के लिए उसके अन्तर्गत निहित समस्त विधिविधानों को स्मरण किये रहना भी अनिवार्य था और दूसरी ओर दुरूह एवं अति विस्तृत होने के कारण श्रुति परम्परा से अनुष्ठानों का सविधि सम्पादन एवं उनकी रक्षा असंभव होने लगी।

स्पष्ट है; कि इस समय तक आर्यों ने अपने धार्मिक जीवन में यज्ञानुष्ठान-कृत्य को अपरिहार्य कर्म के रूप में स्वीकार कर लिया था। अब तक यज्ञों का क्रमिक विकास स्वाभाविक रूप में शनैः शनैः सरलता से जटिलता के रूप में परिणत होता जा रहा था। उनमें नानाविध मतमतान्तरों एवं कर्मकाण्डों का बाहुल्य अपना स्थान बनाता जा रहा था। ऐसी परिस्थिति में यज्ञ सम्बन्धी विधि-विधानों का क्रमबद्ध, संक्षिप्त एवं सूत्रात्मक शैली में उपनिबद्ध ऐसे ग्रन्थों के प्रणयन की आवश्यकता

---

२७. द्र० पी०वी०काणे, हि ध शा, पृ० ११३३

होने लगी, जिनकी सहायता से यागानुष्ठान सरलतम रूप में सम्पन्न किये जा सकें और उनके नियमों एवं आनुष्ठानिक क्रमों की रक्षा भी सम्भव हो सके। इस प्रकार की परिस्थितिजन्य आवश्यकता की अभिपूर्ति हेतु तत्कालीन आर्यमनीषियों ने याज्ञिक क्रियाओं एवं अनुष्ठानों के विधानों का क्रमबद्ध, संक्षिप्त एवं सूत्र-शैली में उपनिबद्ध नवीन लेखनविधा को जन्म दिया। इसे ही हम सूत्र अथवा कल्प साहित्य के नाम से जानते हैं। सूत्र साहित्य ऐसे साहित्य का अभिधान है, जिसके अन्तर्गत किसी विस्तृत विषय का विवेचन सारगर्भित अल्पाक्षरों एवं क्रमबद्ध शब्दों से बहुअर्थबोधकता मण्डित लेखन शैली में किया जाता है।[२८] अतः सूत्रशैली ऐसी संक्षिप्त, महत्त्वपूर्ण तथा निर्दोष चिन्तन शैली की एक विधा विशेष है जिसमें सन्देहरहित व्यापकता की निःशेष क्षमता विद्यमान रहती है।[२९] जिस साहित्य के अन्तर्गत श्रुतिप्रतिपादित यज्ञ-यागादि कर्मों के प्रयोगों की क्रमपूर्वक परिकल्पना अथवा समर्थन प्रस्तुत किया गया है उसे हम कल्प साहित्य के नाम से जानते हैं।[३०] इस साहित्य के अन्तर्गत वैदिक यज्ञ-विधानों एवं कर्मकाण्ड के विवेचन के अतिरिक्त सामाजिक, राजनीतिक, पारमार्थिक आदि विषयों का भी संकेतित वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त मानव के अधिकार, कर्त्तव्य, नियम, धर्म, रीति एवं व्यवहार आदि से संबद्ध आचार एवं कर्तव्याकर्तव्य का भी विधान विहित है।

इस प्रकार सम्पूर्ण वेदवाङ्मय में और विशेषतः ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का वर्णन विस्तृत, जटिल, क्रमबद्धताहीन एवं रहस्यमय होने के कारण ही सूत्र शैली में विरचित और कर्मानुष्ठानों का स्पष्ट ज्ञान प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों का आविर्भाव हुआ, जिन्हें हम कल्प अथवा सूत्रसाहित्य

---

२८. द्र० मैक्स म्यूल्लेर, ए हिस्ट्री आव ऐंशियएण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ६४

२९. काव्य मीमांसा-अध्याय-२, युक्त दीपिका-पृ.-३, पद्मपाद की पञ्चपादिका पृ०-८२, ब्र.पुराण, २.३३.५८ वायु०पु० ५९.१४२

३०. द्र० ऋग्वेदभाष्यभूमिका, सायण, पृ० ११२ 'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति व्युत्पत्तेः।
तथा ऋग्वेदप्रातिशाख्य, विष्णुमित्रकृता वर्गद्वयवृत्ति, पृष्ठ-२४ - "कल्पो वेदविहितानाम् कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्।

में समाविष्ट करते हैं।[३१] कल्प साहित्य के अभाव में किसी भी कर्मकाण्ड अथवा याग का अनुष्ठान अत्यन्त कठिन कार्य बन गया था; परन्तु कल्प साहित्य के माध्यम से याज्ञिक जन मन्त्रसंहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के अभाव में भी यज्ञसम्पादन कर सकते हैं।[३२] इसीलिए आचार्य सायण ने कल्पसूत्रों को यज्ञानुष्ठान एवं कर्मकाण्ड प्रतिपादन में मन्त्र-विनियोग आदि समस्त विधियों का उपदेशक कहकर 'वेदविहित यज्ञों के उपकारक' की संज्ञा दी है।[३३]

कल्प साहित्य का वेदाङ्गों में प्रमुख स्थान है। वेदाङ्गों का आविर्भाव वेदों की रक्षा एवं उनके अर्थज्ञान में सहायता प्रदान करने के लिए हुआ। इसके द्वारा वेद के स्वरूप का ज्ञान स्पष्ट रूप में संभव होने लगा।[३४] वेदाङ्गों को वेद-पुरुष के अङ्गों के रूप में निरूपित करते हुए महर्षि पाणिनि ने एक रूपक प्रस्तुत किया है; जिसमें कल्प को वेदपुरुष के दोनों हाथों की उपमा प्रदान की गयी है।[३५] कल्प अथवा सूत्र साहित्य को उनके विषय-विभेद के आधार पर चतुर्धा विभक्त किया गया है -

(१) श्रौतसूत्र - सूत्रशैली में वेदविहित यज्ञयागादि के प्रयोगों की विधि एवं उनके विवरणादि की श्रुतिमूलकता के साथ प्रतिपादक ग्रन्थ होने के कारण इन्हें श्रौतसूत्र कहा जाता है। श्रौताग्नियों में अनुष्ठेय यज्ञों का वर्णन इन्हीं श्रौतसूत्रों में प्राप्त होता है।[३६]

(२) गृह्यसूत्र - गृह्याग्नियों में सम्पाद्य यज्ञविधानों के प्रतिपादक ग्रन्थों की गृह्यसूत्र संज्ञा है। इसमें जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सभी प्रकार के संस्कारों एवं उत्सवों का वर्णन है; जिनके अनुष्ठान से

---

३१. मैक्सम्युल्लेर, एं० सं० लि०, पृ० १५०

३२. तन्त्रवार्तिक, कुमारिल, पृ० १ ३

३३. द्र० ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० ११ -
अत: कल्पसूत्र मन्त्रविनियोगेन क्रत्वनुष्ठानमुपदिश्य उपाकरोति।

३४. महाभाष्य १/१/१ रक्षार्थं वेदानाम् - १
तथा ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० १०९, अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षड्ङ्गानि प्रवृत्तानि।

३५. पाणिनिशिक्षा, ४२, वेदस्य हस्तौ कल्पौ।

३६. ए०ए० मैक्डानल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, अध्याय २, पृ० ३०।

भारतीय जन-जीवन अधिक पवित्र बन जाता है। इनके अन्तर्गत सप्त पाकयज्ञसंस्थाक यज्ञ, पञ्चमहायज्ञ एवं षोडशादि संस्कारों के विधानों के अतिरिक्त गृहनिर्माण, गृहप्रवेश एवं रोगविनाशक आदि उपायों का विधिवत् वर्णन किया गया है।[३७]

(३) सामाजिक, पारमार्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि व्यवस्थाओं के अतिरिक्त इनके अन्तर्गत वर्णाश्रमव्यवस्था, मानवीय आचारसंहिता तथा न्याय आदि के नियमों का विधान किया गया है।[३८]

(४) शुल्बसूत्र - इन ग्रन्थों में यज्ञवेदि एवं मण्डपों की निर्माण-विधि तथा उनके परिमापों का प्रतिपादन किया गया है। शुल्ब=रस्सी अथवा मापन शब्द से ही इन ग्रन्थों के माप-सूत्र होने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। इनमें प्राचीन भारतीय ज्यामिति विद्या के दर्शन प्राप्त होते हैं, जो विश्व की प्रथमोपलब्धि है।

श्रौतसूत्रों में ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य यज्ञों का सूत्र शैली में विधान एवं उनके क्रमों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त श्रौत सूत्रों में कुछ ऐसे भी यागों का वर्णन प्राप्त होता है जो ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि श्रौतसूत्र साहित्य ब्राह्मण ग्रन्थों के सारांश मात्र न होकर इनमें स्वतन्त्र रूप से विभिन्न यागादिक कृत्यों की व्याख्या एवं याज्ञिक-सिद्धान्तों का स्थिरीकरण प्रस्तुत किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के बिखरे, रहस्यमय तथा जटिल और असंबद्ध वर्णनों का क्रमबद्ध, सुस्पष्ट तथा संक्षिप्त रूप भी इन ग्रन्थों में प्रदर्शित किया गया है।[३९] इससे कहा जा सकता है कि श्रौतसूत्रों में ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य यज्ञानुष्ठानों का विकास एवं परिमार्जन किया गया है। श्रौतसाहित्य में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का भी संकेत प्राप्त होता है। अतः भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के सम्यक् अवलोकन हेतु इनका अध्ययन अपेक्षित है। श्रौतसूत्रों की गणना ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति श्रुति-साहित्य के अन्तर्गत नहीं की जाती,

---

३७. वही, पृ० २१०-२१६
३८. वही, पृ० २१७-२२२
३९. द्र० मैक्स म्यूल्लेर, ए हिस्ट्री आफ संशिएण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० १५९-६०

क्योंकि इनके लेखकों के नामों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि आजकल श्रौत यागों का व्यावहारिक रूप कम दिखायी पड़ता है, तथापि प्राचीन काल में इनका प्रचलन बहुत अधिक था और तत्काल इनका सम्पादन सफलीभूत भी होता था, किन्तु समय-परिवर्तन के साथ ही साथ श्रौतपरम्परा विलुप्त होती गयी और सम्प्रति यत्र-यत्र ही श्रौतयागों का अनुष्ठान देखने को प्राप्त होता है। श्रौतसूत्रों का अनुशीलन करके ही तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं, धारणाओं एवं तद्गत रूढ़ियों को समझा जा सकता है। अतः यज्ञानुष्ठान एवं कर्मकाण्डीय विधियों का सूक्ष्मतम एवं विस्तृत विवरण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन्हीं श्रौतसूत्रों में उपन्यस्त किया गया है। एतदर्थ श्रौतसूत्रों का अध्ययन अपरिहार्य है।

श्रौतसूत्रों का विस्तार

प्रायः किसी भी यज्ञ के सम्पादन हेतु होता, अध्यर्वु, उद्गाता एवं ब्रह्मा नामक चार प्रधान ऋत्विज्ञों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक ऋत्विज् वेद का विशिष्ट ज्ञाता होने के कारण अपने-अपने वेद से संबद्ध कर्मों का ही सम्पादन करता था। यथा-ऋग्वेद से संबद्ध होता, यजुर्वेद से संबद्ध अध्वर्यु एवं सामवेद से संबद्ध उद्गाता तथा अथर्ववेद से संबद्ध ब्रह्मा नामक ऋत्विज् को कार्य सम्पादन करना पड़ता था। इनके कार्यों के निर्देश के लिए प्रत्येक वेद एवं उसकी शाखाओं से अनुबद्ध होकर पृथक्-पृथक् श्रौतसूत्रों की रचना हुई है। सम्प्रति उपलब्ध श्रौतसूत्रों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

(१) ऋग्वेदीय श्रौतसूत्र - (१) आश्वलायन श्रौतसूत्र।
(२) शाङ्खायन श्रौतसूत्र।
(३) कौषीतकि गृह्यसूत्र

(२) यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र -
(क) शुक्लयजुर्वेदीय (४) कात्यायनश्रौतसूत्र।
(ख) कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा के श्रौतसूत्र
(५) आपस्तम्बश्रौतसूत्र
(६) हिरण्यकेशिन् अथवा सत्याषाढ श्रौतसूत्र
(७) बौधायनश्रौतसूत्र

(८) भारद्वाज श्रौतसूत्र
(९) बाधूल श्रौतसूत्र
(१०) वैखानस श्रौतसूत्र

(ख) मैत्रायणी शाखा के श्रौतसूत्र

(११) मानव श्रौतसूत्र
(१२) बाराह श्रौतसूत्र

(ग) काठक शाखा के श्रौतसूत्र

(१३) काठक श्रौतसूत्र

(३) सामवेदीय श्रौतसूत्र

(१४) लाट्यायनश्रौतसूत्र
(१५) जैमिनि श्रौतसूत्र
(१६) द्राह्यायण श्रौतसूत्र

(४) अथर्ववेदीय श्रौतसूत्र -

(१७) वैतान श्रौतसूत्र[४०]

समग्र श्रौत साहित्य में कर्मकाण्ड प्रधान आर्य संस्कृति के अङ्गभूत यज्ञों का विस्तृत किन्तु सारगर्भित सूत्रशैली में विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इसका एकमात्र कारण तत्कालीन हिन्दू जाति का कर्मकाण्डों के प्रति दृढ विश्वास एवं वैदिक धर्म विरोधी बौद्धधर्म का तीव्र गति से हो रहा प्रचार भी था। अतः श्रुतियों में वर्णित यज्ञों का क्रमबद्ध एवं सुबोध रूप इन्हीं श्रौतसूत्रों में संकलित किया गया है।[४१]

स्पष्ट है कि यागविधानों के नियमों को संक्षेप तथा व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने के साथ ही उनका ऋत्विजों के व्यावहारिक उपयोग के लिए ही प्रत्येक वेद की शाखाओं एवं प्रतिशाखाओं में कल्पसूत्रों की रचना की गयी। ज्ञातव्य है कि प्रत्येक श्रौतसूत्र स्वसम्बद्ध वेद एवं तत्सम्बद्ध ऋत्विजों के कार्यों को ही मुख्य रूप से प्रतिपादित करते हैं।

---

४०. ए०ए० मैकडानल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, अध्याय ९, पृ० २०६-८। मैक्स म्यूल्लेर, ए हिस्ट्री आफ एंशिएण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० १७७ सं० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ० २९०-३०७

४१. मैक्स म्यूल्लेर, ए हिस्ट्री आफ ऐशिएण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० १५९-१६०

उदाहरणार्थ वाराहश्रौतसूत्र यजुर्वेदीय होने के कारण अध्वर्यु के कार्यों का प्रधान रूप से प्रतिपादन करता है। यह भी अवधेय है कि श्रौतसूत्रों का मुख्य विषय वेदविहित यज्ञों का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत करना है। इन यज्ञों के अन्तर्गत समस्त प्रकृति एवं विकृति यागों का यथा-दर्शपूर्णमास, अग्न्याधान, पुनराधान, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रायणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सोमयाग, सत्र, गवामयन, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, एकाह तथा अहीन आदि यज्ञों का वर्णन किया गया है। इन समस्त यागों का विधान श्रौत अग्नियों में किया जाता है। एतदर्थ अग्निस्थापना हेतु अग्निचयन नामक अनुष्ठान का भी विधिवत् विधान उपन्यस्त किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रौतसूत्रों का विषयक्षेत्र अति व्यापक होने के साथ ही साथ साधारण जनों की अभिरुचि से परे भी है। इन श्रौतसूत्रों में श्रौताग्नियों (आहवनीय अग्नि, गार्हपत्य अग्नि एवं दक्षिणाग्नि) में सम्पादित होने वाले सात हविर्यज्ञ एवं सात सोमयज्ञ संस्थाओं के कर्मों का सविस्तार वर्णन किया गया है।[४२]

वाराह श्रौतसूत्र[४३]

चरणव्यूह के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद की चारों शाखाओं में मैत्रायणीय शाखा का विशिष्ट स्थान है। इस शाखा की ६ उपशाखाओं में दो सहयोगी ग्रन्थ मानव एवं वाराह नाम से प्राप्त होते हैं।[४४] इनमें बाराह उपशाखा के आजकल श्रौत, गृह्य एवं शुल्ब सूत्र इन तीनों प्रकार के सूत्रग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। बाराह श्रौतसूत्र कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से संबद्ध है। इनका प्रथमतः सम्पादन डॉ० कैलेण्ड एवं डॉ० रघुवीर ने किया तथा इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९३३ ई० में लाहौर से किया गया था। सम्पूर्ण श्रौतसूत्र प्राक्सौमिक, अग्निचयन एवं वाजपेयादिक- इन तीन अनुभागों में विभक्त है। तीनों अनुभागों का अवान्तर-विभाजन अध्यायों में तथा अध्यायों का उपविभाजन खण्डों में किया गया है, इन

---

४२. ए०ए० मैक्डानेल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २०९

४३. ए क्रिटिकल ऐण्ड एक्सक्विटिकल स्टडी आफ द रिचुआलिस्टिक सूत्राज़ - वाराहश्रौतसूत्र, १-१-४५ विमर्श .(१) १९७२, पृ० ८५-८८

४४. चरणव्यूह, यजुर्वेद खण्डः, पृ० ३१-तत्र मैत्रायणीया नाम षड् भेदा भवन्ति मानववाराह--- श्यामायनीयश्चैति।

खण्डों के अन्तर्गत विभिन्न संख्या में सूत्रों को उपनिबद्ध किया गया है, जिनका विवरण इस प्रकार है -

प्रथम भाग - प्राक्सौमिक

अध्याय १ - परिभाषा, यजमान एवं ब्रह्मत्व
अध्याय २-३ - दर्शपूर्णमास
अध्याय ४ - अग्न्याधान
अध्याय ५ - पुनराधान, तृतीयाधान, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान एवं आग्रायण-इष्टि
अध्याय ६ - पशुबन्ध
अध्याय ७ - चातुर्मास्य

द्वितीय भाग - अग्निचयनम्

अध्याय १-२ - अग्निचयन

तृतीय भाग - वाजपेयादिकम्

अध्याय १ - वाजपेय
अध्याय २ - द्वादशाह, गवामयन, महाव्रत, सौत्रामणी आदि।
अध्याय ३ - राजसूय
अध्याय ४ - अश्वमेध

वाराह उपशाखा के अन्य ग्रन्थ

ज्ञातव्य है कि वाराह श्रौतसूत्र की एक प्राचीन पाण्डुलिपि भी उपलब्ध हुई है, जिसके अन्तर्गत 'वाराहपरिशिष्ट' नामक परिशेष भाग भी सम्मिलित है।[४५] इस शाखा के श्रौतसूत्र के अतिरिक्त गृह्यसूत्र भी प्रकाशित रूप में प्राप्त है। इसका प्रकाशन डा० शामशास्त्री ने मायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा से १९२० ई० में किया है। इस गृह्यसूत्र में मैत्रायणी संहिता के मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। इसमें समस्त

---

४५. डा० सी०जी० काशिकर, ए रेअर मैन्युस्क्रिप्ट आफ वाराह स्कूल, गोपीनाथकविराज अभिनन्दन ग्रन्थ लखनऊ, १९६७, पृ० १४-१६। रोलैण्ड, पीयेरे अन फ्रान्मुत -- वेदिके, ला प्रीनुर खण्ड डु वाराह परिशिष्ट, भूतोत्पत्ति, मैन्युस्क्रिप्ट, ३०, मूल एवं अनुवाद, टिप्पणी) जे ए १९७२, १२९-३८। पेरिस। तथा वही, जे ए १९६९, २५१, २६५, २७२, मूल एवं फ्रेंच अनुवाद।

पाकयज्ञों के अतिरिक्त जातकर्म, नामकरण, दन्तोद्गमन और पुत्र अभिमन्त्रण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, उपाकरण, उत्सर्जन, समावर्तन, कन्यावरण, मधुपर्क, प्रवदनकर्म, रथारोहण, गृहप्रवेश, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन और वैश्वदेव कर्म आदि समस्त संस्कारों का विधान उपन्यस्त किया गया है। इसके अधिकतम सूत्रों को मानवगृह्यसूत्र एवं काठकगृह्यसूत्रों के समान ही प्रयुक्त किया गया है। डॉ० रामगोपाल के विचार में वाराहगृह्यसूत्र में गृह्योपयोगी विशेष वस्तुओं के विवेचन का अभाव है, अतएव यह उतना महत्त्वपूर्ण गृह्यसूत्र नहीं है, जितना काठक एवं मानव गृह्यसूत्र आदि हैं।[४६]

श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र के अतिरिक्त गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल लाइब्रेरी मैसूर में सुरक्षित वाराहशुल्बसूत्र की एक पाण्डुलिपि भी प्राप्त हुई है, जो अभी तक अप्रकाशित है। यह शुल्बसूत्र मानव एवं मैत्रायणी शुल्बसूत्र के समान ही है।[४७] इसी प्रकार श्रौत, गृह्य एवं शुल्ब सूत्रों की रचना से यह सिद्ध होता है; कि इस उपशाखा का धर्मसूत्र भी अवश्य रहा होगा, जो कालान्तर में विनष्ट हो गया है अथवा पाण्डुलिपि अन्वेषकों से अभी तक अछूता रहा है, क्योंकि इस शाखा का प्रचलन प्राचीन काल में विशेष रूप में था। इसके लिए अद्यतन प्रमाण के रूप में महाराष्ट्र प्रान्त के धूलिया के समीप निवास करने वाले ब्राह्मण कुटुम्बों को उद्धृत किया जा सकता है, जो आज भी वाराहशाखाध्यायी हैं।[४८] ज्ञातव्य है कि उक्त सभी ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य वराह ही हैं।

सूत्रकार आचार्य वराह का परिचय

प्राचीन भारतीय धर्म; संस्कृति एवं साहित्य के प्रणेताओं की यह अभिमान्य धारणा रही है कि ''कीर्तिर्यस्य स जीवति'' अर्थात- कीर्ति-धारी व्यक्ति मृत्यु के अनन्तर भी जीवित रहता है। इसी मान्यता एवं परम्परा के अनुसार हमारे प्राचीन मनीषियों ने जिस किभी भी क्षेत्र में अपना

---

४६. डा० रामगोपाल, इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज, पृ० ३१

४७. यह पाण्डुलिपि मैसूर की ओरएिण्टल लाइब्रेरी में उपलब्ध है, जैसा कि एस०डी० खाण्डिलकर द्वारा सम्पादित तथा वैदिक संशोधन मण्डल पूना द्वारा १९७४ में प्रकाशित कात्यायन शुल्बसूत्र में निर्दिष्ट है, पृ० ३-४।

४८. द्र० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ० ३०३

बहुमूल्य योगदान किया उसमें अपने नाम, धाम, वंश आदि का परिचयात्मक संकेतमात्र तक का उल्लेख नहीं होने दिया है, क्योंकि उनकी यह धारणा बलवती थी; कि यश तो अमर परिचायक प्रमाण रहेगा। संभवतः अपना परिचय आदि देना भी उन्हें तुच्छ कार्य लगता था। इसी कारण आज कल हम अपने कितने महापुरुषों के जीवनचरित के संज्ञान से वञ्चित हैं, जबकि उनकी कृतियों के माध्यम से हम अहर्निश उपकृत होते रहे हैं। इसी परम्परा के अग्रेषक आचार्य वराह भी थे। इनके माता-पिता एवं जन्म-स्थान आदि के विषय में कुछ भी संकेत हमें अब तक प्राप्त नहीं हो पा रहे हैं, किन्तु साहित्य समाज का दर्पण होने के कारण आचार्य वराह का कर्मक्षेत्र एवं उनकी कृतियों का परिचय अनेक विध आलोडनों से हमें प्राप्त हो जाता है। ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। कृष्ण यजुर्वेद की मंत्रायणी शाखा की एक उपशाखा के प्रवर्तक थे, जो आगे चलकर इन्हीं के नाम से विख्यात वाराही शाखा हुई। आचार्य वराह तत्कालीन पण्डितों के विराट् सम्मेलनों में भाग लेते थे और उस समय की राजसभाओं में उन्हें उच्च स्थान एवं सम्मान प्राप्त था। इसके प्रमाणस्वरूप हमें महाभारत के 'सभापर्व' में वर्णित धर्मराज युधिष्ठिर की सभा में भाग लेने वाले महातपस्वी वेदवेदाङ्गों में निष्णात तथा सम्मानित पण्डितों की परिगणना क्रम में आये हुए वराह नाम को विस्मृत नहीं करना चाहिए।

यथा -

काक्षीवानौशिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः।
पैङ्ग्यो वराहः शुनकाश्चैव शाण्डिल्यश्च महातपाः।।[४९]

इससे सिद्ध होता है; कि आचार्य वराह तत्कालीन समाज, धर्म एवं राजनीति के रक्षक एवं परिष्कारक रहे। आपने दक्षिण भारत के विशेषतः महाराष्ट्र एवं गुजरात आदि भूभाग को अपना क्षेत्र बनाया था। आज भी वाराही शाखा के अनुयायी ब्राह्मणों की स्थिति महाराष्ट्र के धूलिया आदि स्थानों के आस पास विद्यमान है। इस तथ्य की पुष्टि हमें चरणव्यूह की टीका में उद्धृत निम्नलिखित श्लोक से भी मिलती है -

---

४९. महाभारत, समापर्व ४/१७

मयूरपर्वताच्चैव यावद् गुर्जर देशतः।
व्याप्ता वायव्यदेशस्तु मैत्रायणी प्रतिष्ठिता।।[५०]

अर्थात् मयूर पर्वत[५१] से प्रारम्भ कर गुजरात-प्रदेश तक विस्तृत भूखण्ड ही मैत्रायणी-शाखा का प्रतिष्ठान था। अतः स्पष्ट है कि आचार्य वराह मैत्रायणी शाखा की उपशाखा (वाराही) के प्रवर्तक होने से इसी क्षेत्र और विशेषतः धूलिया आदि क्षेत्र के सन्निकट के निवासी थे। अपने क्षेत्र में श्रौत यज्ञों के विधि-विधानों एवं उनकी क्रमबद्धता तथा संक्षिप्तता के प्रतिपादन में आचार्य वराह ने स्वनामधेय वाराह श्रौतसूत्र की रचना की है। इस श्रौतसूत्र में प्रधान रूप से उन्होंने मैत्रायणीय संहिता के मन्त्रों को ही उद्धृत किया है, किन्तु यत्र-तत्र अन्य कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं के मन्त्रों के प्रयोग के अतिरिक्त अन्य वेदों एवं उनकी शाखाओं के मन्त्रों का भी प्रयोग अनेक यागानुष्ठानों के सन्दर्भ में किया है। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं तैत्तिरीयरण्यक से भी मन्त्रों को यथावसर ग्रहण किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य वराह ने तत्कालीन धार्मिक अनुष्ठानों के सहायक ग्रन्थों के रूप में श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, शुल्बसूत्र की रचना की है, जो आज भी उपलब्ध हैं। इन तीनों सूत्रों की उपलब्धि होने से ही इनके द्वारा प्रणीत धर्मसूत्र के भी होने का अनुमान किया जा सकता है; किन्तु उसकी उपलब्धता अभी तक नहीं हो सकी है।

वाराह श्रौतसूत्र का काल

मैत्रायणी शाखा से संबद्ध वाराह श्रौतसूत्र के निश्चित रचनाकाल के लिए पुष्कल प्रमाणों का अभाव है। वाराहश्रौतसूत्र के रचनाकाल के संबन्ध में ठीक वही स्थिति है, जो कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता के रचनाकाल के विषय में दिखायी देती है।[५२] अद्यावधि श्रौतसूत्रकारों की तिथि के निर्धारण के सम्बन्ध में सबल प्रमाणों का अभाव बना हुआ है।

---

५०. चरणव्यूह, पृ० ३४

५१. आधुनिक महाराष्ट्र प्रान्त के नासिक जिले का मुल्लेर नामक स्थान।

५२. मै० सं०, भूमिका, पृ० ११ 'कालनिर्णयानुग्राहकं तादृशं सुदृढ़मन्तर्गतप्रमाणं तु मैत्रायणी-संहितायां नोपलभ्यते।'

सम्पूर्ण वैदिक काल को हम संहिताओं से प्रारम्भ कर षडङ्ग पर्यन्त पूर्व वैदिक एवं उत्तर वैदिक नामक दो विभागों में विभक्त पाते हैं। पूर्व वैदिक काल में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों की गणना की जाती है और उत्तर वैदिक काल की रचना के अन्तर्गत वेदाङ्ग साहित्य का परिगणन किया जाता है। इन्हीं वेदाङ्गों के द्वारा सम्पूर्ण पूर्व वैदिक काल के साहित्य का भी तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।[५३] वेदाङ्ग साहित्य का आविर्भाव वेदार्थज्ञान की उपकारिता एवं संरक्षण के निमित्त हुआ है।[५४] वेदाङ्गों के सृजन से ही उत्तर वैदिक काल को जन्म मिला है। इन षडङ्गों के अन्तर्गत कल्प सूत्रों को ही सर्वाधिक प्राचीन एवं वेदों के अत्यन्त सन्निकट होने का भी श्रेय प्रदान किया जाता है और इन्हें वेद वाङ्मय के अभिन्न अङ्ग रूप में भी स्वीकारा गया है।[५५] इस मन्तव्य के अनुसार वेदाङ्गों को वैदिक साहित्य के समय निर्मित हुआ माना जाता है। प्रो० मैक्स मूलर ने इस मत के विपक्ष में अपना विचार रखते हुए उक्त मान्यता को आधारहीन एवं असमीचीन ठहराया है। उनके विचार में वेदाङ्ग साहित्य पुरुषकृत है और वेद वाङ्मय अपौरुषेय है तथा वेदाङ्गों का सृजन वेदों की रक्षा एवं उनके अर्थावबोध के लिए हुआ है।[५६] अतः यह कहा जा सकता है; कि वेदाङ्गों के अन्तर्गत कल्पसूत्रों की रचना अन्य अङ्गों की अपेक्षा प्राचीनतम एवं वेद वाङ्मय के अत्यन्त सन्निकट है।

ज्ञातव्य है कि वाराहगृह्यसूत्र की भूमिका में डा० शामशास्त्री ने विविध तर्कों के आधार पर वाराहश्रौत एवं गृह्यसूत्र को जैमिनि, पतञ्जलि एवं वादरायण के पश्चात् की रचना होने का निष्कर्ष निकाला है।[५७] इसके विपरीत डा० रामगोपाल ने सम्पूर्ण कल्पसूत्रों को उनके रचनाकाल

---

५३. हिलेब्राण्ट, रिचुअल लिटरेचर, व्यूह्लेर द्वारा प्रणीत, इन्साइक्लोपीडिया, १८९७ तथा ए०ए० मैक्डानल, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, भाग-२, पृ० २९-३२

५४. द्र० महाभाष्य, १/१/१ रक्षार्थं वेदानाम् -- वेदान् परिपालयिष्यति।

५५. कुमारिल, तन्त्रवार्तिकख १/३

५६. द्र० मैक्स म्यूल्लेर, ए हिस्ट्री आफ ऐंशिएण्ट संस्कृत लिटरेचर, डा० एस०एन० शास्त्री द्वारा सम्पादित, अध्याय १, पृ० ६८

५७. डा० शामशास्त्री, इण्ट्रोडक्शन टू द वाराह गृह्यसूत्र, पृ० १

के सम्बन्ध में निर्णय करते हुए चार श्रेणियों में विभक्त किया है, जिनके अन्तर्गत विहित प्रथम श्रेणी के कल्पसूत्रों को पाणिनि के पूर्ववर्ती तथा द्वितीय श्रेणी के सूत्रों को पाणिनि के समकालीन एवं अन्य श्रेणियों के सूत्रों को पाणिनि के बाद की रचना होने का मत प्रस्तुत किया है। इस विभाजन क्रम में वाराह श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र को चतुर्थ श्रेणी में गिनाया गया है। चतुर्थ श्रेणी के सूत्रों को सूत्रकाल की अन्तिम रचना स्वीकारते हैं और इन सूत्रों को ईसा की शताब्दी के अनन्तर की रचना बताते हैं।[५८] इसके अतिरिक्त वाराह श्रौत एवं गृह्यसूत्र के काल-ज्ञान में इसके अन्तःसाक्ष्य का भी योगदान है। अवधेय है कि वाराह गृह्यसूत्र के अन्तर्गत ब्रह्मचारियों के अध्ययन हेतु 'स्मृति' नामक एक विषय के अध्ययन की अनिवार्यता प्रदर्शित की गयी है।[५९] 'स्मृति' शब्द के प्रयोग करने से यह ज्ञात होता है कि सूत्रकार को स्मृतियों का पूर्ण ज्ञान था और उस समय स्मृतियों की रचना हो चुकी थी। अतः आचार्य वराह को स्मृतिकाल के समकालीन अथवा तदनन्तर स्वीकारा जा सकता है। इसी प्रकार उक्त ग्रन्थ में सावित्री मन्त्र के प्रयोग के सम्बन्ध में विभिन्न जातियों के ब्रह्मचारियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कमण्डलुओं के प्रयोग का विधान किया गया है।[६०] यह 'कमण्डलु' शब्द वाराहगृह्यसूत्र के पूर्ववर्ती किसी भी गृह्यसूत्र अथवा श्रौतसूत्र में प्रयुक्त नहीं किया गया है, जो परवर्ती साहित्य में ही उपलब्ध होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है; कि वाराहगृह्यसूत्र निःसन्देह सूत्रकाल के अन्तिम चरण का अकेला गृह्यसूत्र है। अतएव आचार्य वराह को कम से कम स्मृति काल[६१] अथवा तत्पश्चात् का स्वीकारा जा सकता है। स्मृतिकाल का निर्धारण करते हुए डा० विण्टरनित्स ने ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसा के अनन्तर की द्वितीय शताब्दी के मध्य का समय स्वीकार किया

---

५८. डा० रामगोपाल, इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ८४-८६

५९. वही, पृ० ८५

६०. वाराहगृह्यसूत्र, ५/२८ ऊर्ध्व कपालो ब्राह्मणस्य कमण्डलुः,
परिमण्डलः क्षत्रियस्य, निचल्कलो वैश्यस्य।

६१. डा० रामगोपाल, इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज, पृ० ७९
There is no doubt that the Varaha Grhya Sutra is one of the latest Grhyasutras.

है।[६२] लगभग इसी मत की पुष्टि डा० रामगोपाल भी करते हैं।[६३]

अत: उपरितन विवेचनों के आधार पर निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि आचार्य वराह द्वारा प्रणीत वाराह श्रौत, गृह्य एवं शुल्ब सूत्र का काल नि:सन्देह रुप में ईशा की प्रथम शताब्दी है।

वाराहश्रौतसूत्र की भाषा एवं शैली

वाराहश्रौतसूत्र ऐसे समय की रचना है; जब संस्कृत भाषा जन साधारण की बोलचाल की भाषा नहीं रह गयी थी, अपितु विज्ञजनों की ही भाषा बनकर रह गयी थी। इस समय तक वैदिक एवं लौकिक भाषा के पार्थक्य को नियमबद्ध करने का श्रेय भी महर्षि पाणिनि को प्राप्त हो चुका था। यद्यपि इस श्रौतसूत्र की भाषा में वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के पदों का प्रयोग देखने को मिलता है, तथापि लौकिक भाषा के प्रभाव का ही प्राधान्य वाराहश्रौतसूत्र में देखने को मिलता है। इसमें उपसर्गों का प्रयोग कारक एवं क्रिया पदों की सहायता के लिए ही किया गया है और उनकी अपनी कोई भी वैसी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, जैसी ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा में दिखायी देती है। इतना ही नहीं, इन उपसर्गों का प्रयोग भी वैदिक भाषा के प्रयोगों के अनुसार क्रिया पदों के बाद में नहीं किया गया है, अपितु उनके पहले ही किया गया है। यथा -

उपकर्षयत्यु त्तरार्धम्।
इति परिधीनभिहुत्य सुचौ विमुञ्चति।
न विमुक्ते ---- प्रत्यासादयति।
इति उपांशु तृणमनुप्रहरति।
इति त्रिरङ्गुल्यानुदिशति। ---- संमृशति।
आलभेत ---।[६४]

इस प्रकार के प्रयोग लौकिक संस्कृत के ही प्रयोग हैं, जो रोचक होने के साथ ही साथ सहज एवं प्राञ्जल हैं। इस श्रौतसूत्र में अव्ययों का

---

६२. विण्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग ३, पृ० ४६९
६३. डा० रामगोपाल, इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ८४-८५
६४. वाराहश्रौतसूत्र, १/३/६/२०, २१, २४, १३, १४, १६

प्रयोग परसर्गों के कार्य के लिए किया गया है, यथा - पुरस्तात्, पुरः ऊर्ध्वम्, उपरिष्टात् आदि अव्यय परसर्ग के रूप में ही प्रयुक्त हैं। ज्ञातव्य है कि परसर्ग के रूप में प्रयुक्त अव्ययों का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा का ही प्रभाव है, जिससे आचार्य वराह अप्रभावित न रह सके। इसके अतिरिक्त धातुओं के प्रयोग से भी इस श्रौतसूत्र की भाषा लौकिकता के सन्निकट होते हुए छान्दस् एवं पाणिनीय प्रयोगों पर आधारित दिखायी देती है। इस श्रौतसूत्र में सर्वत्र तृतीया में ही 'हु' धातु के कर्म का प्रयोग है, जो पाणिनि के नियम का ही अनुसरण करता है।[६५] उदाहरणार्थ

'पयसा जुहुयात्पशुकामस्य यवाग्वा।'
'षड्होत्रा मनसा जुहोति।'[६६]

आदि में 'हु' धातु के कर्म का तृतीया में प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त हमें इस श्रौतसूत्र में प्रयुक्त 'यज्' धातु के करण का प्रयोग भी तृतीया एवं षष्ठी दोनों विभक्तियों में प्राप्त होता है। यथा -

'पृषदाज्येन -- यजति।
व्रीहीणामग्रपाकस्य यजते यवानां च।[६७]

उपर्युक्त प्रयोग भी पाणिनीय नियमों पर ही आधृत[६८] हैं।

वाराहश्रौतसूत्र में पूर्वकालिक क्रिया के द्योतनार्थ 'त्वा' का प्रयोग बहुशः किया गया है, जो कि सार्थक एवं स्वाभाविक है। यथा-गत्वा, भूत्वा, दृष्ट्वा, स्पृष्ट्वा इत्यादि। क्रियार्थक क्रियाओं के बोधन हेतु भी इसमें 'तुम्' प्रत्यय का प्रयोग द्वितीयान्त पदों में प्रचुर मात्रा में किया गया है। यह प्रयोग लौकिक भाषा की अपनी प्रधान विशेषता है। उदाहरणार्थ, दातुम्, गन्तुम् आदि। इन विशेषताओं के अतिरिक्त आचार्य वराह ने स्वरों का प्रयोग करते समय अवग्रह (ऽ) का बहुशः, किन्तु समुचित प्रयोग किया है। सम्पूर्ण श्रौतसूत्र में अनुनासिक चिह्न का भी यथास्थान प्रयोग द्रष्टव्य है। यजुर्वेद की सभी शाखाओं का अनुसरण करते हुए सूत्रकार

---

६५. पाणिनि, अष्टाध्यायी, २/३/३ 'तृतीया च होश्छन्दसि।'
६६. वारा श्रौ १/५/३/१, १/६/१/२
६७. वारा श्रौ १/६/७/१३, एवं १/५/५
६८. पाणिनि, अष्टाध्यायी २/३/६३ 'यजेश्च करणे।'

ने अपने सूत्रों में उच्चारणात्मक प्रयोगों के लिए अनुस्वारों के स्थान को सुरक्षित रखते हुए चन्द्रबिन्दु ँ का अनेकशः प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ,

इति स्नातँ यूपं तीर्थेनोपसमासाद्य तूष्णीकाँ
संस्कृत्य।[६९]
शामित्रँ चात्वालं पशुमाहवनीयँ --- ।[७०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाराहश्रौतसूत्र की भाषा व्याकरण के नियमों से पूर्णतया निबद्ध एवं वैदिक भाषा से प्रभावित होती हुई भी स्पष्ट, सरल एवं परिष्कृत है, जिससे याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्पादन के समय समुचित रूपों में सहायता मिलती है। भाषा का प्रयोग सूत्र-साहित्य की अनुकूलता में ही किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के बहुबृहद् पद विन्यासों से पूर्णतया मुक्त है। इससे यागविधानों को प्रस्तुत होने में कथमपि वाधा नहीं आने पायी है।

वाराहश्रौतसूत्र की शैली

सूत्र साहित्य की संरचना मात्र होने से ही नहीं, अपितु आचार्य वराह की नव-लेखन विधा के परिणामस्वरूप. वाराहश्रौतसूत्र की शैली की प्रधान विशेषता उसकी सूत्रात्मकता है। वस्तुतः सामान्य अर्थों में 'सूत्र' शब्द से हमारा तात्पर्य एक ऐसी लेखन-विधा से है, जिसमें किसी विषय के सूक्ष्म विवेचन के स्थान पर उस विषय का सारगर्भित अल्पाक्षरों में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है। अतः सूत्रात्मक शैली लेखन शैली का वह प्रकार है, जिसके वर्ण्यविषय असन्देहात्मक व्यापकता को पूर्णक्षमता से युक्त होते हुए संक्षिप्त तथा महत्त्वपूर्ण हों।[७१]

---

६९. वाराहश्रौतसूत्र, १/६/३/१

७०. वही, १/६/४/२५

७१. द्र० वा०पु० ५९-१४२, ब्र०पु० २/३३/५८
तथा का०मी०, अध्याय २, 'सूत्रणात् सूत्रम्' एवं
अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।
द्र० युक्षदीपिका, पृ० ३ लघूनि सूत्रितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः।।

वाराह श्रौतसूत्र के अन्तर्गत सूत्रात्मक शैली की विशेषताएँ विद्यमान हैं, जो अग्रलिखित हैं –

१. वाराहश्रौतसूत्र के सूत्रों में मन्त्रों का निर्देश पहले एवं विनियोजक वाक्य अन्त में दिये गये हैं, जो उत्तम सूत्रकारों की सूत्रप्रणाली का उदाहरण है। इसके साथ ही इसके मन्त्रों का प्रयोग किये जा रहे आनुष्ठानिक कर्मों का भी कथन करते हैं, यथा –

'अग्नेर्वोऽप न्नगृहस्य सदसि सादयामि इति
हविर्धानं च करतम्भदेशे स्रुचौ सादयति।[७२]
पूषा ते ग्रन्थिं ग्रथ्नात्विति ग्रन्थिं करोति।'[७३]
इन्द्रस्य त्वा बाहुभ्यामुद्यच्छ इति उद्यच्छति।[७४]

२. सूत्रों में अनावश्यक पदों, यथा 'इति इतरेषाम्' 'एके समामनन्ति' आदि का प्रयोग नहीं किया गया है। प्राय: एक सूत्र में एक ही वाक्य हैं और उन वाक्यों को भी एक पद से लेकर दो, तीन, चार आदि पदों के ही द्वारा निर्मित किया गया है, उदाहरणार्थ –

एकपदात्मक सूत्र –

समानेडा। (१/७/५/३४)
पृथमात्तमन्तरा। (१/७/२/८)
अनुसंमृशति। (१/५/२/१३)

द्विपदात्मक सूत्र –

अहीने दीक्षितः। (३/२/२/८)
समान:सम्प्रैषः। (३/२/७/७३)
तृतीय: आप्रीः। (३/२/८/१०)
अवदानेषु सप्तमः। (३/२/८/१३)
त्रिरेतेन धर्मेण। (१/७/४/६८)
वपायाः सम्प्रैषः। (१/७/५/२०)

---

७२. द्र० वारा० श्रौ १/३/६/२२
७३. वही, १/२/१/२५
७४. वही, १/२/१/२७

मङ्गलानि लोकतः। (१/१/१/७९)

इसी प्रकार तीन या चार पदों से निर्मित सूत्रों की स्थितियाँ भी अनेक हैं; जिन्हें विस्तारभयात उल्लेख कर पाना सम्भव नहीं है।

३. इसमें बहुशः सारगर्भित सूत्र ही प्रयुक्त किये गये हैं। ये सूत्र संक्षिप्त हैं, किन्तु संक्षिप्तता के साथ ही उनमें गूढार्थता का पूर्ण अभाव है। सूत्र सरल एवं बोधगम्य हैं। इनकी अर्थगम्भीरता की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यथा -

न रिक्तमवेक्षते। (२/१/४/२०)
दासी पिनष्टि पत्नी वा। (१/२/४/६९)
स एव पत्नी। (३/२/१/१६)
यावज्जीवमग्निहोत्रम्। (१/१/१/८६)

आलोच्य श्रौतसूत्र के सूत्रों में विस्तार भी है, किन्तु उनके पदों का अर्थगौरव सूत्र की स्पष्टता में निखार लाता है तथा दीर्घ होने पर भी सूत्र अपने अर्थ एवं स्वरूप का स्पष्टीकरण सरलता से करते जाते हैं। उदाहरणार्थ–

शमी शाखां पलाशशाखां वा बहुपलाशामप्रतिशुष्काग्रां प्राचीमुदीचीं वाहानाम्।[७५]
नानृतं वदेन्न मांसपश्नीयान्नस्त्रियमुपेयान्नास्यवासः पल्पूलनेनपल्पूलयेयुर्नं अस्याग्निं गृहाद्धरेयुर्नप्रयायात् नानुगच्छेत्।[७६]

४. इस श्रौतसूत्र में ऐसे वर्णनात्मक सूत्रों का प्रयोग नहीं किया गया है, जिनसे यागानुष्ठान के प्रयोग विधि का विवरण किसी आख्यान संवाद अथवा ऊहापोह आदि के द्वारा प्रस्तुत किया गया हो।

५. यद्यपि ताराहश्रौतसूत्र में मन्त्रों का सकलपाठेन प्रयोग किये जाने से सूत्रों का आकार बढ़ गया है; तथापि इनके आकार की विस्तीर्णता से अर्थबोधकता में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आने पायी

---

७५. वाराहश्रौतसूत्र, १/२/१/२
७६. वही, १/४/१/१२

हैं, जिसे हम पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके हैं।

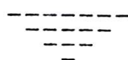
६. इस श्रौतसूत्र में कुछ ऐसे भी सूत्र प्राप्त होते हैं; जिनका प्रयोग सम्पूर्ण श्रौतसूत्र में दशाधिक बार हुआ है; किन्तु विषय विवेचन में संक्षिप्तता लाने के लिए ही इन सूत्रों का प्रयोग हुआ है। यथा -

'त्रियर्जुषा तूष्णीं चतुर्थम्।[७७]

७. इसमें द्वैधसूत्रों का भी प्रयोग किया गया है, जिससे यागों के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों का मत भी जाना जा सकता है। यथा -

और्वो गौतमो भारद्वाज इति महेन्द्रं यजेरन्गतश्रियश्च।[७८]

उपर्युक्त समस्त विशेषताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि वाराहश्रौतसूत्र की शैली सूत्रात्मक शैली है, जिसके सूत्र याज्ञिक कर्मकाण्डों के समुचित अर्थावबोधन के साथ ही यज्ञ प्रक्रिया का सम्यक् प्रतिपादन करते हैं, जो जनसाधारण की समझ में भी सुगमता से आता है। अस्तु, भाषा एवं शैली के उत्तम प्रयोग के कारण वाराहश्रौतसूत्र समस्त श्रौतसूत्रों में विशिष्ट स्थान का अधिकारी है तथा श्रौतसाहित्य में इसका योगदान अन्यतम एवं महत्त्वपूर्ण है।



---

७७. वही, १/२/४/६५
७८. वाराहश्रौतसूत्र, १/२/२/३९

अध्याय - २

वाराहश्रौतसूत्र में विवेचित प्राक्सौमिक यज्ञ

दर्शपूर्णमासेष्टि

दर्शपूर्णमासेष्टि सभी इष्टियों की प्रकृति[१] एवं सप्तहविर्यज्ञों में सर्वप्रमुख यज्ञ है। 'दर्शपूर्णमासेष्टि' दर्श एवं पूर्णमास इन दो इष्टियों की समष्टि संज्ञा है। 'दर्श' शब्द से उस दिन का बोध होता है; जिस दिन चन्द्रमा को केवल सूर्य ही देख सकता है, और कोई नहीं। अतः अमावस्या के दिन सम्पाद्य इष्टि दर्शेष्टि है। अमावस्या वह तिथि है, जिस दिन सूर्य और चन्द्र में अत्यन्त सन्निकर्ष होता है।[२] शतपथब्राह्मण के अनुसार "चूँकि इस रात्रि को वह (चन्द्रमा) यहाँ साथ रहता है (अमावसति) इसलिए इसका नाम अमावास्या है"।[३]

पूर्णिमा के दिन अनुष्ठेय याग का अभिधान पूर्णमास याग है। यहाँ पर पूर्णमास का तात्पर्य तिथि-गणना के अनुसार महीने की सम्पूर्णता अथवा चन्द्र की पूर्णता से है। अतः पूर्णमासी वह तिथि है; जब चन्द्रमा एवं सूर्य के बीच अत्यन्त विप्रकर्ष हो।[४] इसी प्रकार इष्टि वह कर्म है; जिसका सम्पादन सपत्नीक यजमान चार ऋत्विजों की सहायता से करता है।[५]

---

१. द्र० आप० श्रौ० २४/३/३२, दर्शपूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः।

२. द्र० महादेव कृत वै०व्या०स०श्रौ० १/१/६३, यः परमः सन्निकर्षः साऽमावास्या।

३. द्र० श०ब्रा० १/६/४/५, तद्यदेव एता रात्रिमिहा वसति तस्मादमावास्यानामं।

४. द्र महादेव कृत वै०व्या० वही स०श्रौ १/१/६३, यः परमो विप्रकर्षः सूर्याचन्द्रमसोः सा पौर्णमासी।

५. श्रौ० प०नि०, १/१, इष्टि शब्द ऋत्विक्‌चतुष्टय-सम्पाद्य सपत्नी कयजमानकर्तृकर्मनामधेयम्।

इस प्रकार दर्शपूर्णमासेष्टि वह यज्ञ है, जिसका सम्पादन अमावास्या एवं पूर्णमासी के दिन सपत्नीक यजमान के द्वारा चार ऋत्विजों की सहायता से किया जाता है। सभी प्रकार की कामनाओं की संपूर्णता हेतु दर्शपूर्णमासेष्टि सम्पादित करने का विधान किया गया है।[६] साथ ही साथ इसका सम्पादन अग्न्याधान करने के बाद जीवनपर्यन्त अथवा तीस वर्षों तक करने का भी विधान है।[७]

यदि यजमान अग्न्याधान के अनन्तर दर्शपूर्णमास याग का अनुष्ठान करना चाहता है, तो उसे उपवसथ के दिन सरस्वती के नाम से दो आहुतियाँ देने का विधान है।[८] साथ ही उसे सारस्वत-होम के अनन्तर अन्वारम्भणीयेष्टि का सम्पादन करना चाहिए।[९] इसके अन्तर्गत आग्नावैष्णव एकादश-कपालक पुरोडाश याग, सरस्वतीदेवताक चरु एवं सरस्वती-देवताक द्वादश कपालक पुरोडाश याग का अनुष्ठान करना चाहिए।[१०] साथ ही साथ अग्निभगिनी देवताक अष्टाकपालक पुरोडाश याग का भी अनुष्ठान इसमें विहित है।[११] स्मर्तव्य है कि अन्वारम्भणीयेष्टि का सम्पादन मात्र एक बार ही पर्याप्त है, वारम्वार नहीं।[१२] कतिपय आचार्यों के मतानुसार इन यागों से पूर्व 'जय-संज्ञक' आज्य की आहुतियों का भी विधान किया जाना चाहिए।[१३]

पूर्णमास याग

दर्शपौर्णमासेष्टि के प्रयोग के सम्बन्ध में पूर्णमासेष्टि सम्पादन की

---

६. वारा०श्रौ० १/२/१/१, तु०, स०श्रौ० १/१/५५, आप०श्रौ० ३/१४/९, सर्वकामस्य दर्शपूर्णमासौ।

७. वारा०श्रौ० १/१/१/८४, तु० श०ब्रा ११/१/२/१३, सश्रौ १/१/५७, आपश्रौ ३/१४/११-१३। त्रिंशत्वर्षाणि दर्शपूर्णमासाम्यां यजेत यावज्जीवं वा।

८. द्र०तै०सं०, ३/५/१/१, तु० भाश्रौ० ५/१५/८, सश्रौ० ३/५/३२५।

९. द्र० तै०सं० ३/५/१

१०. द्र० मा०श्रौ० ५/१५/१०, सश्रौ० ३/५/३२६, श्रौ०प०नि०, पृ० ६७, प० ४२४

११. द्र० सश्रौ० ३/५/३२६, एके भगिन समामनन्ति, (यह शाखान्त में विकल्पस्वरूप है।)

१२. द्र० जै०सू०, ९/१/३४, ३५

१३. पुरस्तात् स्विष्टकृत् --- जयां जुहोति।
– द्र० सश्रौ० ३/५/३२६, तै०सं०, ३/४/४, भा०श्रौ० ५/१५/१५

ही प्राथमिकता है।[१४] अत: इसी क्रम का अनुसरण करते हुए हम प्रथमत: पूर्णमास याग का यथाविहित विधान प्रस्तुत कर रहे हैं; तदनन्तर दर्शयाग का।

पूर्णमासेष्टि दो दिनों में सम्पाद्य है। प्रथम दिन पूर्णिमा का उपवसथ दिन कहलाता है और द्वितीय दिन प्रतिपदा (कृष्णपक्षीय) का यजनीय दिन कहलाता है। उपवसथ के दिन प्रारम्भिक अनुष्ठेय कृत्यों का सम्पादन जैसे :- अग्न्युद्धरण, अग्नि-अन्वाधान एवं अग्नि-परिस्तरण आदि किया जाता है।[१५] यजनीय दिन में इध्मबर्हिराहरण तथा वेद-निर्माण से लेकर इष्टि समाप्ति-पर्यन्त समस्त कृत्यों का सम्पादन किया जाता है।[१६] इसके अतिरिक्त विकल्पस्वरूप समस्त कार्यों का सम्पादन एक दिन में भी किया जा सकता है। परन्तुं ध्यातव्य है कि इस स्थिति में अग्निपरिस्तरण कृत्य का सम्पादन वेद-निर्माण के पश्चात् ही करना चाहिए।[१७]

पूर्णमासेष्टि में निम्नलिखित प्रधान यागों[१८] का विधान किया जाता है -

(१) आग्नेय अष्टाकपालक पुरोडाश याग।
(२) अग्निषोमीय उपांशु याग।[१९]
(३) अग्निषोमीय एकादशकपालक पुरोडाश याग।[२०]

ध्यातव्य है कि उपर्युक्त प्रधान यागों के अतिरिक्त अङ्गयाग[२१] के

---

१४. द्र० शब्रा० (सायणमाष्य,) १/१/१/१, पूर्णमासस्य प्राथम्यम्।
१५. वारा०श्रौ० १/१/२/८, पूर्वेद्युः समन्वाधानम्, तु० सश्रौ १/४/१०५
१६. द्र० सश्रौ० १/४/१०५, श्वो भूते इध्मबर्हि वेदं च करोति।
१७. द्र० आपश्रौ० १/१४/१७ तथा स०श्रौ० १/४/१०६ सद्यो वा सर्वं क्रियते। सद्यस्कालायामुपरिष्टाद् वा ------ परिस्तृणाति।
१८. द्र० सूर्यकान्त, वै०को०, पृ० ३९५, फल के विहित देवता होते हैं और उनके लिए किया गया याग; प्रधान याग कहलाता है, तथा श्रौ प नि, पृ० ३१। प० २६०
१९. वारा०श्रौ० १/१/१/६०। अग्निषोमीय उपांशुयाजः पौर्णमास्याम् -
२०. वाराश्रौ० १/१/५७, तु० वैश्रौ १५/५/४.५
२१. द्र० सश्रौ० १/१/६२, फलवत् सन्निधां अफलम् तदङ्गम्, तथा श्रौ प नि०, पृ० १३७।

रूप में प्रयाज एवं अनुयाज यागों का भी विधान किया जाता है।[२२]

उपवसथ[२३] - दिवसीय कृत्य :-

ऐसी अवधारणा है कि यजमान के घर के समीप अथवा यजनशाला में इस दिन सभी देवता आकर निवास करते हैं, इसलिए इस दिन की उपवसथ संज्ञा है। पूर्णमास याग में यह पूर्णिमा का ही दिन कहलाता है, एतदर्थ पूर्णमासी के दिन सपत्नीक यजमान प्रात:कालीन अग्निहोत्र के अनन्तर गार्हपत्याग्नि के पश्चिम आस्तृत दर्भों पर बैठकर हाथ में कुश ग्रहण किये हुए प्राणायाम करके पूर्णमासेष्टि का संकल्प करता है।[२४] इसी दिन यजमान और भी अनेक आवश्यक कृत्य सम्पादित करवाता है। मांस, उड़द, नमक इत्यादि वर्जनीय खाद्य-पदार्थों को न खाने का व्रत ग्रहण कर नवीन परिधान धारण करता है।[२५]

अग्नि अन्वाधान

अध्वर्यु प्रात: कालीन अग्निहोत्र के पश्चात् अग्नि-प्रणयन हेतु गार्हपत्य से आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि को पृथक् करता हुआ अग्नि उद्धरण कर्म करता है। एतदर्थ गार्हपत्य अग्नि से एक जलती हुई लकड़ी का प्रणयन कर मन्त्रोच्चारण द्वारा आहवनीय तथा दक्षिणाग्नियों को प्रज्वलित करता है।[२६] ज्ञातव्य है कि अन्वाधान कृत्य प्रथम दिन ही सम्पादित करना चाहिए।[२७]

---

२२. द्र० वै श्रौ, १५/५। ४.५ तथा सत्रौ १/१/६१ तदङ्गमितरे होमा:।

२३. द्र० सश्रौ १/३/९९, भाष्य, तथा आपश्रौ १/१४/१६ (भाष्य) श्वो यागार्थे अग्निसमीपे नियमविशिष्टो वास: उपवास:। द्र० हि ध शा० २/२, पृ० १०१०, पा टि २२७६ तथा शब्रा १/१/७

२४. द्र० हि.थं.शा., पृ० १०१०

२५. वारा० श्रौ० १/१/२/२ केशश्मश्रू वापयित्वा मांसमाष लवण-- चासुहितो (वासहितौ)। तु० का श्रौ. २/१/९, सत्रौ ६/१/५०४

२६. वारा०श्रौ० १/१/२/३-४ इति यथारूपं गार्हपत्यादाहवनीयं ------ अन्वाधाय व्रतमुपेतिं।
- तु० सश्रौ १/२/६८

२७. वारा. श्रौ० १/१/२/८ पूर्वेद्यु: समन्वाधानम्।

अग्निपरिस्तरण

अग्नियों के चतुर्दिक् कुशों का आच्छादन करना ही अग्निपरिस्तरण कृत्य कहलाता है।[२८] अध्वर्यु द्वारा प्रैष दिये जाने पर आग्नीध्र क्रमशः आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नियों के चतुर्दिक् कुशों को बिछाता है। स्मर्तव्य है कि बिछाये जाते हुए कुशों का अग्र भाग प्रथमतः पूर्व की ओर और पुनः पश्चिम दिशा की ओर करके बिछाया जाना चाहिए।[२९] इसी दिन सपत्नीक यजमान को मांस न खाने, अनृत वदन न करने एवं स्त्री प्रसंग न करने का विधान किया गया है। साथ ही साथ उड़द के भक्षण न करने एवं सायंकालीन भोजन के रूप में मात्र आरण्यक खाद्य पदार्थों के भक्षण का भी विधान किया गया है।[३०] यदि यजमान अरण्यनिवासी हो; तो उसे जलमात्र ही ग्रहण करना चाहिए।[३१] यजमान एवं उसकी पत्नी को रात्रि में क्रमशः आहवनीय और गार्हपत्याग्निशाला में शयन करना चाहिए।[३२] ज्ञातव्य है कि सत्याषाढ आचार्य के मतानुसार इस दिन का सायंकालीन अग्निहोत्र यजमान स्वयं करता है।[३३]

यजनीय दिवस के कृत्य

व्रतोपायन - कतिपय आचार्यों ने पूर्णमासेष्टि में व्रतोपायन कृत्य का विधान वर्हिराहरण के साथ या प्रणीता-प्रणयन के समय अथवा पुरोडाश को वेदि में स्थातिप करने के समय किया है।[३४] परन्तु ज्ञातव्य है कि आचार्य वराहमत में बर्हिराहरण कृत्य के पूर्व ही व्रतोपायन कृत्य का अनुष्ठान करना चाहिए।[३५] व्रतोपायन हेतु सपत्नीक यजमान द्वारा

---

२८. द्र० काश्रौ० भूमिका, भाग, पृ० ३४ : अग्नीनां परितः कुशैराच्छादनम् परिस्तरणम्।

२९. द्र० स०श्रौ० १/४/१०४ -

३०. वारा०श्रौ० १/४/१२/९ : नानृतंवदेन्नमांसमश्नीयान्नस्त्रियमुपेयात्। माषवर्जं सायमारण्यमश्नीयात्।

३१. वही, १/१/२/१० : आरण्य हविश्चेत्स्यादुदकम्। तु० सश्रौ० ६/१/५०५-६, आपश्रौ ४/३/७-१७

३२. वही, १/१/२/११ - आहवनीययागारे यजमानो विहरति गार्हपत्यागारे पत्नी। - तु० सश्रौ ६/१/५०५-६

३३. द्र० सश्रौ ६/१/५०७ पर्वणि यजमानः स्वयमग्निहोत्रं जुहोति।

३४. द्र० आप श्रौ० ४/२/६-८, तथा सश्रौ ६/१/५०६

३५. वारा.श्रौ. १/१/२/७ 'पुरस्ताद्बर्हिराहरणस्य पौर्णमास्याँ व्रतमुपेयात्।'

पाणि-प्रक्षालन कर ''अग्ने व्रतपते०'' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए आहवनीय अग्नि के समीप जाना चाहिए। तदनन्तर यजमान यज्ञ के निर्विघ्न समाप्ति हेतु व्रतपति आदित्य का उपस्थापन करता है।[३६]

बर्हिराहरण - यज्ञोपयोगी पवित्र कुशों की पूलियों को ले आने का कृत्य बर्हिराहरण कर्म है। एतदर्थ प्रतिपदा के दिन अध्वर्यु गार्हपत्य के उत्तर में रखे हुए हँसिये को ग्रहण कर, गार्हपत्याग्नि को देखता हुआ उसे आहवनीयाग्नि में तपाता है।[३७] हँसिये के स्थान पर विकल्पस्वरूप अश्व की छाती की हड्डी को ही ग्रहण करने का भी विधान है।[३८] तदनन्तर अध्वर्यु विहार के उत्तर अथवा पूर्व में जहाँ कहीं भी दर्भो को पाता है; वहाँ जाकर बर्हिराहरण कृत्य करता है।[३९] सर्वप्रथम दर्भों में से एक दर्भ गुच्छ को हाथ से पकड़कर काटता है और आगे के क्रमशः एक अथवा दो दर्भगुच्छों को (पशुओं के लिए) छोड़कर पुनः अन्य दर्भ-गुच्छों को काटता है।[४०] काटते समय दर्भों को अपने बायें हाथ की अङ्गुलियों में दबाकर दायें हाथ द्वारा हँसिया लगाकर काटता है।[४१] ज्ञातव्य है कि इस बर्हिमुष्टि की ही प्रस्तर संज्ञा होती है।[४२] अब अध्वर्यु प्रस्तर को तृण के ऊपर रखता है तथा कर्तनीय दर्भों के स्थान और अपने हृदय-प्रदेश को स्पर्श करता है।[४३] तदनन्तर जल स्पर्श कर समस्त काटी गयी कुशराशि को रस्सी पर रखता हुआ अन्तिम दर्भमूलों में प्रस्तर

---

३६. वही, १/१/२/५-६ '... इति पाणी प्रक्षाल्य -- इति आहवनीयं यजमान उपतिष्ठते। --- इत्यादित्यम् -- । - तु० सश्रौ ६/१/५०७

३७. वारा०श्रौ० १/२/१/१२-१४, असिदं दात्रं पश्चाद् गार्हपत्यस्य --। -- इति गार्हपत्यं प्रेक्षते। -- इत्याहवनीये प्रतितप्य --। तु० आप० श्रौ० १/३/५, स०श्रौ १/२/८०

३८. वारा०श्रौ १/२/१/१२ अश्वपरशुँ वा...।

३९. वही, १/२/१/१४ 'प्राग्वोदग्वाभिप्रव्रज्य यतः कुतश्चिद्दर्भान् बर्हिराहरति।' तु० मान०श्रौ० १/१/१/२८, भाश्रौ० १/३/५-७, आपश्रौ० १/३/५, सश्रौ० १/२/८१

४०. वही, १/२/१/१५, इति... इति स्तम्बं गृहीत्वा -- इत्येकाँश्नुष्टिं द्वेवाविसृजति। तु० मान.श्रौ-१/१/१/२९-३१, सश्रौ १/२/८१, भाश्रौ १/३/८/९

४१. वही, १/२/१/१६

४२. वही, १/२/१/१७, प्रथमलूनं सनखं प्रस्तरं कृत्वा।' तु० सश्रौ० १/२/८३ 'सप्रस्तरः'। तथा भाश्रौ० १/३/१७

४३. वही, १/२/१/१७-१८

रखकर गाँठ लगाता है।[४४] ध्यातव्य है कि रस्सी तीन परतों वाली तथा विकल्प स्वरूप पाँच या सात परतों वाली होनी चाहिए।[४५] रस्सी का अग्रभाग पूर्व अथवा उत्तर की ओर होना चाहिए।[४६]

अध्वर्युं कुश के गट्ठर को मन्त्रोच्चार द्वारा शिर पर रखकर प्रस्थान करता है। उसे आहवनीय अग्नि के पश्चिम तथा मध्यम परिधि के समीप तृणादि से आच्छादित भूमि पर रखकर पुनः उस गठ्ठर को गार्हपत्य के निकट तृण के ऊपर स्थापित करता है।[४७] अध्वर्यु मौन रूप से ही बर्हि के साथ परियोजनीय, उपलराजि आदि दर्भों को भी ले आता है।[४८]

इध्म आहरण

अध्वर्यु के द्वारा याज्ञिक प्रयोगार्थ ईंधन ले आने का कृत्य इध्माहरण कहलाता है। पलाश या खदिर वृक्ष के १८ काष्ठों को इध्म के रूप में एवं ३ काष्ठ-शलाकाओं को परिधि[४९] के रूप में वह ग्रहण करता है।[५०] स्मर्तव्य है कि अन्तिम ३ काष्ठ शलाकायें कार्ष्मर्य; बिल्ब, पलाश, खदिर, रोहीत अथवा उदुम्बर वृक्ष की होनी चाहिए।[५१] इसके

४४. वही, १/२/१/२१-२५ अतः स्पृष्ट्वा -- इति ग्रन्थिं करोति।

४५. वारा.श्रौ १/२/१/२१ 'त्रिधातु पञ्चधातु सप्तधातु वा।'

४६. द्र० सश्रौ० १/२/८५ प्रागग्रमुदगग्रं वा शुल्बं निदधाति।'

४७. वारा.श्रौ. १/२/१/२७-२९ इत्यारभ्य - इत्युपगच्छति। - इति शिरस्याधाय - इति व्रजति। इति पश्चादाहवनीयस्य परिधिदेशेऽनधः सादयित्वा -- इत्युप निदधाति। तु० भाश्रौ० १/४/१५/२१, मान०श्रौ० १/१/१/४६-५१, आपश्रौ १/५/२, सश्रौ० १/२/८७

४८. द्र० ऐब्रा० हाग, कृत अनुवाद, पृ० ७९, तथा हि.ध. शा २/२, पृ० १०१४, पा०टि० २२८६।

४९. द्र० शब्रा० १/२/ सायण भाष्य, पृ० ८८, अग्नेः परितो धीयन्ते तानि दारूणि परिधयः। तथा पी०वी०काणे, हि.ध.शा. २/२ पृ० १०१४, पा.टि. २२८७
"Paridhi means an encireling stick of wood. The Paridhis are about three spans or one Bahu long while Samidhas are two spans (Pradeshs).

५०. वारा.श्रौ. १/२/१/३० पलाशं खदिरँ वा अष्टादशदारूमिध्मँ सन्नह्यति त्रींश्च परिधीन्..।

५१. वही १/२/१/३० सहशल्कान्कार्ष्मर्यमयान्बिल्वपलाशखदिररौहीतकौदुम्बराणाँ वा।' तु० सश्रौ १/२/८८, मानश्रौ० १/१/१/५२, भाश्रौ १/५/८

साथ ही साथ मध्य परिधि को स्थूल रूप में तथा दक्षिण परिधि को सबसे लम्बी एवं उत्तर परिधि को सबसे पतली होनी चाहिए।[५२] अध्वर्यु कुशनिर्मित रस्सी में उपर्युक्त २१ इध्मों को मन्त्रोच्चार द्वारा बाँधाता है और इध्म के इस गठ्ठर को बर्हि के गट्ठर के पास ले जाकर स्थापित करता है।[५३]

वेद-निर्माण

इध्माहरण के अनन्तर अध्वर्यु वेद का निर्माण करता है। वेद का आकार कामना पूर्ति के उद्देश्य से विविध रूप में बनाया जाता है, यथा पशु की कामना रखने वाले व्यक्ति के द्वारा बछड़े के मुड़े हुए घुटने की आकृति सदृश्, ब्रह्मवर्चस्कामी द्वारा त्रिवृताकार[५४] और अन्कामी द्वारा सिकहर की आकृति तुल्य बनाने का विधान किया गया है।[५५]

अध्वर्युं बायें हाथ में रस्सी लेकर दर्भों को बछड़े के घुटने की आकृति सदृश् मोड़कर दुहराता है। उसे रस्सी से बाँध देता है। बाँधते हुए स्थान से एक वित्ता छोड़कर दर्भों के ऊपरी भाग को काट देता है।[५६] सत्याषाढ के मतानुसार इसी समय वेद परिवासन (वेद-निर्माण से निकले हुए तृण) एवं इध्म-प्रवश्चन को सुरक्षित रख लेना चाहिए।[५७] अध्वर्यु कुशों को एक सतत रेखा के रूप में गार्हपत्य से आहवनीयपर्यन्त ब्रह्मा और यजमान के बैठने के लिए बिछाता है। इसका आस्तरण-क्रम आहवनीय के दक्षिण से पूर्व की ओर ब्रह्मा के लिए और पश्चिम में यजमान के लिए किया जाता है। यह कृत्य प्रातःकालीन अग्निहोत्र के

---

५२. वही १/२/१/३१ 'स्थविष्ठो मध्यमो... दक्षिणाध्यों ह्रसिष्ठोऽणिष्ठः उत्तराध्यः'। तु० आपश्रौ १/५/७-१०, काश्रौ २/८/१

५३. वाराश्रौ १/२/१/३३ इति सम्मृत्य... इति सन्नह्यति... इत्युपरिनिदधाति।' तु० मानवश्रौ १/१/५२-५३, भाश्रौ १/५/८

५४. वक्राकार आसन सदृश् अथवा तीन परतों में गुँथी हुई चोटी सदृश्।

५५. वारा.श्रौ. १/२/२/१ दर्भाणां वेदं करोति, वत्सज्ञुः पशुकामस्य -- ... भूतकार्यमन्नाद्यकामस्य।'
तु० भाश्रौ १/६/४-५, सश्रौ १/३/९०-९१।

५६. वही १/२/२/२ : प्रसव्यँ शुल्बँ कृत्वा वत्सज्ञुं निपेष्ट्य वेदाऽग्रे...सन्नह्यति।'

५७. द्र० सश्रौ १/२/९१

पश्चात् यथाविहित मन्त्र से हस्त-प्रक्षालन करके सम्पन्न किया जाता है।[५८]

पात्रासादन

अब अध्वर्यु बिछाये गये कुशों के ऊपर पात्रों की स्थापना करता है। एतदर्थ अध्वर्यु पात्रों को संस्तुत कर एक-एक जोड़े के रूप में प्रयुक्त करता हुआ; कुशों पर औंधे मुख कर[५९] स्थापित करता है। इन पात्रों की सूची निम्नलिखित क्रम से दी गयी है - स्फ्य, कपाल, अग्निहोत्रहवणी, शूर्प, कृष्णाजिन, शम्या, उलूखल, दृषद्, उपला, खादिरस्रुव, पलाशनिर्मित जुहू, आश्वत्थउपभृत्; विकङ्कतवृक्षनिर्मित ध्रुवा अथवा विकल्पस्वरूप अरत्निमात्री शमीवृक्षनिर्मिता ध्रुवा। इसके अतिरिक्त पात्री, इडा, चमस, वेद, कुटरु, आज्यस्थाली, चरु, प्राशित्रहरण, प्रणीता पात्र, पत्नीयोक्त्र और प्रातर्दोह के पात्र आदि होते हैं।[६०]

ब्रह्मा का वरण

पात्रासादन के पश्चात् यजमान अपने आसन पर उत्तराभिमुख बैठे हुए वशिष्ठगोत्रोत्पन्न ब्रह्मा का वरण करता है।[६१] वरण होने पर ब्रह्मा मन्त्रोच्चारण करता है और यजमान वरण करके आहवनीयाग्नि के दक्षिण में चला जाता है।[६२] अध्वर्यु अपने आसन पर बैठा हुआ; बायें हाथ से एक तृण निकालकर उसे दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य) दिशा में फेंक देता है[६३] और जल का स्पर्श कर अपने आसन पर बैठकर मन्त्रों का जप करता है।[६४]

---

५८. वारा०श्रौ १/२/४/१ प्रातर्हुतेऽग्निहोत्रे... इति। पाणी प्रक्षाल्याग्नी... गार्हपत्यादध्याहवनीयाद्।

५९. द्र० स०श्रौ १/४/१०८

६०. वारा०श्रौ १/२/४/२-४ प्रातेभ्यः संस्तीर्य द्वन्द्वं पात्राणि प्रयुनक्ति स्फ्यं कपालान्यग्निहोत्रहवणीं शूर्पं कृष्णाजिनं शम्यामुलूखलमुसलं दृषदुपलं... पात्रं पत्नीयोक्त्रं प्रातर्दोहिकानि।' यज्ञिय पात्रों की विशद सूची हेतु द्रष्टव्य है - श्रौ. प.नि., ३४, ३५, ३८ इत्यादि।

६१. वही १/१/५/१ 'ब्रह्मिष्ठंब्रह्माणँ वृणीते।

६२. वारा.श्रौ. १/१/५/२-३, ६ वृतो जयति। दक्षिणतः कर्माण्यनुतिष्ठेत।

६३. वही १/१५/७, सश्रौ ८/२५/९

६४. वही १/१/५/८ इत्यपः स्पृष्ट्वोपविशति।

प्रणीता-प्रणयन[६५]

यथाविनिर्दिष्ट परिमाप वाले चमस में प्रणीता नामक जल के ग्रहण एवं स्थापन कृत्य को प्रणीता प्रणयन कहा जाता है।[६६] अध्वर्यु प्रणीताप्रणयन हेतु चमस ग्रहण कर उसे मन्त्र (मै.सं.१.२.८.) द्वारा स्वच्छ बनाता है।[६७] वह गार्हपत्य के पश्चिम में जाकर बैठ जाता है। अब वह चमस में पवित्र धारण कर मन्त्र (मै.सं.१.४.१०) के द्वारा पृथ्वी का मानस ध्यान करता हुआ; जल ग्रहण करता है।[६८] जल को प्रोक्षण-विधि द्वारा संस्कृत करके ब्रह्मा से अध्वर्यु प्रणीता प्रणयन हेतु आज्ञा लेकर और जलयुक्त चमस को स्फ्य से ढककर अपनी नाक की ऊँचाई के बराबर ऊँचा उठाता है तथा उसका प्रणयन करता हुआ उसे आहवनीय अग्नि के उत्तर स्थापित करता है।[६९] स्मर्तव्य है कि इस समय अध्वर्यु एवं यजमान दोनों को अपनी-अपनी वाणी नियन्त्रित करनी चाहिए। तदनन्तर अध्वर्यु चमस को परिस्तरण-विधि से ढँक देता है।[७०] इसके साथ ही यहाँ यह भी ध्यातव्य है; कि प्रणीता जल तथा आहवनीयाग्नि के बीच से किसी भी व्यक्ति को आवागमन नहीं करना चाहिए।[७१]

हविःनिर्वाप[७१अ]

अध्वर्यु मन्त्रोच्चारण द्वारा हाथ में पवित्र ग्रहण कर यज्ञोपयोगी पात्रों का सम्मार्जन करता है।[७२] तब वह अग्निहोत्रहवणी एवं शूर्प को

---

६५. द्र० जैसू० ४/२/१४-१५ प्रणीता हेतु
६६. द्र० श्रौ.प.नि., पृ० ९, प० ५८।
६७. वारा.श्रौ. १/२/४/६-७ ... इति चमसमादाय... इति प्रक्षालयति। तु० आपश्रौ १/१६/३
६८. वही १/२/४/८ पश्चाद् गार्हपत्यस्य...पृथ्वींमनसाध्यायन्। तु० आपश्रौ १/१६/१
६९. वारा.श्रौ. १/२/४/९-१० प्रोक्षणीः धर्मैः संस्कृत्य ब्रह्मन्नपः ... प्राणैर्धारयमाणः .. . इति। उत्तरतः आहवनीयस्य... सादयति इति। तु० सश्रौ १/४/११६-११७, भाश्रौ १/१८/६
७०. वही १/२/४/११-१२ अध्वर्युर्यजमानौ वाचं यच्छेत... परिस्तरणैः स्वाच्छाद्य।
७१. द्र० का.श्रौ. ४/२/१४-१५
७१अ. द्र० आपश्रौ १/१७/१० भाष्य 'देवतार्थत्वेन पृथक्करणं निर्वापः।' तथा हि.ध.शा. २/२, पृ० १०२३
७२. वारा.श्रौ. १/२/४/१२ पवित्रपाणि : पात्राणि संस्पृशति ... इति। तु०स.श्रौ. १/४/११८

ग्रहण करके उसे भी मन्त्र उच्चारण द्वारा आहवनीयाग्नि में तपाता है।[७३] फिर हविर्निर्वपण हेतु यजमान 'हविर्निर्वप्स्यामि', इत्यादि मन्त्रोच्चारण द्वारा आज्ञा लेता है। ज्ञातव्य है कि इस समय जाते हुए अध्वर्यु के लिए निर्दिष्ट मन्त्रांश विशेष का उच्चारण करने का विधान है।[७४] अध्वर्यु गार्हपत्य या आहवनीयाग्नि के पश्चिम में यव अथवा धान से युक्त एवं रस्सी से बँधे हुए चूरे वाली एवं चटाई से ढकी हुई गाड़ी के पास जाता है।[७५] उसके दायें धुरे और बायीं ईषा को स्पर्श करके उसकी बायीं पहिया पर पैर रखते हुए आरोहण करता है।[७६] उसके द्वार को खोलते हुए हवि को देखता है।[७७] अग्निहोत्रहवणी में एक मुष्टि हवि (ब्रीहि या यव) डालकर पुनः उसे शूप में डाल देता है और यही कृत्य तीन बार समन्त्रक एवं एक बार चुपचाप (तूष्णीम्) करता है।[७८] अध्वर्यु निरुप्त हवि एवं शकट में अवशिष्ट द्रव्य को स्पर्श करता है और नीचे उतर कर हवि:निर्वाप के समय इतस्ततः गिरे हुए द्रव्यों के प्रति प्रायश्चित्त करता है।[७९] तदनन्तर शकट से निकल कर आहवनीय एवं आकाश को देखता है और गार्हपत्य अग्नि के पश्चिम में हवि को स्थापित करता है।[८०]

हवि-प्रोक्षण

अध्वर्यु अग्निहोत्र हवणी को बायें हाथ में लेकर दाहिने हाथ से

---

७३. वही, १/२/४/१३-१६ इत्यग्निहोत्रहवणीमादत्ते इति शूर्पम्। सश्रौ १/५/११८, ११९, मानश्रौ. १/२/१/२२

७४. वही, १/२/४/१७, यदि प्रवसेदग्ने - ब्रूयात्।

७५. वाराश्रौ. १/२/४/१८-१९, व्रीहि... पश्चादग्निष्ठं योग्यकृतं छदिष्मत्सपरिणट्कम्। तु० मान०श्रौ. १/२/१/२३, सुश्रौ. १/५/१९-२०

७६. वही, १/२/४/२२-२७ इति ध्रुवमभिमृशति। इत्युत्तरामीषामालभ्यजपतिः ... इति पादमादधाति.....इति आरोहति। तु० मानश्रौ. १/२/१/२४-२६

७७. वही, १/२/४/२६-२७ इत्यवसारयति। इति हविष्यान्प्रेक्षते। तु० मानवश्रौ० १/२/२८-२९

७८. वही, १/२/४/२८ अग्निहोत्रहवण्यामवधाय... त्रिर्यजुषा तूष्णीं चतुर्थम्, तु० मानवश्रौ० १/२/१/३१, सश्रौ १/५/१२१, काश्रौ० २/३/२० भाश्रौ. १/१९/११

७९. वही, १/२/४/२९/३२

८०. वाराश्रौ. १/२/४/३३-३४, इति शकटं निष्क्रामयति। इति आकाशं प्रेक्षते... इति पश्चाद् गार्हपत्यस्य सादयति। तु० भाश्रौ १/२/१/३७, ४२, सश्रौ १/५/१२३, काश्रौ २/३/२५

प्रोक्षण करता है।[८१] एतदर्थ हविर्प्रोक्षण हेतु अध्वर्यु ब्रह्मा से पुनः आज्ञा लेकर हाथों में पवित्र लिये हुए प्रोक्षणी के जल द्वारा मन्त्र (मै.सं.१.१.५) को पढ़ता हुआ, हवि के ऊपर जल छिड़कता है। यह कृत्य तीन बार मन्त्र-सहित और चौथी बार निर्मन्त्रक विहित देवताओं के अनुसार करने का विधान है।[८२] स्मर्तव्य है कि हवियों के प्रोक्षण के समय जल की बूँदें अग्नि में न गिरने पायें।[८३] तदनन्तर अध्वर्यु यज्ञीय पात्रों को उत्तान करके रखते हुए प्रत्येक पात्र को तीर बार प्रोक्षणी जल से परिमार्जित करता है।[८४]

हविष्कण्डन

हवियों एवं पात्रों के प्रोक्षण के अनन्तर हवि का अवहनन (कुटाई) का कृत्य किया जाता है; इसे ही 'हविष्कण्डन' कहते हैं।[८५] अध्वर्यु कृष्णाजिन झाड़कर उसके रोयें वाले भाग को ऊपर एवं गर्दन वाले भाग को पश्चिमदिशा की ओर करके उत्कर के पश्चिम में बिछाता है।[८६] वह कृष्णाजिन[८७] को मोड़ते हुए उसके ऊपर उलूखल रखकर उसमें हवि गिराता है। यह क्रिया तीन बार मन्त्र (मै.सं.१.१.६) सहित एवं चौथी बार निर्मन्त्रक सम्पन्न की जाती है।[८८] ध्यातव्य है कि उलूखल को रिक्त स्थान पर नहीं रखना चाहिए।[८९] तदनन्तर अध्वर्यु "बृहद्ग्रावासि" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करता हुआ मुसल को लेकर उलूखल में डाल देता है और कूटता है। इस समय कूटते हुए अध्वर्यु हविष्कृत् का तीन बार आह्वान करता है।[९०]

---

८१. वही, १/२/४/३८ अनिर्मिष्टायामग्निहोत्रहवण्यां प्रोक्षणीं संस्कृत्य...। तु० मानश्रौ १/२/२/२
८२. वही, १/२/४/२८ यथादेवताम्, त्रिर्यजुषा तूष्णीं चतुर्थम्। तु० सश्रौ १/५/१२४
८३. वही, १/२/४/३८ हविष्यं प्रोक्षत्यनभिप्रोक्षन्नग्निम्। तु० मानश्रौ १/२/२/२
८४. वही, १/२/४/३९ तु० मानश्रौ १२/२/५
८५. वाराश्रौ० १/२/४/४०, ४१, तु० सश्रौ १/५/१२५, मानश्रौ १/२/२/६
८६. वही, १/२/४/४२ पश्चादुत्करस्यास्तृणाति...।
८७. कृष्णाजिन हेतु द्रष्टव्य, पी०वी०काणे, हि ध शा, २/२, पृ० १०२६, पाटि २३०८।
८८. वाराश्रौ १/२/४/४३, ४५ इति हविष्यान्वपति। त्रियर्जुषा तूष्णीं चतुर्थम्, तु० मानश्रौ १/२/२/७, सश्रौ १/५/१२५
८९. वही, १/२/४/४४, नरिक्तमवसृजति। तु० मानश्रौ १/२/२/९
९०. वाराहश्रौ १/२/४/४६-४७, इति मुसलमादाय... इति अवहन्ति। इति द्वितीयम्... इति तृतीयम्। तु० मानश्रौ १/२/२/१३, सश्रौ १/५/१२६, काश्रौ० २/४/११-१३

ध्यातव्य है कि हवि-अवहनन कृत्य का अधिकार तीनों उच्च वर्णों को है। हविष्कृत को बुलाते समय अध्वर्यु के द्वारा विभिन्न क्रियाओं का विनियोग किया जाना भी अभीष्ट होता है। यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य हेतु क्रमशः 'एहि', 'आगहि' 'आद्रव' का प्रयोग।[९१] इसके अतिरिक्त अवहनन कृत्य का विधान पत्नी द्वारा सम्पन्न करने का भी निर्देश है।[९२] कुटाई हो जाने के बाद अध्वर्यु आग्नीध्र को प्रैष देता है, तदनन्तर आग्नीध्र दृषद् (सिल) और उपला (लोढ़ा) लाकर क्रमशः उनको एक पत्थर द्वारा अलग-अलग विहित मन्त्र (मै.सं.१.१.६.) का उच्चारण करते हुए बजाता है। इसी नियम से वह पुनः तीर बार बजाता है। इस तरह कुल मिलाकर यह नौ बार बजाया जाता है।[९३]

तदनन्तर अध्वर्यु (वेणु, नड या ईषीका निर्मित) शूप को 'वर्ष वृद्धमसि०' (मै.सं.१.१.७) इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए ले आता है और 'वर्ष-वृद्धा०' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करता हुआ कुटी हुई हवि उसमें डाल देता है और पुनः कुटे हुए तण्डुलों में से भूसी निकालकर उत्कर में फेंक देता है।[९४] अब वह उत्कर से भूसी उठाकर पुरोडाश-कपाल में भरता है तथा उसे कृष्णाजिन के नीचे गिराता है।[९५] अध्वर्यु भूसी को हाथ से दबाकर जल स्पर्श करके तण्डुलों और भूसी को अलग करता है।[९६] अलग करके उसे पात्री में रखता है। इसके बाद अध्वर्यु को इसी नियम से तीन बार फलीकरण[९६क] हेतु ब्रह्मा प्रैष देता है।[९७]

---

९१. वाराश्रौ० १/२/४/४७-४८, तु० मानश्रौ १/२/२/१५
९२. वही, १/२/४/४९, 'पत्न्यवहन्ति' तु० मान०श्रौ० १/२/२/१६ पत्नी अवहन्ति पिनष्टि च।' का०श्रौ० २/४/१३
९३. वही, १/२/४/५०-५१, ... इति आग्नीध्र कुटरुमादाय...इति दृषदमाहन्ति।... द्वितीयं. .. उपलाम्। त्रिरेतेन धर्मेण। तु० मानश्रौ १/२/२/१७, सश्रौ १/५/१२७-२८
९४. वही, १/२/४/५२-५५, तु० सश्रौ १/५/१२८, मानश्रौ १/२/२/१९ २०, काश्रौ २/४/१६-२०
९५. वाराश्रौ० १/२/४/५६ पुरोडाश कपाले तुषानोप्याधस्तात् कृष्णाजिनस्योपास्यति इति। तु० सश्रौ १/५/१२८, मानश्रौ १/२/२/२२
९६. वाराश्रौ १/२/४/५७, तु० वैखा.श्रौ १५/७/४-७, सश्रौ १/५/१२९, का श्रौ २/४/१९/२०
९६क. द्र० सश्रौ १/५, व्याख्या भाग 'फलीकरणं तण्डुलेभ्यः कणानां वियोगकरणम्।'
९७. वही, १/२/४/६०, तु० सश्रौ १/५/१२९, मानश्रौ १/२/२/२४, काश्रौ २/४/२२

तदनन्तर पत्नी दृषद् और उपला को लाती है। उलूखल में हविर्वपन कर मुसले द्वारा अवहनन करती है।

हवि-पेषण

अध्वर्यु हवि-पेषण हेतु कृष्णाजिन को बिछाता है और उस पर दृषद् एवं उपला रखकर शम्या का उपकर्षण करता है। स्मरणीय है कि शम्या का कुम्ब पश्चिम-उत्तर की दिशा की ओर रखना चाहिए।[९८] दृषद् के ऊपर उपला रखकर उसमें चावलों को तीन बार विहित मन्त्र (मै.सं. १.१.६) सहित तथा एक बार निर्मन्त्रक गिराता है। उसे अब यजमान की पत्नी पीसती है तथा विकल्पस्वरूप दासी को भी पीसने के लिए कहा जा सकता है।[९९]

कपालोपधान[१००]

पुरोडाश के पकाने में प्रयुक्त किये जाने वाले छोटे-छोटे मिट्टी के कसोरों की 'कपाल' संज्ञा है। हवियों के पेषण के अनन्तर गार्हपत्याग्नि के पश्चिम पुरोडाश-श्रपण हेतु कपालों को मन्त्रपूर्वक स्थापित करना ही कपालोपधान कृत्य है।[१०१] एतदर्थ अध्वर्यु 'धृष्टिरसि ब्रह्म यच्छ०' (मै.सं.१.१.८) आदि मन्त्रोच्चारण द्वारा उपवेष ग्रहण करता है तथा गार्हपत्याग्नि से दो अङ्गारों को 'अपाग्ने०' 'इत्यादि मन्त्र (मै.सं. १.१.८) का उच्चारण करते हुए अलग स्थापित करता है।[१०२] तदनन्तर इन दोनों अङ्गारों में से एक को गार्हपत्य के पीछे दक्षिण की दिशा में रखकर 'ध्रुवमसि०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.१.१.८) को पढ़ता हुआ; मध्य में आहित अङ्गारों के ऊपर मध्यम कपाल को उत्तान करके स्थापित करता है।[१०३] इसके बाद बायें हाथ से मध्यम कपाल को स्पर्श किये हुए

---

९८. वही, १/२/४/६१-६३, तेन धर्मेणानभिभुजन् कृष्णाजिनमास्तीर्य ... इति। इति शम्यामुपकर्षति पश्चातुदीचीनकुम्बाम्। तु० मानश्रौ १/२/२/२६-२९, सश्रौ १/५/१३१
९९. वही, १/२/६४-६९, दासी पिनष्टि पत्नी वा। तु० सश्रौ १/५/१३१
१००. द्र० एगलिंग, से बु ई, १२, पृ० ३४ की टिप्पणी। तथा तैसं १/१/७
१०१. दे० श्रौ.प.नि. - पृ० १६, प० १२०, तथा सश्रौ १/६/१३१
१०२. वही, १/३/१/१-२, 'इत्युवेषमादाय गार्हपत्यादंगारौ... अन्यतरं निरस्यति।' तु० सश्रौ० १/६/१३३, आपश्रौ १/२/२/२, मानश्रौ १/२/३/१, २ मंसं० १/१/८
१०३. वाराश्रौ १/३/१/३४, तु० मानश्रौ १/२/३/१-२

अङ्गारों से उसे ढँक देता है तथा विहित मन्त्रों (मै.सं.१.१.८) का उच्चारण करते हुए क्रमशः मध्यम कपाल के पूर्व द्वितीय कपाल, द्वितीय कपाल के पूर्वार्ध तृतीय कपाल और मध्यम कपाल के दक्षिण चतुर्थ एवं पञ्चम कपाल की स्थापना करता है। पुनः वह मध्यमकपाल के उत्तर में उपर्युक्त क्रम के विपरीत तीन कपालों को स्थातिप करता है।[१०४] पूर्वोक्त कपालों में सर्वप्रथम अष्टाकपालक पुरोडाश आग्नेय देवतार्थ विहित है।[१०५] एकादश कपालक पुरोडाशों का विधान अग्निषोम देवतार्थ प्रदान करते हैं। इसके लिए एकादश कपालों की स्थापना इसी विचारधारा से करनी चाहिए। ध्यातव्य है कि नवें, दशवें एवं ग्यारहवें कपालों को क्रमशः अवान्तर दिशाओं में स्थापित करना चाहिए। इसी क्रम से शेष कपालों को भी।[१०६] स्थापित कपालों को अध्वर्यु 'वसूनां रुद्राणाम्.' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए अङ्गारों से ढँक देता है।[१०७]

पुरोडाशश्रपण

कपालोपधान के पश्चात् अध्वर्यु पुरोडाशश्रपण हेतु पुरोडाशपात्री को अग्नि पर तपाता है। प्रसङ्गतः स्मरणीय है कि पुरोडाश पात्री को तपाते समय बहुत अधिक गर्म नहीं करना चाहिए। अध्वर्यु गर्म करने के अनन्तर उसे ठंडा करके उसमें पवित्र स्थापित करता है और पुरोडाशपात्री में (कृष्णाजिन के द्वारा) बार-बार पिसान का संवपन[१०८] करता है। ध्यातव्य है कि पिसान का संवपन कृत्य विहित देवता के निमित्त तीन बार समन्त्रक एवं चौथी बार चुपचाप करना चाहिए।[१०९] इसी समय अध्वर्यु अपनी वाणी को नियन्त्रित करता है तथा मदन्ती जल[१०९क] एवं

---

१०४. वाराश्रौ १/३/१/५ इति पूर्वमुपदधाति... इति पूर्वार्धम्। इति... मध्यमाद्दक्षिणम्।.. इति उत्तरार्धात्पूर्वम्। तु० मानश्रौ १/२/३/४, आपश्रौ १/२२/२/३, सश्रौ १/६/१३४

१०५. वही, १/३/१/६, अष्टकपाल आग्नेय एकादशकपाल...।

१०६. वही, १/३/१/७, एतेन धर्मेणोत्तरस्मिन्नष्टावुपधाय... इति शेषमुपदधाति। तु० सश्रौ १६/१३

१०७. वही, १/३/१/८, इत्याङ्गारानध्यूह्य..। तु० सश्रौ० १/६/१३६

१०८. श्रौ.प.नि. - १७, १४१ मेक्षणेन जलपिष्टयोर्मिश्रणं संवपनमुच्यते।

१०९. वाराश्रौ. १/३/१/१०, तु० मान०श्रौ १/२/३/१०-११, सश्रौ १/६/१३७, आपश्रौ १/३/१/११

१०९क. द्र० श्रौ. प. नि., ८/४८, तथा १०/६२

हवि का उत्पवन कर स्रुच[१०९ख] द्वारा प्रणीता पात्र के जल में से उसमें जल भरता है तथा वेद स्थापित कर क्रमशः जल को गिराता जाता है। मदन्ती जल द्वारा पिसान को सानता है।[११०] साने हुए पिसान को पिण्डाकार बनाकर उसे अभिमन्त्रित करते हुए दो बराबर भागों में विभक्त करता है।[१११] अब उसमें से इस इष्टि में विहित अग्निदेवतार्थ प्रथम अवदान तथा अग्निषोमीय देवता के निमित्त द्वितीयावदान का ग्रहण कर उसे अभिमन्त्रित करता है।[११२] इस समय अध्वर्यु ''घर्मोऽसि०'' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.१.१.९) के उच्चारण द्वारा पुरोडाश को पकाने के लिए प्रथम आठों कपालों पर आग्नेय भाग को स्थापित करने के बाद ग्यारह कपालों पर अग्निषोमीय भाग स्थापित करता है।[११३]

अध्वर्यु 'उरु प्रथस्व०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.१.१.९) का उच्चारण करते हुए पुरोडाशों को विस्तृत करता है। विस्तृत करते हुए पुरोडाशों को आकृति में कूर्म के अनुरूप एवं परिमाप में अश्व-शफ (खुर) तुल्य बनाता है।[११४] कपालों को चारों ओर से ढँक लेने भर की आकृति वाला बनाकर उसे कपालों पर अधिश्रित करता है और उनके ऊपरी भागों को गीले हाथों से परिमार्जित करता है। तदनन्तर वह गार्हपत्याग्नि में दक्षिण दिशा की ओर से आज्य का निर्वपन करता है। आज्यस्थाली को लाकर उसमें पवित्र धारण कराता है। आज्य एवं हवियों का लेपन करते हुए तीन बार पर्यग्निकरण करता है।[११५] ज्ञातव्य है कि पर्यग्निकरण कृत्य

१०९ख. द्र० श्रौ. प. नि., ९/५५ तथा १३-९७।

११०. वाराश्रौ १/३/१/१२, १३, १४, १५, १६, तु० मानश्रौ १/२/३/१२-१५ सश्रौ १/६/१३७-३८, काश्रौ० २/५/१३, १४।

१११. वही, १/३/१/१६-१७, 'इति पिण्डमभिमन्त्र्य... इति समौकरोति। तु० मानवश्रौ० १/३/२/१७, सश्रौ १/६/१३८

११२. वही, १/३/१/१८

११३. वाराश्रौ १/३/१/२०... इत्यधिश्रयति। तु० मानश्रौ १/३/२/१८ सश्रौ १/६/१४१, काश्रौ २/५/१९

११४. वही, १/३/१/२१, इति प्रथयति। यावत्कपालं कूर्मस्यानुरूपं अश्वशफमात्रम्। 'तु० मानश्रौ १/३/२/२२, सश्रौ १/६/१४१ आपश्रौ १/२५/४

११५. वाराश्रौ १/३/१/२२-२५, इत्यविक्षारयन्लेपेन परिमार्ष्टि..। इति आज्यं हविश्च त्रिः पर्यग्निं करोति सह लेपेन।
तु० वैखा. श्रौ. १५/१०/४.१०, सश्रौ १/६/१४२, मानश्रौ १/२/३/२६

उल्मुक को ग्रहण कर हवियों के चतुर्दिक् प्रदक्षिण क्रम से करना चाहिए। तदनन्तर उल्मुक से हवियों को गर्म कर उसमें पुनः उल्मुक छोड़कर दर्भों को जलाता है और उससे प्रकाश करता है।[११६] अध्वर्यु वेद के द्वारा अङ्गारों को एवं भस्मों द्वारा पुरोडाशों को ढक देता है। इसी समय यजमान अपनी वाणी का विसर्जन करता है।[११७] वाग्विसर्जन के पूर्व ही आग्नीध्र को अध्वर्युप्रैष देता है कि ''बिना जलाये हुए पुरोडाशों को पकाओ''।[११८]

अध्वर्यु आहवनीयाग्नि के पश्चिम तथा वेदि के पूर्वार्ध में दक्षिण से उत्तर की ओर स्फ्य के द्वारा तीन रेखाएँ बनाता है। उन रेखाओं में आप्त्य देवों[११८क] के लिए लेप (हाथों की अङ्गुलियों के धोवन) को गिराता है। ज्ञातव्य है कि वह रेखाओं में लेप को एक दूसरे से न मिलाते हुए गिराता है।[११९]

वेदिकरण - एवं स्तम्बयजुर्हरण

तदनन्तर आहवनीयाग्नि के पश्चिम अध्वर्यु वेदि का निर्माण करता है।[१२०] एतदर्थ अध्वर्यु वेदिनिर्माण-स्थल में पहुँचकर वेद ग्रहण कर पूर्व निश्चित वेदिस्थल का तीन बार अभिमर्शण करता है।[१२१] हाथ में खदिर की स्फ्य ग्रहण करके दर्भ के द्वारा सम्मार्जित करता है तथा वेदिस्थल में एक दर्भ स्थापित करता है। तदनन्तर स्फ्य के द्वारा दर्भ पर प्रहार करता हुआ उसे तिरछे रूप में काटता है। स्मर्तव्य है कि स्फ्यप्रहार कृत्य वेदि के पूर्वी हिस्से के तृतीय भाग में सम्पन्न किया जाता

---

११६. वही, १/३/१/२६, इत्युल्मुकेनाभिताप्याग्ने... इत्यनपोहन्ज्वालान्। तु० मानश्रौ १/२/३/२/८२९, सश्रौ १/६/१४३

११७. वाराश्रौ १/३/१/२७, २८ इति वेदेन सह अङ्गारं भस्माभ्यूहति। ... इत्यङ्गारानभ्यूह्य वाचं विसृजते। मानश्रौ० १/२/३/३२, सश्रौ १/६/१४३

११८. द्र० मानश्रौ १/२/३/३१, अविदहन्तः श्रपयतेति प्रेष्यति।

११८क. दे० तैब्रा० ३/२/८, ऋसं० १/१/५/९, ८/१२/१६, ८/४७/१३

११९. वही १/३/१/२९ अन्तर्वेदि प्रागुदीचीः स्फ्येन तिस्रो लेखाः ----- उल्मुकेनाभिताप्य। तु० मानश्रौ० १/२/४/३, सश्रौ १/६/१४४, आपश्रौ १/२५/१४

१२०. वही १/३/१/३० पश्चादाहवनीय, तु० मानश्रौ १/२/४/१,

१२१. वही, १/३/२/१९-२०... तु० मानश्रौ १/२/४/५, सश्रौ १/६/१४५, आपश्रौ २/१/३

है।[१२२] अध्वर्यु स्फ्य प्रहार द्वारा उद्भूत पुरीष को हाथ में रखकर 'वर्षतु ते पर्जन्य०' (मै.सं.१.१.१०) इत्यादि मन्त्र से जल छिड़ककर शान्ति करता है और प्रहार के समय उखड़ी हुई मिट्टी को सफ्य के साथ उत्कर[१२२क] में फेंक देता है। इसी समय उत्कर के उत्तर में अध्वर्यु द्वारा उठकर दिये जाने पर मिट्टी, तुषों एवं वेदमूलों को आग्नीध्र अपने पाणि-प्रकोष्ठ में ग्रहण करता है।[१२३] यह क्रिया क्रमशः तीर बार 'द्रप्यस्त०' एवं भाव:शिवा ओषधय:' इत्यादि मन्त्र द्वारा एवं चौथी बार निर्मन्त्रक करने का विधान है।[१२४] वेदि की मिट्टी का एक निश्चित नियम के अनुसार ग्रहण कर उत्कर में फेंकने की क्रिया का अभिधान स्तम्बयजुर्हरण है।[१२५] इसमें वेदि के प्रथम तृतीय भाग में एक कुश (स्तम्ब) स्थापित करके यजुः मन्त्र का प्रयोग करते हुए स्फ्य प्रहार से उत्पन्न मिट्टी को उत्कर में डालने के लिए ले जाने (हरण) की क्रिया सम्पन्न की जाती है। तदनन्तर अध्वर्यु गार्हपत्य के पश्चिम से स्फ्य के द्वारा वेद का परिग्रहण करता है। स्मर्तव्य है कि वेदि का परिमाप पूर्व में यजमान की नाप के बराबर तथा चौड़ी (तिरछी) हवियों के रखने में आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए।[१२६]

---

१२२. वारा०श्रौ० १/३/१/३१, ३२, खादिरं स्फ्यं...। दर्भेण समृज्य ... पूर्वस्मिन्वेदितृतीये दर्भं निधाय स्फ्येन --- तिर्यक्छिनत्ति। तु० मान०श्रौ १/२/४५-१०, सश्रौ १/६/४६-४८

१२२क. द्र० सश्रौ० १/६/१४८, व्याख्या, उत्किरति अस्मिन्सतृणं पांसुमित्युत्कर:। तथा आपश्रौ० २/१/६-७

१२३. वही, १/३/१/३३, ३७, तु० मान०श्रौ० १/२/४/८, सश्रौ १/६/१४९

१२४. वही, १/३/१/४१, एतेन धर्मेण त्रिर्यजुषा हरति तूष्णीं चतुर्धम् -- तु० सश्रौ० १/६/१४९ मान०श्रौ० १/२/४/१४

१२५. द्र० आपश्रौ २१/४ (व्याख्या) स्तम्बयजुरिति सतृणा: पासवोऽभि वीयन्ते तद्योगात्कर्म च क्वचित्।'
तथा पी०वी० काणे, कृत हि ध शा, २/२, पृ० १०३४, पा टि २३
It is called Stambayajus, because tha stalk of darbha is out after reciting a yajus formula.

१२६. वारा०श्रौ० १/३/१/४३ अग्रेण गार्हपत्यमपरेण आहवनीयं स्फ्येन वेदिं परिगृह्णाति। यजमान मात्रां प्राचीं ... तिरश्चीम्। तु० मान०श्रौ १/२/४/१, उश्रौ० १/६/१/४५, वैखा०श्रौ० १४/११/४.१

पूर्व एवं उत्तर परिग्रह[१२६क]

अब अध्वर्यु स्फ्य के द्वारा गार्हपत्य के पश्चिम से आहवनीय खर पर्यन्त रेखायें खींचता है। ज्ञातव्य है कि ये रेखायें तीनों ओर खींची जाती हैं। प्रथम रेखा वेदि के पश्चिम भाग में दक्षिण से उत्तर की ओर, द्वितीय रेखा वेदि के उत्तरी पार्श्व में पश्चिम से पूर्व की ओर करके खींचता है।[१२७] स्मरणीय है कि इन तीनों रेखाओं द्वारा निर्मित बाह्य रूपरेखा का अभिधान ही पूर्व परिग्रह है।[१२८]

आग्नीध्र स्फ्य के द्वारा वेदि बनाता है; एतदर्थ वह दो अङ्गुल गहरी वेदि खोदता हुआ औषधियों को समूल निकालता है। निकली हुई मिट्टी को उत्कर में फेंक देता है।[१२९] स्मर्तव्य है कि पशु की कामना वाले यजमान को वेदि के पुरीष को रखकर दूसरे पुरीष का भी प्रक्षेपण करना चाहिए।[१३०]

आहवनीय अग्नि का उत्तरी एवं दक्षिणी भाग; जिन्हें क्रमशः उत्तर अंस एवं दक्षिण अंस कहा जाता है, को उन्नत बनाया जाता है। यह वेदि का पूर्वी भाग है। पश्चिमी भाग एवं गार्हपत्याग्नि के उत्तर तथा दक्षिण भाग को क्रमशः उत्तरश्रोणि एवं दक्षिणश्रोणि नामों से अभिहित किया जाता है। अध्वर्यु वेदि के पूर्वी एवं उत्तरी भाग को ढालू बनाता है। स्मरणीय है कि वेदि का मध्य भाग स्त्री की कटि तुल्य पतला बनाना चाहिए।[१३१] अब अध्वर्यु परिमार्जन करता हुआ वेदि का निरीक्षण करता

१२६क. द्र० काश्रौ० २/६/२५ (व्याख्या भाग) परिगृह्णाति परि समन्तात्स्फ्येन रेखाकरणादिना इयती वेदिरिति ज्ञापनार्थं परिगृह्णाति। हि.ध.शा., २/२, पृ० १०३६, टि० २३३३

१२७. वाराश्रौ १/३/१/४४ इति पश्चार्धादुदीचीं लेखां लिखति।... दक्षिणार्धात्प्राचीम्।... इत्युत्तरार्धात्प्राचीम्। तु० सश्रौ १/६/१४९-१५०।

१२८. द्र० श्रौ.प.नि., १८-१९-१५

१२९. वही, १/३/१/४६, इति द्व्यङ्गुलं खात्वा स्फ्येन मूलान्युद्धृत्योत्करे निवपति। - तु० काश्रौ २/६/३

१३०. १/३/१/४७ आहार्यपुरीषां पशुकामस्य कुर्यात्।'
तु० काश्रौ० २/६/४, मान०श्रौ १/२/४/१९

१३१. वाराश्रौ० १/३/२/१... इति सम्मृष्टामाहवनीय... संनतमध्यामन्तिक जघनाम्। - तु० सश्रौ १/६/१५१-१५३, भाश्रौ २/२/८/१२, आपश्रौ २/३/१/३

है तथा ब्रह्मा से अनुज्ञा लेकर उत्तर परिग्रह से संबद्ध कृत्यों का पूर्ववत् सम्पादन करता है। अन्त में वह स्फ्य द्वारा वेदि का सम्मार्जन करता है।[१३२] ध्यातव्य है कि वेदि सम्मार्जन एवं उत्तर परिग्रह के पूर्व ही हस्तप्रक्षालन एवं स्फ्य प्रक्षालन कृत्य भी विहित किया गया है। क्योंकि हस्त-प्रक्षालन के अभाव में वेदि का स्पर्श वर्जित है।[१३३]

प्रोक्षणी पात्रासादन

अध्वर्यु वेदि के पश्चिम भाग में स्थित होकर स्फ्य को तिरछा खड़ा करके आग्नीध्र को 'प्रोक्षणी पात्र रखो' 'इध्म वर्हि ले आओ', 'स्रुचों का सम्मार्जन करो', 'पत्नी का संनहन करो', 'आज्य को उठाओ' आदि अनेक प्रैष देता है और आग्नीध्र यथाप्रैष कार्यों का सम्पादन करता है।[१३४]

अध्वर्यु प्रोक्षणी पात्र को उत्पवन द्वारा पवित्र कर स्फ्य के पूर्व में जल से अभिपूरित करने के अनन्तर स्फ्य को उत्तर की ओर खींचता है।[१३५] अग्निहोत्रहवणी को स्फ्य की रेखा में जलसिञ्चन करते हुए स्फ्यस्थल पर स्थापित करता है। पहले स्थापित स्फ्य को उठाकर उसे पूर्व से पश्चिम दिशामुखी कर उत्कर में फेंक देता है।[१३५]

बर्हि एवं इध्मासादन

स्मर्तव्य है कि प्रोक्षणीपात्र के उत्तर में दक्षिण की ओर इध्म और उत्तर की ओर बर्हि की स्थापना की जाती है।[१३६]

स्रुक्-सम्मार्जन

---

१३२. वही, १/३/२/४, ५ वेदिमवोक्ष्य... इत्यामन्त्र्य परिगृह्णाति... सश्रौ १/६/१५२, मानश्रौ १२/४/२१

१३३. वही, १/३/२/३, पाणी प्रक्षाल्य स्फ्यं प्रक्षालयत्यप्रतिमृशन्नग्रम् - तु० भाश्रौ १/२/४/२०

१३४. वही, १/३/२/५-६, अपरस्मिन्वेदितृतीये... संप्रेष्यति। आग्नीध्रो यथाप्रेषितं करोति। तु० मानश्रौ १/२/५/२३-२४ सुश्रौ १/६/१५३

१३५. वाराश्रौ० १/३/२/७-८, तु० मानश्रौ० १/२५/२५

१३६. वही १/३/२/१०-११ ... उत्तरत आहवनीयस्य दक्षिणमिध्ममुत्तर बर्हिः। तु० मानश्रौ० १/२/५/२६

इस यज्ञ में सर्वप्रथम स्रुव, स्रुच् तथा प्राशित्रहरण आदि के सम्मार्जन का विधान है। एतदर्थ अब आग्नीध्र सूचों के सम्मार्जन एवं प्रतपन हेतु प्रवृत्त होता हुआ; सर्वप्रथम आहवनीय अथवा गार्हपत्याग्नि में वेद प्रसवों के द्वारा 'प्रत्युष्टँ रक्षः' इत्यादि (मै.सं.१.१.११) मन्त्रोच्चारण के द्वारा उन्हें प्रतप्त करता है तथा स्रुच-सम्मार्जन करता है।[१३७] प्रतप्त कर्म करने से पूर्व ही स्रुचों को चतुर्था विभक्त करने अथवा एक ही साथ सम्मार्जन करने का भी विधान किया गया है। ध्यातव्य है; कि सम्मार्जन कृत्य अग्नियों के आगे कुछ दूर हटकर सम्पादित करना चाहिए। इसी व्युत्क्रम से उपभृत् की सम्मार्जन विधि भी उपन्यस्त है। उपभृत् के अनन्तर ध्रुवा का भी सम्मार्जन एवं प्रतपन विधेय है।[१३८] ध्यातव्य है; कि इसी क्रम में वेद-प्रलवों (वेदाग्रों) से आभ्यन्तरिक एवं पार्श्व भागों का सम्मार्जन और मूल भागों से मुखादि (बाह्य) भागों का भी संमार्जन किया जायेगा।[१३९] अन्त में, अध्वर्यु सम्मार्जन में प्रयुक्त दर्भों को जल से अभ्युक्षण कर अग्नि में डाल देता है।[१४०] आचार्य कात्यायन के अनुसार वेदाग्रों को उत्कर में फेंक देना चाहिए।[१४१]

पत्नी-सन्नहन

मूँज के द्वारा बनी हुई एक रस्सी से यजमान की पत्नी के कटि प्रदेश के अधोवस्त्रों में सन्निविष्ट कर बाँधने की क्रिया का अभिधान पत्नी संनहन है।[१४२] स्रुचादि के सम्मार्जन के पश्चात् यजमान की पत्नी गार्हपत्य के पश्चिम-दक्षिण की दिशा में घुटने टेककर बैठती है।[१४३]

---

१३७. वही, १/३/२/११/१२, वेदप्रवैः स्रुचः सम्मार्ष्टि चतुर्वा विभज्याविभज्य वा। आहवनीये गार्हपत्ये वा ... इति प्रतितभ्यग्रे ...।
तु० मानश्रौ० १/२/४/२९, १/२/५/१-२,
सश्रौ १/७/१५६-५७, काश्रौ० २/६/३९-४०

१३८. वाराश्रौ० १/३/२/१३, १७ तु० मानश्रौ १/२/५/२८ सश्रौ १/७/१५८

१३९. वही, १/३/२/१३ अभ्यग्रे सपार्श्वाग्रैर्मुखानि मूलैर्दण्डान्। तु० भाश्रौ १/२/५

१४०. वही, १/३/२/१८ अभ्युक्ष्य संमार्गानग्नावनुप्रहरति। - तु० सश्रौ १/७/१५९

१४१. द्र० काश्रौ० २/६/४३ सम्मार्जनान्यपास्यति।'

१४२. पत्नीसन्नहन हेतु द्रष्टव्य हि. ध. शा, भाग २/२, पृ० १०४०, पाटि २३४१, तथा तैब्रा० ३/३/३

१४३. वारा०श्रौ १/३/२/१९-२० इति दक्षिणतः पश्चाद्गार्हपत्यस्योपविशति प्रभुज्यजानुनी। तु० सश्रौ १/७/५९, मानश्रौ० १/२/५/१०-११, काश्रौ २/७/१

अध्वर्यु सन्नहन हेतु मूँज की एक रज्जु को ग्रहण कर उससे पत्नी की कटि में वस्त्र के नीचे घेरा डालता है।[१४४] घेरा डालने के बाद उस रस्सी में गाँठ लगाता है। पुनः नाभि के दक्षिण ग्रन्थि करके उसी तरफ खींच लेता है।[१४५] तदनन्तर जलस्पर्श कर वेद के साथ आज्य ले आता है[१४६] और पत्नी के द्वारा "अदब्धेन त्वा०" इत्यादि मन्त्र (मै.सं.१.१.११) के द्वारा आज्यावेक्षण किया जाता है। स्मर्तव्य है कि आज्यावेक्षण कृत्य के पूर्व पत्नी आँख बन्द कर पुनः खोलती है।[१४७] तदनन्तर अध्वर्यु आज्य को गार्हपत्य और दक्षिणाग्नियों पर गर्म करता है[१४८] और दूसरी बार वह पुनः आज्य का अधिश्रयण कर आहवनीय पर उसे अधिश्रित करता है तथा आज्यस्थाली को स्फ्य-मार्ग (स्फ्य से खींची हुई रेखा) पर प्रोक्षणी पात्र के उत्तर में स्थापित करता है।[१४९] आज्य का तीन बार उत्पवन करने के बाद पुनः उसका जल से उत्पवन कर अध्वर्यु और यजमान द्वारा आज्य का अवेक्षण किया जाता है।[१५०] इसके उपर्यन्त आग्नीध्र द्वारा वेदि के मध्य में वेद पर आज्यस्थाली स्थापित कर उसमें से आज्य ग्रहण किया जाता है। इस कृत्य में अध्वर्यु सर्वप्रथम स्रुव में पवित्र स्थापित कर जुहू के द्वारा "धामासी०" इत्यादि मन्त्र (मै.सं.१.१.११) पढ़ता हुआ बार-बार आज्य का ग्रहण करता है। इसी प्रकार उपभृत में भी आठ बार आज्य ग्रहण करता है। जुहू की अपेक्षा उपभृत् में आज्य की मात्रा कम होती है। अवधेय है कि ध्रुवा में वह चार बार आज्य ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त पशु की कामना करने वाले व्यक्ति को पाँचवी बार प्रचुर मात्रा में आज्य ग्रहण करना चाहिए।[१५१]

---

१४४. वाराश्रौ १/३/२/२१ योक्त्रेण पत्नी संनह्यतेऽन्तर्वस्त्रम्...इति। मानश्रौ १/२/५/१२, सश्रौ १/७/१/६०
१४५. वही, १/२/३/२२-२३, इति ग्रन्थिं करोति।... इति दक्षिणतो ग्रन्थिमभ्यूहति।
१४६. वही, १/२/३/२४ अपः स्पृष्ट्वा वेदेनाज्यमुपहरति। - तु० सश्रौ १/७/१६२
१४७. वही, १/३/२/२५
१४८. वही, १/१/१/२५
१४९. वही, १/३/२/२५-२९... इत्याहवनीयेऽधिश्रित्योत्तरतः प्रोक्षणीनां स्फ्यस्य वर्त्मन्सादयति। तु० मानश्रौ १/२/५/१३-१६ सश्रौ १/६/१६२-६३
१५०. वही, १/३/२/३०-३१ पर्यायैस्त्रिराज्यमुत्पूयाप उत्पुनाति।... इत्याज्यमवेक्षते। तु० मानश्रौ० १/२/५/१७, १८, सश्रौ १/६/१६४-६५ काश्रौ २/७/८
१५१. वारा.श्रौ० १/३/२/३२-३३, तु० आपश्रौ २/७/२-४, सश्रौ १/६/१६५-६८, मान. श्रौ. १/२/५/१९, काश्रौ० २/७/९/१५

इध्म, बर्हि, वेद-प्रोक्षण

तदनन्तर अध्वर्यु प्रोक्षणी जल का 'देवीराप: शुद्धा०'' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.१.१.११) के द्वारा प्रोक्षण करता है। एतदर्थ वह ब्रह्मा से प्रोक्षण हेतु अनुज्ञा लेता है।[१५२] तदनन्तर क्रमश: तीन-तीन बार इध्म तथा वेद का प्रोक्षणी जल से प्रोक्षण करता है।[१५३] तब कुश के गठ्ठर को वेदि के मध्य भाग में स्थापित कर उसका तीन बार प्रोक्षण करता है। इस गठ्ठर के प्रोक्षण में क्रमश: उसके अग्र भाग, मध्य भाग एवं मूल भाग का प्रोक्षण करता है।[१५४] इसके बाद कुश के अग्रभाग को अग्निहोत्र-हवणी के जल में डुबोकर, ग्रन्थि का परिषेचन करता हुआ कुश के मूल भाग का जल द्वारा उपसिञ्चन करता है।[१५५] वेदि की दक्षिण-श्रोणि से उत्तर-श्रोणि-पर्यन्त अवशिष्ट प्रोक्षणी जल को गिराकर अध्वर्यु 'पूषा ते ग्रन्थिम्०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.१.१.१२) के द्वारा कुश के गठ्ठर की ग्रन्थि को खोलता है।[१५६] गठ्ठर में स्थापित प्रस्तर को दो पवित्रों से संयुक्त कर उसे पूरब की ओर आहवनीय तक ले आता है। अब अध्वर्यु उसे ब्रह्मा अथवा यजमान को देता है। वे दोनों उसे ग्रहण करते हैं।[१५७]

बर्हि आस्तरण[१५८]

तदनन्तर वेदि में कुशों का आच्छादन करने के लिए अध्वर्यु बर्हि आस्तरण कृत्य का सम्पादन करता है। एतदर्थ वह प्रस्तर प्रदान के बाद रस्सी को वेदि के दक्षिण भाग में उत्तरांस तक रखकर कुशों को बिछाता

---

१५२. वही, १/३/३/१-२,

१५३. वही, १/३/३/३ इति इध्मं... इति वेदिं... इति बर्हिस्त्रिस्त्रि: प्रोक्षति। - तु० मानश्रौ १/२/५/२३, सश्रौ १/७/१६८, काश्रौ २/७/१६

१५४. वही, १/३/३/४, इत्यन्तर्वेद्यासाद्य बर्हिस्त्रि: प्रोक्षति...इत्यग्रम्.... इति मध्यं... इति मूलम्। तु० सश्रौ १/१/७/१६८, मावश्रौ १/२/५/२७

१५५. वाराश्रौ० १/३/३/५, अग्राण्युपपाय्य ग्रन्थिं परिषिच्य मूलान्युपसिञ्चति।

१५६. वही, १/३/३/६... इति दक्षिणतो वेद्या: प्रोक्षणी शेषं निनीय... इति ग्रन्थिं विस्रस्य. ..। तु० सश्रौ १/७/१६९, मानश्रौ. १/२/५/२८

१५७. वही, १/३/३/६-८, इति प्रस्तरे पवित्रे विसृज्य... इति प्रस्तरं सहपवित्रमाहवनीयतोऽभि गृह्णाति।... ब्रह्मणे यजमानाय वा प्रयच्छति... इति प्रतिगृह्णाति।
तु० भाश्रौ० २/८/९, सश्रौ १/७/१६९, मानश्रौ १/२/६/१-५, काश्रौ २/७/१८

१५८. द्र० श्रौ.प.नि., २०-१६०।

है।[१५९] ध्यातव्य है कि रस्सी का आधान अपत्नीक व्यक्ति को वेदि में उत्तर पूर्व की ओर करके करना चाहिए।[१६०] तदनन्तर अध्वर्यु तीन मुट्ठी कुश का भी प्रयोग करता है। बर्हिरास्तरण कृत्य को पूरब या पश्चिम से प्रारम्भ कर पश्चिम या पूर्व में सम्पादित करना चाहिए।[१६१] ज्ञातव्य है कि वेदि में बर्हि आच्छादन इतना घना होना चाहिए कि पहले से बिछाये गये कुश-मूल की पंक्ति बाद में बिछाये जाने वाले कुश के अग्रभागों की पंक्ति को आच्छादित कर ले।[१६२]

परिधि-आधान

बर्हि आस्तरण के अनन्तर अध्वर्यु हाथ में प्रस्तर लेकर प्रज्वलित आहवनीयाग्नि में समिधाओं का आधान करता है। वह प्रथम परिधि का आधान आहवनीय के पश्चिमार्ध संस्तृत कुशों के ऊपर, दक्षिण से उत्तर की ओर करने के अनन्तर द्वितीय परिधि को आहवनीय के दक्षिणार्ध में पूरब की ओर स्थापित करता है। तृतीय परिधि का आधान आहवनीय के उत्तरार्द्ध में पूरब की ओर करता है। स्मर्तव्य है कि इन तीनों समिधाओं के आधान काल में क्रमशः "गन्धर्वोऽसि०" "इन्द्रस्य बाहुरसि०"[१६३] तथा 'मित्रावरुणौ त्वा०' (मै.सं.१.१.१२) इन मन्त्रों का विनियोग अध्वर्यु को करना चाहिए।[१६४] ध्यातव्य है कि द्वितीय तथा तृतीय समिधाओं को मध्यम परिधि (प्रथमतः स्थापित) के मूल एवं अग्र भाग से क्रमशः स्पर्श करती हुई स्थापित करना चाहिए।[१६५] तत्पश्चात् अध्वर्यु वेदि से आयतन

---

१५९. वाराश्रौ १/२३/२, ९,११, तु० वैखाश्रौ० १६/६/५, ६, सश्रौ १/८/१७० काश्रौ २/९/१९, मानश्रौ १/२/६/६

१६०. वाराश्रौ० १/३/३/१० पश्चार्धादुदगग्रमपत्नीकस्य निदध्यात्।

१६१. वही, १/३/३/१२, पूर्वं पूर्वं धातुमपरमपरम् वा स्तृणाति। तु० सश्रौ १/८/१७१, काश्रौ २/७/२२/२३, मानश्रौ १/२/६/७

१६२. वही, १/३/३/१३, छादयन्मूलानि... दधाति वेदिम्। तु० काश्रौ २/७/२१, सश्रौ १/८/१७१

१६३. द्र० मं.सं. १/१/१२

१६४. वाराश्रौ० १/३/३/१४, प्रस्तरहस्तः परिधिभिराहवनीयं परिदधाति ... उत्तरार्ध्यं प्राञ्चम्। तु० सश्रौ १/८/१७१, काश्रौ २/८/१/४, वैखा.श्रौ १६,६/५. ६, भाश्रौ २/८/२-४, मानश्रौ १/२/६/१०-११

१६५. वाराश्रौ १/३/३/१५, तु० सश्रौ १/८/१७१, काश्रौ २/८/२/३

के ऊर्ध्वाग्र (दक्षिण) में आधार समिधा के रूप में 'नित्यहोतारं त्वा०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.१.१.१२) का उच्चारण करते हुए एक समिधा स्थापित करता है तथा उत्तर में द्वितीय आधार-समिधा का आधान चुपचाप करता है।[१६६] समिधाओं का आधान करने के बाद अध्वर्यु 'सूर्यस्त्वा०' इत्यादि मन्त्र का जाप करता है।[१६७]

आज्य-आसादन

अध्वर्यु कुशों से आच्छादित वेदि के मध्य में आकर कुशों के गठ्ठर से विधृतिसंज्ञक[१६८] दो कुशों को ग्रहण करता है और उनके ऊपर प्रस्तर आसादित करने से पूर्व विधृतियों को उत्तराग्र स्थापित करके पूर्वाग्र प्रस्तर का आधान करता है। स्मर्तव्य है कि विधृति-संज्ञक दोनों कुश लम्बाई में समान एवं पत्रों से रहित हों।[१६९] तदनन्तर, "द्यौरसि०" इत्यादि मन्त्र (मै.सं.१.१.१२) के द्वारा प्रस्तर के ऊपर जुहू को आसादित करता है।[१७०] अब अध्वर्यु जुहू का हत्था प्रस्तर के मूल के बराबर करता है।[१७१] जुहू के उत्तर विधृतियों के नीचे उपभृत् स्थापित करने के बाद उपभृत् के उत्तर एवं विधृतियों के ऊपर ध्रुवा का आसादन करता है।[१७२] स्मरणीय है कि इन तीनों का आधान करते हुए तीनों का आपस में एक दूसरे से स्पर्श न होने पाये।[१७३] तदनन्तर जुहू के दक्षिण में आज्य-युक्त स्रुव को रखकर वह पुनः आज्यस्थाली की स्थापना यथास्थान करता है।

---

१६६. वही, १/३/३/१५, ऊर्ध्वे समिधावादधाति... इति। तूष्णीमुत्तराम्। तु० सश्रौ० १/८/१७२

१६७. वही, १/३/३/१६

१६८. द्र० श्रौ.प.नि., पृ० २०, १६२

१६९. वाराश्रौ० १/३/३/१६-१८, अप्रच्छिन्न प्रान्तौ दर्भावनन्तर्गर्भावुदगग्रौबर्हिषि... इति। विधृत्योः प्रस्तरं... इति। सु० श्रौ.प.नि., २०/१६२, काश्रौ २/८/५/१०, सश्रौ० १/८/१७९, मावश्रौ० १/२/६/१२-१३

१७०. वारा०श्रौ, तत्रैव, इति प्रस्तरे जुहूम्। तु० मानश्रौ १/२/६/१४, सश्रौ १/८/१७२

१७१. वही, १/३/३/१९, समं प्रस्तरं मूलैर्दण्डं करोति। तु० मानश्रौ १/२/६/१५-१६, सश्रौ १/८/१७२

१७२. वही, १/३/३/२०, इति उत्तरामुपभृतमधस्ताद्विधृत्योः। तु० सश्रौ १/८/१७३, मानश्रौ १/२/६/१६

१७३. वही, १/३/३/२१, तु० सश्रौ १/८/१७३, मानश्रौ १/२/६/१६

तत्पश्चात् अध्वर्यु आज्य का अभिमर्शण करता है।[१७४] स्मरणीय है कि आज्य का अधिश्रयण गार्हपत्याग्नि पर ही होना चाहिए और तत्पश्चात् आज्य आसादन।

हवियों का आधान

आज्यासादन के बाद अध्वर्यु पुरोडाश पात्री को आज्य से उपस्तृत कर उसमें पुरोडाशों को स्थापित करता है।[१७५] सर्वप्रथम आग्नेय पुरोडाश का "सुरूपंत्वावसुविदम्." इत्यादि मन्त्र द्वारा अभिघारण कर अन्य पुरोडाशों का अभिघारण विहित देवों के नामों के अनुसार करता है।[१७६] स्मर्तव्य है कि पुरोडाशों को पात्री में स्थापित करते समय टूटने या उलटने से बचाना चाहिए। बचे हुए पुरोडाशों को ही पात्री में स्थापित करना चाहिए।[१७७] पुनः कपालों का अभिघारण कर पुरोडाशों को स्रुव के आज्य से वह इस प्रकार चिकना करता है; कि जिससे पुरोडाश के पृष्ठ भाग पर चितकबरे रूप में आज्य बिन्दु दृष्टि-गोचर न हो सकें।[१७८] तत्पश्चात् अध्वर्यु आज्य के द्वारा पुरोडाशों के भीतरी भागों का अलङ्करण करता है।[१७९] वह अन्त में स्थापित हवियों को स्पर्श कर 'ममाग्ने वर्च०' इत्यादि मन्त्र के द्वारा आठ बार जाप कर चतुर्होतृ मन्त्र का पाठ करता है। ध्यातव्य है कि चतुर्होतृ मन्त्रों का पाठ प्रजा-कामी यजमान हेतु ही विहितव्य है।[१८०]

होतृषदन का निर्माण

१७४. वही, १/३/३/२२-२३, इति दक्षिणतो जुह्वाः पूर्णस्रुवं सादयति। इत्याज्यानि सम्मृशति। तु० सश्रौ. १/८/१७३

१७५. वही, १/३/३/२४, इति पात्र्यामुपसतीर्य अभिघार्य हवींषि उद्वासयति।... इति। मानश्रौ. १/२/६/१९/२०

१७६. वाराश्रौ० १/३/३/२५ इत्याग्नेयमभिघारयति यथादेवमुत्तरम्। तु० भाश्रौ १/२/६/१८

१७७. वही, १/३/३/२६, अनभिघ्नन्नपर्यावर्तयन्वेदेन प्रमृज्य पात्र्यामववधाति। तु० वैता०श्रौ १६/८, ५/८, सश्रौ १/८/१७४, मानश्रौ १/२/६/२२

१७८. वही, १/३/३/२८, तु० सश्रौ १/८/१७६, आपश्रौ २/११/३

१७९. वही, १.३.३.२९, अधस्तादुपाज्य दोहावलंकरोति... इति। तु० मानश्रौ० १/२/६/१५, सश्रौ १/८/१७६, आपश्रौ २/११/३

१८०. वही, १/१/२/२५-२६, इति अष्टाभिर्वैहवीभिः ...। चतुर्होत्रा च पौर्णमास्यां प्रजाकामः। तु० सश्रौ० ६/३/५१५

ज्ञातव्य है कि वेदि के उत्तरी श्रोणि के उत्तर देश में होता के बैठने के लिए प्रयुक्त स्थान को होतृषदन कहा जाता है।[१८१] एतदर्थ अध्वर्यु वेदि के उत्तरी श्रोणि के उत्तर भाग में होता के बैठने के लिए आसन बनाता है। सर्वप्रथम वह वेदि के चारों कोणों में कुशों का आस्तरण करता है। तदनन्तर दर्भों के द्वारा होता के आसन का निर्माण करता है तथा होता को सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन के लिए प्रैष करता है।[१८२]

सामिधेनी अनुवचन

अवधेय है कि होता जिन ऋचाओं के द्वारा अग्नि को प्रज्वलित करता है वे सामिधेनी ऋचाएँ कहलाती हैं।[१८३] उनका पाठ करना ही सामिधेनी अनुवचन है। एतदर्थ अध्वर्यु प्रैष देते समय एक समिधा ग्रहण किये रहता है तथा होता वेदि के उत्तर श्रोणि में खड़ा होकर दश-होतृ मन्त्र का पाठ सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन के पूर्व ही करता है।[१८४] कतिपय आचार्यों के अनुसार दशहोतृ मन्त्रों का पाठ यजमान हेतु भी विहित है।[१८५] इसी समय होता द्वारा उपांशु स्वर में तीन बार हिंकार कर के ग्यारह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन किया जाता है। एतदर्थ होता द्वारा प्रथम सामिधेनी ऋचा के पाठ के साथ यजमान द्वारा 'अङ्गिरसोमास्य०' का पाठ किया जाता है।[१८६] प्रत्येक ऋचा के अन्त में वह प्रणव का प्रयोग करता जाता है। प्रथम और ग्यारहवीं ऋचा का पाठ तीन-तीन बार करता है। अध्वर्यु होता के 'प्रणव' उच्चारण के अनन्तर ही अग्नि में समिधाओं को डाल देता है[१८७] और अग्नि के प्रज्वलित होने पर यजमान 'समिद्धो अग्निराहुतः' इत्यादि मन्त्र का पाठ करता

---

१८१. वाराश्रौ० १/३/३/३१, वेद्ययन्तान्परिस्तीर्यहोतृषदनमास्तीर्य------इति संप्रेष्यति। तु० मानश्रौ० १२/६/२८-३० तथा १/३/१/१, सश्रौ १/८/१७८ सश्रौ २/११/१२-१३/१४, काश्रौ० ३/१/१
१८२. द्र० शब्रा० १/३/५/१ समिन्धे सामिधेनिभिर्होता तस्मात्सामिधेन्यो नाम्। तथा हि. ध.शा., २/२ पृ० १०४८, वा.टि. २३५१
१८३. वाराश्रौ १/१/२/२७, इति दशहोतारं पुरस्तात्सामिधेनीनाम्।
१८४. द्र० सश्रौ ६/३/५१५
१८५. द्र० श्रौ.प.नि., पृ० २७, प २१९
१८६. वाराश्रौ० १/१/२/२८, तु० सश्रौ ६/३/५१५, आपश्रौ ४/९/२
१८७. वही, १/३/४/१ प्रणवे प्रणवे समिधमादधाति तु० मानश्रौ १/३/१/१ सश्रौ २/१/१७९

है।[१८८] अध्वर्यु (दशम ऋचा के उच्चारण के पूर्व) अन्तिम मन्त्रों से अनुयाज के लिए समिधा बचाकर रख लेता है और शेष सभी समिधाओं का आधान कर देता है।[१८९] तदनन्तर वह निगद का पाठ कर घुटनों के बल बैठता है तथा मन्त्रोच्चारण कर स्वाहाकार के अन्त में समिधाधान करता है।[१९०]

आघार आहुतियाँ[१९१]

(क) पूर्वाघाराहुति - सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन द्वारा अग्नि में समिधाधान के पश्चात् अध्वर्यु आघार आहुतियाँ समर्पित करता है। एतदर्थ वह सर्वप्रथम प्रज्वलित अग्नि (आहवनीय) के ऊपर वेद के द्वारा तीन बार पंखा डुलाता है[१९२] और वेदि का पूर्व दिशा से सम्मार्जन करता है। तदनन्तर वह ध्रुवा में से स्रुव में आज्य ग्रहण कर उत्तर पश्चिम परिधि-सन्धि से प्रारम्भ कर वेदि के दक्षिण पूर्व परिधि-सन्धि पर्यन्त निरवच्छिन्न धारा के रूप में आघार आहुति समर्पित करता है।[१९३] यह आहुति प्रजापति के निमित्त 'प्राजापतये स्वाहा०' इत्यादि मन्त्र के द्वारा प्रजापति का मानस ध्यान करते हुए अर्पित करनी चाहिए।[१९४] इस आहुति की ही पूर्वाघार संज्ञा है।

अग्नि सम्मार्जन

तदनन्तर 'समृड्ढ०'' इत्यादि का उच्चारण कर अध्वर्यु आग्नीध्र को अग्नियों के सम्मार्जन हेतु प्रैष देता है। आग्नीध्र परिधियों के आधान

---

१८८. वही, १/१/२/२८ ... इति समिद्धम्। सश्रौ ६/३/५१५

१८९. वही, १/३/४/१ ... अनुयाज समिधमवशिष्य तु० आपश्रौ २/१२/६, सश्रौ २/१/१७९

१९०. वही, १/१/१/२९, आसीनो जुहुयाज्जान्वन्को निगद्य स्वाहाकारान्तम्।

१९१. आघार शब्द कर्मनामधेय है, गुणविधि नहीं। एतदर्थ, द्र० जै०सू० १/४/४

१९२. वाराश्रौ १/३/४/२ समिद्धमग्निं त्रिर्वेदेनोपवाजयत्यग्रं वेद्याः संमार्गम्।-तु० मानश्रौ १/३/१/४, सश्रौ २/१/१८०, काश्रौ ३/१/१२

१९३. वही, १/३/४/३, ध्रुवायां पूर्ण स्रुवमवनीय ध्रुवाया उपहत्योतरेण परिधिसन्धिना... आघारमाघारयति। तु० आपश्रौ० २/१२/७ मानश्रौ १/३/१/५, काश्रौ ३/१/१२, सश्रौ २/१/१८०

१९४. वही, १/३/४/३, प्राजापतये स्वाहा इति मनसा। तु० मानश्रौ १/३/१/५

क्रम के अनुसार प्रत्येक परिधि एवं अग्नि का तीन-तीन बार सम्मार्जन करता है।[१९५] स्मर्तव्य है कि सम्मार्जन कृत्य का विधान इध्मसंनहन में प्रयुक्त कुशों से युक्त स्फ्य के द्वारा ग्रहण करके करना चाहिए।[१९६] परिधियों के सम्मार्जन के पश्चात् वह अग्नि का तीन बार सम्मार्जन करता है।

उत्तर आघार आहुति

अग्नि सम्मार्जन के पश्चात् अध्वर्यु उत्तराघार आहुति के समर्पण हेतु आहवनीय अग्नि के पश्चिम में 'सप्रथानम०' इत्यादि का उच्चारण करता हुआ अञ्जलि बाँध कर वन्दना करता है।[१९७] जुहू एवं उपभृत् को ग्रहण कर 'सुयमे अद्यस्त०' इत्यादि मन्त्र द्वारा उन्हें अभिमन्त्रित कर 'अग्नाविष्णू'[१९८] इत्यादि (मै.सं.१.१.१३) के द्वारा दक्षिण में खड़ा होता है।[१९९] ध्यातव्य है कि अध्वर्यु को वेदि के मध्य में दायाँ पैर रखकर बायें पैर के अग्रभाग से तथा दक्षिण पैर के पिछले भाग को स्पर्श करते हुए खड़ा रहना चाहिए।[२००] तदनन्तर दक्षिण पश्चिम परिधि-सन्धि से प्रारम्भ कर उत्तरपूर्व की परिधि-सन्धिपर्यन्त उत्तर आघार की आहुति के रूप में पूर्वाघाराहुति की तरह अटूट धारा के रूप में आहुति डालता है।[२०१] यह आघाराहुति इन्द्र देवतार्थ जुहू के आज्य से प्रदान की जाती है।[२०२]

उल्लेख्य है कि द्वितीयाघार आहुति जुहू के आज्य से स्वर्ग की

---

१९५. वही, १/३/४/४ अग्नीत्परिधींश्चाग्निं च त्रिस्त्रिः इति संप्रेष्यति। तु० मानश्रौ १/३/१/७, सश्रौ २/१/१८१, काश्रौ ३/१/१२

१९६. वही, १/३/४/५ स्फ्येन संमार्ष्टि इध्म संनहनैश्च परिधीन्।

१९७. वाराश्रौ १/३/४/६ सप्रथानमु इति पुरस्ताज्जुहूमृतोरञ्जलिं करोति। सु० सश्रौ २/१/१८२

१९८. मै०सं०, १/१/१३

१९९. वारा०श्रौ० १/३/४/७-९, इति जुहूमादते। ... इति उपभृतम्। इत्यभिमन्त्र्य ... इति अतिक्रामति। ... इत्यवतिष्ठते। तु० मानश्रौ १/३/१/१२, सश्रौ २/१

२००. वही, १/३/४/१०, अन्तर्वेदि दक्षिणतः पादो भवत्यवघ्र इव सव्यः। तु० मान०श्रौ १/३/१/१४, सश्रौ २/१/१८३

२०१. वही, १/३/३/११, १२ आघारमाघारयति ... इति प्रागुदञ्चं.........। तु० मानवश्रौ १/३/१/१५, सश्रौ २/१/१८३, काश्रौ ३/२/१

२०२. वही, १/१/२/३०

कामना करने वाले यजमान को अग्नि में अविच्छिन्न रेखा के रूप में ऊपर करके तथा शत्रुओं के विनाश की कामना करने वालों को नीचे करके अर्पित करने का प्राविधान है।[२०३]

ध्रुव समञ्जन[२०३अ] –

अध्वर्यु द्वितीय आघार के उपर्यन्त पुनः अपने आसन पर लौट आता है। जुहू एवं उपभृत् को उत्तर में इस प्रकार स्थापित करता है; कि जिससे वे दोनों आपस में स्पर्श न कर सकें।[२०४] तदनन्तर जुहू में अब स्थित आज्य द्वारा ध्रुवा को तीन बार समञ्जित करता है।[२०५] ध्रुवा का अभिघारण कर स्रुचों को आयतन में स्थापित करने के बाद स्रुव में ध्रुवा का आज्य ग्रहण करके जुहू का प्रत्यभिघारण करता है। अब वह पुनः ध्रुवा को जुहू के आज्य से अभिघारता है।[२०६]

प्रवर-वरण[२०७]

तदनन्तर अध्वर्यु यजमान के कुल में उत्पन्न सर्वाधिक वृद्ध (श्रेष्ठ पूर्वज) के वरण हेतु वेदि के उत्तर में दक्षिणाभिमुख होकर सम्मार्जित स्फ्य को दोनों हाथों में ग्रहण कर ब्रह्मा से प्रवर-वरण के लिए आज्ञा लेता है और आश्रावण करता है। इसी समय आग्नीध्र के पीछे वेदि में संस्तृत कुशों को स्फ्य पर रखकर वह प्रत्याश्रावण करता है।[२०८] तदनन्तर अध्वर्यु यजमान के कुलोत्पन्न ऊर्ध्व ऋषि (सर्वाधिक

---

२०३. वाराश्रौ १/३/४/१२ सन्ततमूर्ध्वस्वर्गकामस्यन्यञ्चं द्वेष्यस्य। सु० मै.स. १/४/१२

२०३अ. समञ्जन हेतु द्र० सश्रौ २/१/१८५ एवं उसकी व्याख्या – समञ्जनं बिन्दुमात्रप्रक्षेपेण प्रत्यभिघारणं किंचिद्धारकरणेनेति भेदेनोपादनं धात्वोः। तथा पी०बी० काणे, हि ध शा २/२/१०५२-५३ या टि २३६३

२०४. वही, १/३/४/१३ असंस्पर्शयन्स्रुचौ प्रत्यतिक्रामति ...। तु० मान०श्रौ १/३/२/१८, २/१/१८४

२०५. वही, १/३/४/१४ जुहा ध्रुवां त्रिः समनक्ति ... इति।
तु० मान०श्रौ १/३/२/१९, सश्रौ० २/१/१८४-८५

२०६. वही, १/३/४/१५-१७, तु० मान०श्रौ १/३/२/१९-२२, काश्रौ ३/२/२

२०७. द्र० श्रौ प नि २५, प० २००, २०

२०८. वारा०श्रौ १/३/४/१८ उत्तरतः प्रवरायावतिष्ठते। स्फ्य संमार्गं पाणौ कृत्वापर आग्नी ध्रो वेद्यास्तृणमव्यन्तमपादायाह ... इत्यामन्त्र्याश्राव्य प्रत्याश्रुतः------इति। तु० मान०श्रौ १/३/१/२४-२५, सश्रौ २/१/१८५-८८

प्रबृद्ध) पूर्वजों का वरण 'अग्निदेवो दैव्यो होता०' इत्यादि मन्त्र के द्वारा करता है।[२०९] ध्यातव्य है कि वरण के समय 'देवा पितर०' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रवर (पूर्वज) का नाम ग्रहण करना चाहिए।[२१०] साथ ही साथ यहाँ यह भी स्मर्तव्य है कि अब्राह्मण यजमान का प्रवर वरण पुरोहित के प्रवर से ही होगा।[२११] अन्त में 'ब्रह्मण्वदा च वक्षद्ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्यप्रावितार०' इस मन्त्र को विनियुक्त करता है।[२१२] अध्वर्यु प्रवर का वरण करते हुए होता का नाम उपांशु स्वर में लेता है और उच्च स्वर से मानुष का उच्चारण करता है।[२१३] इसी समय होता उठकर पृथ्वी का स्पर्श कर चतुर्होतृ मन्त्रों (मै.सं.१.९.१) का पाठ करता है।[२१४] कतिपय आचार्यों ने वरणीय प्रवरों की संख्या क्रमशः एक, दो एवं तीन अथवा पाँच तक निर्धारित की है।[२१५] तदनन्तर होता निगदों[२१६] से यजनीय देवों का आह्वान करता है।[२१७]

प्रयाज याग

प्रधान याग से पूर्व यजनीय याग की प्रयाज याग संज्ञा है।[२१८] इसमें पाँच प्रयाजों द्वारा वसन्तादि पाँच ऋतुओं का यजन किया जाता है। हेमन्त और शिशिर की एक संख्या कल्पित कर पाँचवें प्रयाज द्वारा यजन विहित है।[२१९] निगदों के पाठ द्वारा देवताओं का आह्वान करते हुए

---

२०९. वही, १/३/४/१८-१९- ऊर्ध्वानृषीन् मन्त्रकृतो यजमानस्य प्रवृणीते। तु० मान०श्रौ १/३/१/२६

२१०. वही, १/१/२/३१

२११. वही, १/३/४/२० पुरोहित प्रवरेणाब्राह्मणस्य। तु० मान०श्रौ १/३/१/२८

२१२. वही, १/३/४/२१

२१३. वारा०श्रौ १/३/४/२२ होतुरुपांशु नामादिशति मानुष इति उच्चैः।
तु० मान०श्रौ १/३/१/२६, भाश्रौ २/२५/१२-१३, सश्रौ० २/१/१८८

२१४. वही, १.१.२.३२- पृथ्वी होतेति चतुर्होतारम्।
तु० सश्रौ २१/२११८

२१५. दे० मान०श्रौ १/३/१/२६, यजमानस्यर्षीन्प्रवरं एवं द्वौ त्रीन् पञ्च वा।

२१६. द्र० श्रौ.प.नि. २५/२०२

२१७. द्र० तैसं० २/५/९/४, तैब्रा ३/५/३, श.ब्रा. १/४/३/१६-१७

२१८. द्र० श्रौ.प.नि. ३०, २४७

२१९. वाराश्रौ १/१/३/१ ... इति प्रयाजान्।

होता 'घृतवती' के उच्चारण द्वारा अध्वर्यु को स्रुचों के आदान हेतु प्रैष देता है।[२२०] तदनन्तर अध्वर्यु स्रुचों को लेकर पाँच प्रयाज आहुतियों के निमित्त प्रयाज मन्त्रोच्चारण के लिए होता को प्रैष देता है। ध्यातव्य है कि अध्वर्यु प्रथम प्रयाज मन्त्र कथन हेतु 'समिधो यज.' इस आदेशवाक्य द्वारा पैष देता है। शेष चार प्रयाजमन्त्र कथन के निमित्त 'यज' मात्र कहकर ब्रह्मा सम्प्रैष करता है।[२२१] आहवनीय अग्नि में प्रथम तीनों आहुतियों को जुहू के आज्य से एवं शेष दोनों आहुतियों को उपभृत के अर्ध-आज्य को जुहू में ग्रहण कर प्रदान करता है।[२२२] स्मर्तव्य है कि पाँचों प्रयाज आहुतियाँ आघार संभेद में एक दूसरे से स्पर्श करती हुई प्रदान की जाती है।[२२३] दो आहुतियाँ अग्नि एवं सोम देवता के निमित क्रमशः उत्तरार्ध एवं दक्षिणार्ध भाग में दी जाती हैं।[२२४] इसके अनन्तर आहुतियों से ही हवियों का अभिघारण करते हुए वह जुहू एवं उपभृत् को वेदि के अन्दर रख़ देता है।[२२५] स्मरणीय है कि प्रयाज याग के पूर्व ही चतुर्होतृ मन्त्रों का पाठ भी विहितव्य है।[२२६]

आज्य-भाग

प्रयाज-याग के अनन्तर अध्वर्यु द्वारा आज्य की दो आहुतियाँ क्रमशः अग्नि एवं सोम देवता के निमित्त प्रदान की जाती हैं।[२२७] एतदर्थ अध्वर्यु वेदि के उत्तरार्ध में खड़ा होकर स्रुव द्वारा जुहू में चार बार आज्य ग्रहण कर प्रज्ज्वलित अग्नि में अग्नि देवताक आहुतियाँ अर्पित करता है। आहवनीय अग्नि के दक्षिणार्द्ध प्रज्ज्वलिताग्नि में वह सोम देवताक दूसरी आहुति प्रदान करता है।[२२८] ज्ञातव्य है कि अध्वर्यु द्वारा जमदग्नि गोत्र

२२०. वारा०श्रौ १/३/४/२३ घृतवतीति संप्रेष्यति।
२२१. वही, १/३/४/२४ 'स्रुचावादाय समिघो यजेति प्रथमं सम्प्रेष्यति यजयजेत्युत्तरान्'। तु० मान०श्रौ. १/३/२/२, आपश्रौ २/१७/२ भाश्रौ २/१६/७, सश्रौ० २/२/१९९
२२२. वही, १/३/४/२५ त्रीनिष्ट्वोपभृतोऽर्धं जुह्वमानीयोत्तरौ यजति। मान०श्रौ १/३/२/३-४
२२३. वही, १/३/४/२६ पञ्चप्रयाजानुत्तरेणाघार संभेदँ समानत्र यजति।
२२४. वही, १/३/४/२८; २२५. वही, १/३/४/२७, तु० सश्रौ २/२/२००
२२६. वही, १/१/२/३२ इति चतुर्होतारं पुरस्तात्प्रयाजानाम्।
२२७. वाराश्रौ १/१/३/२ इत्याज्यभागौ।
२२८. वही, १/३/४/२८ ज्योतिष्मत्याज्यभागौ यजत्याग्नेयमुत्तरार्धे सौम्यं दक्षिणार्धे तु० वै.श्रौ. १७, ७, ६, ७, सश्रौ २/२/२०१, मान०श्रौ १/३/२/६

वाले यजमान हेतु स्रुव में ध्रुवा के आज्य को पाँच बार ग्रहण करने का विधान किया गया है; साथ ही साथ अन्य गोत्रीय यजमान के लिए चार बार आज्य ग्रहण करने का भी विधान उपन्यस्त है।[२२९]

प्रधान याग[२२९क]

अध्वर्यु ध्रुवा के आज्य से पुरोडाशों को उपस्तृत कर हवियों से प्रधान देवताओं के लिए अवदान ग्रहण करता है।[२३०] वह प्रधान याग की हवियों के अवदान ग्रहण करने के पहले 'अग्निर्होता०' इत्यादि मन्त्र विनियोग द्वारा पाँच होतृ-मन्त्रों का पाठ करता है।[२३१]

अवधेय है कि अवदान ग्रहण करते हुए वह प्रथम अवदान अग्नि-देवताक-पुरोडाश के मध्य से मध्यमा तथा अनामिका अङ्गुली एवं अङ्गुष्ठ के द्वारा लेता है।[२३२] द्वितीय अवदान उसके पूर्वार्द्ध की ओर से ग्रहण करता है। ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त अवदान का ग्रहण चतुरवत्त यजमान के लिए ही विहित है और इसके साथ ही पञ्चावत्त यजमान हेतु अग्निदेवताक पुरोडाश के पश्चिमार्द्ध से तृतीयावदान ग्रहण करने का विधान है।[२३३] इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्मर्तव्य है कि प्रधान देवताक अंवदान को अङ्गुष्ठ के पोर (पर्व) मात्र से ही ग्रहण करना चाहिए।[२३४] अब ग्रहण किये गये अवदानों का अभिघारण कृत्य सम्पन्न किया जाता है; परन्तु स्मरणीय है कि इसका सम्पादन स्विष्टकृत् अग्नि-देवतार्थ अवदान ग्रहण करने से पूर्व ही करना चाहिए।[२३५] यह भी स्मर्तव्य है कि प्रधान याग की प्रत्येक आहुति अपने से पूर्व की आहुति

---

२२९. वही, १/१/१/३० जमदग्नीनां पञ्चावत्तं चतुरमन्येषाम्।
तु० मानवश्रौ १/३/२/२५, सश्रौ २/२/१९०

२२९क. द्र० प्रधान याग हेतु, श्रौ.प.नि. ३१, २६०

२३०. वही, १/१/१/३३, ३४ ध्रौवस्याज्यार्थान्कुर्वीत्। आज्यस्योपस्तीर्य हविषोऽवदानम्।

२३१. वही, १/१/३/३। तु० सश्रौ. ६/३/५१५

२३२. वाराश्रौ १/१/१/३१ माँस सँहिताभ्यामङ्गुष्ठने च पुरोडाशस्यावद्येत्। तु० सुश्रौ २/२/१९२

२३३. वही, १/१/१/३९ मध्यावदाय हविषः पूर्वार्धात्............ पश्चार्धात् तृतीयं पञ्चावदनस्य।

२३४. वही, १/१/१/३७ अङ्गुष्ठ पर्वमात्राण्यवदानानि। तु० सश्रौ २/२/१९१

२३५. वही, १/१/१/३४-३५ प्रत्याभिघारयेदास्विष्टकृदवदानात्। तु० सश्रौ २/२/१९४, आपश्रौ. २/१८/१७

से संसक्त होनी चाहिए।[२३६]

आग्नेयपुरोडाश याग

अध्वर्यु प्रदक्षिण क्रम से वेदि के दक्षिण भाग से उत्तर भाग में आकर अग्निदेवताक अवदान को ग्रहण कर होता को अग्निदेवताक पुरोडाश याग की पुरोनुवाक्या[२३७] पाठ हेतु प्रैष देता है। इसी के साथ ही याज्या पाठ के लिए भी प्रैष देता है।[२३८] याज्या पाठ हेतु प्रैष देने के पहले अध्वर्यु दक्षिण में आकर आश्रावण प्रत्याश्रावण कृत्य कर लेता है। इस समय प्रैष देता हुआ वह "आ यज यज०" का उच्चारण करता है।[२३९] होता के द्वारा याज्या का पाठ करते हुए प्रणव के उच्चारण करने पर अध्वर्यु अग्निदेवताक पुरोडाश की आहुति प्रदान करता है।[२४०] ध्यातव्य है कि प्रधान आहुतियों को आघार के सन्धिप्रदेश पर पश्चिम से पूर्व की ओर परस्पर संसृष्ट रूप में देनी चाहिए।[२४१] आहुति के पश्चात् यजमान 'अग्नेरन्नादोऽग्नेरहं देवया०' इत्यादि का उच्चारण करता हुआ उसका अनुमन्त्रण करता है।

उपांशु याग (अग्निषोमीयपुरोडाश याग)

आग्नेय पुरोडाश आहुति के अर्पण के पश्चात् अध्वर्यु पुनः हवियों के समीप लौटकर अग्निषोमीय देवताक- आज्य-द्रव्य के उपांशु याग का अनुष्ठान करता है।[२४२] इस याग की अनुष्ठान-विधि आग्नेयपुरोडाश याग के समान ही है, परन्तु इस याग में आश्रावण-प्रत्याश्रावण, पुरोनुवाक्या, याज्या एवं प्रैष तथा प्रणव आदि का उच्चारण उपांशु स्वर में किये जाने का विधान है; साथ ही साथ देवताओं का नाम-निर्देश भी उपांशु स्वर में लिए जाने के निर्देश हैं।[२४३] यजमान 'दब्धिर्नमास्यदब्धोऽहम्० इत्यादि

---

२३६. वही, १/३/४/२९ प्रधानाहुतीः पूर्वां पूर्वां सँहिताम्।
२३७. द्र० पुरोनुवाक्या हेतु, श्रौ प नि, पृ० २८, प० २२८
२३८. वाराश्रौ १/१/१/४५-४६
२३९. वही, १/१/१/४७ प्रत्याश्रुवे च अध्वर्युः "आयजयजे"ति ब्रूयात्।
२४०. वही १/१/१/४८ अनुवाक्यान्ते प्रणवं दधाति होता। तम अध्वर्युः प्रणवेनोप संदधाति।
२४१. वही, १/३/४/२८-२९
२४२. वही, १/१/१/६० अग्निषोमीय उपांशुयाजः पौर्णमास्याम्।
२४३. वाराह, १/२/४/३० आग्नेयेन प्रचर्योपांशु यज्ञेन प्रचरति।
तु० काश्रौ ३/३/२३, सश्रौ २/२/२०२

मन्त्र के द्वारा आहूत उपांशु याग का अनुमन्त्रण करता है।[२४४] स्मर्तव्य है कि इस याग का उपांशु देवता अग्नीषोम होने से "अग्निरन्नादो... भूयासम्' इत्यादित मन्त्र याज्या में विनियोक्तव्य है।[२४५] उपांशु याग के अनन्तर अध्वर्यु वैमृध इन्द्र के निमित्त पुरोडाश याग का विधान करता है। एतदर्थ वह अग्निषोमीय स्थल से संसक्त स्थान पर आहुति डालता है और यजमान 'इन्द्रस्य वैमृधस्याहं देवयज्ययाऽसपत्नो भूयासम्०' आदि मन्त्र द्वारा अनुमन्त्रण करता है।[२४६]

पार्वण होम[२४७]

अब अध्वर्यु अग्निषोमीय पुरोडाश याग के अनन्तर पार्वण होम का विधान करता है।[२४८] एतदर्थ वह अपने आसन पर बैठा हुआ स्रुव के द्वारा आज्य-स्थाली से आज्य ग्रहण कर 'ऋषभं वाजिनं वयं पूर्णमासं हवामहे.........।..........सहस्रिणम्' इत्यादि मन्त्र के द्वारा पूर्णमास पर्व हेतु आहुति देता है।[२४९] ध्यातव्य है कि पार्वण होम का विधान स्विष्टकृद् याग के पूर्व ही करना चाहिए।[२५०]

स्विष्टकृद् याग

प्रधानाहुतियों के पश्चात् स्विष्टकृत् अग्नि के निमित्त अवशिष्ट द्रव्यों की आहुति प्रदान करने के कृत्य का अभिधान स्विष्टकृद् याग है।[२५१] एतदर्थ अध्वर्यु अपने आसन पर आसीन हो ध्रुवा के आज्य को स्रुव में डालकर पुनः उसे जुहू में उपस्तृत कर प्रधानाहुतियों के अवशिष्ट भागों से अवदान ग्रहण करता है।[२५२] वह अवदानों को सभी हवियों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण कर स्विष्टकृद् आहुति प्रदान करता है। प्रसङ्गतः यहाँ

---

२४४. वही, १/३/४/३१ उपांशु देवतामाहोच्चैरन्यत्।
२४५. वही, १/१/३/४ तु० मानवश्रौ १/४/२/३-४
२४६. वही, १/१/३/५ एवं ६, तु० मानवश्रौ १/४/२/५
२४७. वही, १/१/३/६, तु० मानवश्रौ १/४/२/६
२४८. द्र० पार्वण होम हेतु, श्रौ.प.नि., पृ० ३२, प० २६३
२४९. वाराहश्रौ. १/३/४/३३ स्रुवेण पार्वणो होमो जुहोति... इति पौर्णमास्याम्।
२५०. वही, १/३/४/३३ पुरस्तात्स्विष्टकृतः ...।
२५१. द्र० श्रौ.प.नि. ३२, प० २६४, सश्रौ २/२/२०४, काश्रौ ३/३/२५
२५२. वाराश्रौ १/३/३६, आयतने स्रुचौ सादयति।

स्मर्तव्य है कि यदि यजमान चतुरवत्ती होगा; तो प्रत्येक हवि का अवदान एक-एक बार ग्रहण किया जायेगा और यदि पञ्चावत्ती होगा; तो दो-दो बार।[२५३] अब अवदान का दो बार अभिघारण किया जाता है।[२५४] इस याग का अवदान प्रधान याग के अवदानों की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में ग्रहणीय होगा।[२५५]

तदनन्तर होता को अध्वर्यु याज्या पाठ हेतु प्रैष देता है तथा वषट्कार के अनन्तर वह आहुति प्रक्षेपण करता है। अध्वर्यु आग्नेय पुरोडाश एवं अग्निषोमीय पुरोडाश को क्रमशः दक्षिणस्थ एवं उत्तरस्थ होकर उत्तरार्ध से अवदान का ग्रहण कर उत्तरार्धपूर्व में आहुतियों का प्रक्षेपण करता है।[२५६] अन्त में यजमान आहुति का 'अग्निः स्विष्टकृत्यज्ञस्य प्रतिष्ठा तस्याहं देवयज्ययायज्ञेन... प्रतिष्ठां गमेयम्' के द्वारा अनुमन्त्रण करता है[२५७] तथा उपभृतादि को यथास्थान स्थापित कर देता है।[२५८]

प्राशित्र-हरण[२५९]

स्विष्टकृत् याग के विधान के पश्चात् प्राशित्र हरण कृत्य सम्पादित किया जाता है। वस्तुतः हुतशेष हवि अंश को प्राशित्र कहते हैं; जिसका शाब्दिक अर्थ है 'भक्षणीय'। वस्तुतः यह ब्रह्मा नामक ऋत्विज् द्वारा भक्षणीय होने से उन्हें प्रदान किया जाता है। प्राशित्र-हरण वह पात्र है;

---

२५३. वही, १/१/१/४२ सर्वेषाम् हविषां स्विष्टकृते समवद्येदुत्तरार्धात् सकृद् चतुरवदानस्यद्विर्द्विः पञ्चावदानस्य।
तु० काश्रौ. ३/३/२५, सश्रौ. २/२/२०४

२५४. वही, १/१/१/४२ द्विरभिघारयेत्। तु० सश्रौ २/२/२०४

२५५. वही, १/१/१/३८

२५६. वाराश्रौ १/१/१/३९ एवं ४२

२५७. वही, १/१/३/७ अग्निस्विष्टकृद्यज्ञस्य ... इत्यग्निं स्विष्टकृतम्। तु० मान०श्रौ १/४/२/७ एवं .....
वाराहश्रौ १/३/४/३६ आयतने स्रुचौसादयति। तु० मान०श्रौ १/३/२/२७

२५८. वही, १/१/१/५५, उपभृतमधस्तादुपयम्य ... तु० सश्रौ. २/३/२०५

२५९. प्राशित्र हेतु द्र० हि ध शा, २/२, पृ० १०३९, पाटि २३३९
"Portion of the havis left over after offering into the Fire, that is to be given to the Brahman Priest and Prashitraharana is the vessel that holds it, and that is made of Khadira wood, is shaped like a cow's ear, is one span long and has a rod four angulas in length."

जिसमें प्राशित्र पदार्थ रखा जाता है।[२६०] इसके लिए सर्वप्रथम अध्वर्यु वेद के द्वारा वेदि के उत्तर से पश्चिम परिधि-सन्धि पर्यन्त मार्ग का अभ्युक्षण करता है।[२६१] वह आग्नेय पुरोडाश के मध्य भाग में से अङ्गुष्ठ एवं मध्यमा अङ्गुली के द्वारा अवदान ग्रहण करता है।[२६२] ज्ञातव्य है कि प्राशित्र अवदान का परिमाप जौ सदृश् ग्रहणीय होगा।[२६३] अब अध्वर्यु अवदान-ग्रहण कर उसे प्राशित्र-हरण में स्थापित करके अभिघारता है। यजमान द्वारा ''अग्निर्मादुरिष्टात्पातु...जेषम्०'' इत्यादि मन्त्र से अवदान ग्रहण करते समय उसका अनुमन्त्रण किया जाता है।[२६४] यजमान के अवदान को वेद पर वेदि के बाहर एवं ब्रह्मा के अवदान से पीछे स्थापित करने का निर्देश है।[२६५] प्राशित्र-हरण के समय ब्रह्मा उसे देखते हुए 'मित्रस्यत्वा चक्षुषा प्रतीक्ष०' इस मन्त्र का एवं स्थापित करने के बाद अवेक्षण[२६५क] करतु हुए 'सुपर्णस्त्वा गरुत्मतश्चक्षुषावेक्ष:...' आदि मन्त्रों का विनियोग करता है।[२६६] इसी समय ब्रह्मा द्वारा प्राशित्रप्राशन का भी विधान है। प्राशन-कर्म अँगूठे और मध्यमा अङ्गुली के द्वारा दाँतों का स्पर्श न कराते हुए 'अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि०' इस मन्त्र विनियोग द्वारा करना चाहिए।[२६७] जब अध्वर्यु प्राशित्र-हरण लेकर ब्रह्मा के पास जाता है; तब ब्रह्मा वेदि के दक्षिण में ही बैठा रहता है[२६८] और वेदि में दर्भों

---

२६०. द्र० श्रौ प नि प्र ५०, पृ० ८ एवं प० २६९, पृ० ३२।

२६१. वाराश्रौ० १/३/५/२, अनुपस्तृणन्नभिघार्याग्रेणोत्तरं वेद्यं समप-उपनिनीय व्यूह्योषधी: ....। तु० मानवश्रौ १/३/३/१

२६२. वही, १/३/५/१ आग्नेयमध्यादधि हत्यांगुष्ठेनोपमध्यमया च............अवद्यति। तु० मान०श्रौ १/३/३/२

२६३. वारा०श्रौ १/३/५/१, 'यवमानं प्राशित्रमवद्यति।' मान०श्रौ १/४/२/८

२६४. वही, १/१/३/८ अग्निर्मादुरिष्टात्पातु... इति प्राशित्रमवदीयमानम्' तु० मान०श्रौ० १/४/२/८

२६५. वही, १/३/५/२

२६५क. वही, १/३/५/१३

२६६. वाराश्रौ० १/१/५/१६-१७, प्राशित्रमाह्रियमाणं प्रतीक्षते...इति। प्रतीक्ष्यसावित्रेण प्रतिगृह्य ..... इति।
भूमौ प्रतिष्ठाप्य... इति अवेक्ष्य... तु० मान०श्रौ ५/२/१५/१५-१७

२६७. वही, १/१/५/१७-१८, तु० मान०श्रौ ५/२/१५-१८

२६८. द्र० श०ब्रा.

को उपस्तृत कर प्राशित्रहरण को स्थापित किया जाता है।[२६९] प्राशन कर्म के पश्चात् ब्रह्मा 'ब्राह्मणस्योदरेण बृहस्पतेर्ब्रह्मणा०' इत्यादि मन्त्र से पूर्व की ओर जल छिड़कता है और आचमन कर 'सत्येन त्वाभिजिघर्मि.' इस मन्त्र द्वारा अपने हृदय देश को स्पर्श करता है। तदनन्तर नाभिप्रदेश का स्पर्श 'इन्द्रस्य त्वा जठरे दधामि' इत्यादि मन्त्र से क्रमशः मुख, नासापुट, नेत्र, कर्ण, बाहु, उरू एवं अवशिष्ट अङ्गों को भी स्पर्श किये जाने का विधान है।[२७०]

इडाकर्म

काँसे द्वारा निर्मित पात्र में हुतहवि:शेष के अवदान की स्थापना में प्रयुक्त हविर्भाग की संज्ञा इडा है।[२७१] इडावदान हेतु अध्वर्यु इडापात्र को परिचारक से माँग कर वेदि में स्थापित कर उसे आज्य से उपस्तृत करता है। उसी में इडा के अवदान को ग्रहण करता है। स्मर्तव्य है कि सभी हवियों (पुरोडाशों) से दो-दो अवदान आदान करणीय हैं।[२७२] एतदर्थ आग्नेय-पुरोडाश के दक्षिणार्थ से अध्वर्यु प्रथम अवदान लेकर इडापात्र में रखता है तथा अन्य अवदानों के बीच से द्वितीय अवदान को भी ग्रहण करता है।[२७३] ज्ञातव्य है कि सभी इडावदान निर्मन्त्रक ग्रहण किये जाते हैं।[२७४] अध्वर्यु आग्नेय-पुरोडाश के दक्षिणार्ध से अवदान ग्रहण कर उसी के पूर्वार्ध से यजमान के निमित्त पूर्वोक्त अवदानों से कुछ बड़े; किन्तु अणुमात्र ही अवदान लेता है।[२७५] तब वह इडावदानों को घी से उपस्तृत कर पश्चिमाभिमुख बैठे हुए होता को प्रदान करता है।[२७६] अवशिष्टांश का आज्यलेपन कर उसे वेद पर रखता है।[२७७] इडा के मध्य अध्वर्यु आगे

---

२६९. वाराहश्रौ १/३/५/२ अनुपस्तृणन्नभिघार्याग्रेण... वेद्यं समप... सादयति।

२७०. वही, १/१/५/१७-१९ प्राचीरप उत्सिच्याचामति... इति हृदयदेशमभिमृशति... इति नाभिदेशम्।... इति सर्वाणि गात्राणि मान०श्रौ ५/२/१५/१९-२१

२७१. द्र० श्रौ प नि, पृ० ८, प० ५१, ५२

२७२. वारा०श्रौ १/३/५/३-४ सर्वेषां हविषां द्विर्द्विरिडां समवदाय...।

२७३. वाराश्रौ १/३/५/५ मध्यात्संभिन्दन्द्वितीयामिडाम्।

२७४. वही, १/३/५/९ इडायासतूष्णीम्।

२७५. वही, १/३/५/४ आग्नेयस्य दक्षिणार्धादवदाय पूर्वार्धादणुं दीर्घं यजमामान... भागमवद्यति।

२७६. वही, १/३/५/६ प्रत्यङ्मुख आसीनो होत्र इडां प्रयच्छति।

२७७. वही, १/३/५/२ अनुपस्तृणन्नभिघार्य... सादयति।

से दायीं ओर बढ़ता है और होता की अङ्गुलियों के पोरों में दोनों ओर (भीतर एवं बाहर) घी लगाता है[२७८] तथा बचे हुए घी का कुछ भाग लेकर होता के हाथों पर गिराता है।[२७९] अध्वर्यु के इडावदान के आधान के बाद यजमान और अन्य ऋत्विज् अपना-अपना भाग ग्रहण करते हैं। अब होता यजमान को प्रैष देता है।[२८०] यजमान तथा अन्य ऋत्विजों द्वारा व्युत्क्रम से इडा-भक्षण किया जाता है।[२८१] तदनन्तर आहूत इडा के अवदान में से आग्नीध्र के दोनों हाथों के लिए अवदान ग्रहण किया जाता है।[२८२] होता शाखा-पवित्र खोलता है। तत्पश्चात् आग्नीध्र ब्रह्मा एवं यजमान के भागों को अग्निहोत्र हवणी में रखकर आहवनीय के दक्षिण ले आता है। वेदि के मध्य में ब्रह्मा के भाग को रखकर वेदि के बाहर यजमान के भाग की स्थापना करता है।[२८३] इसी समय अन्वाहार्य को हवियों के पीछे उतारकर रख दिया जाता है।[२८४]

अनुयाज

तदनन्तर अनुयाजों का यजन किया जाता है। एतदर्थ अध्वर्यु आनुयाजिकी समिधाओं को लेकर आग्नीध्र को समिधाधान, अग्नि एवं परिधियों के सम्मार्जन हेतु प्रैष देता है।[२८५] आग्नीध्र समिधाओं के गट्ठर को खोलकर उसे ढीला कर सम्मार्जनपूर्वक अग्नि में डाल देता है।[२८६] अध्वर्यु उपभृत से जुहू में घी लेकर तीन अनुयाजों का यजन करता है। एतदर्थ वह प्रथम आहुति "देवान्यज०" इत्यादि मन्त्र द्वारा तथा आगे की

---

२७८. वारा०श्रौ १/३/५/७ अग्रेण होतारमपरेणेडां दक्षिणातिक्रम्या... होतुरङ्गुलिपर्वणी-अनक्त्यपरं पूर्वम्।
२७९. वही, १/३/५/८
२८०. वही, १/३/५/९-१०
२८१. वही, १/३/५/११
२८२. वही, १/३/५/१२ आग्नीध्रभागं पृथक्पाणयोरवद्यति।
२८३. वही, १/३/५/१४ अन्वाहार्यमनु हवींषि उद्वासयति।
२८४. वही, १/३/५/१५-१६
२८५. वही, १/३/५/१७, तु० मान०श्रौ १/३/४/३
२८६. वही, १/३/५/१७, विस्रस्याऽभ्युक्ष्य संमार्गानग्नावनु प्रहरति। तु० मान०श्रौ १/३/४/३

दोनों आहुतियाँ 'यज यज०' इत्यादि मन्त्रपाठ के द्वारा देता है।[२८७] अनुयाजों के यजनके अनन्तर स्रुचों को यथा-स्थान रख दिया जाता है।[२८८]

स्रुग्व्युदूहन

तदनन्तर यजमान दाहिने हाथ से प्रस्तरों के साथ जुहू को ऊपर उठाकर बायें हाथ से उपभृत को नीचे ले जाता है।[२८९] एतदर्थ वह जुहू को पूर्व की ओर और उपभृत को पश्चिम की ओर ले जाकर वेदि के बाहर फेंक देता है।[२९०] इसके बाद जल छिड़ककर यथास्थान उपभृत की पुनर्स्थापना करता है।[२९१]

परिधि-अञ्जन एवं सूक्तवाक्

अध्वर्यु जुहू के घृत में परिधियों को अञ्जित करता है, एतदर्थ वह प्रथमतः मध्य-परिधि का अभ्यञ्जन कर दक्षिण एवं उत्तर की परिधि का भी अञ्जन करता है।[२९२] मध्य परिधि को जुहू के अग्रभाग से एवं प्रस्तर को जुहू के हत्थे से स्पर्श कराता है। तदनन्तर आग्नीध्र से आश्रावण प्रत्याश्रावण कराने के बाद अध्वर्यु होता को सूक्त वाक के लिए प्रैष देता है। प्रैष के पश्चात् होता सूक्त वाक् करता है।[२९३]

प्रस्तर होम

सूक्तवाक् के पश्चात् अध्वर्यु बर्हि पर दो विधृतियों को रखकर प्रस्तर को घी में भिगोता है।[२९४] एतदर्थ वह प्रस्तर के अग्र भाग को जुहू

२८७. वही, १/३/५/१८ औपभृतं जुह्वामानीय त्रीननुयाजान्यजति... इति प्रथमे... इत्युतरौ।
२८८. वही, १/३/५/१९ आयतने स्रुचौ सादयति।
२८९. वही, १/३/६/१ इति जुहूं सह प्रस्तरामुद्गृह्णाति... इत्युपभृतमवगृह्णाति... इति जुहूं। इति उपभृतम्। इति विषूची करोति।
२९०. वही, १/३/६/२-३... इति प्राचीं जुहूं प्रकर्षति।... इति उपभृतं प्रतीचीं बर्हि वेदि निरस्यति।
२९१. वही, १/३/६/४ अभ्युक्ष्य प्रत्यासादयति।
२९२. वाराहश्रौ १/३/६/५ जुह्वा परिधीननक्ति... इति मध्यम्... इति दक्षिणम्... इति उत्तरम्।
२९३. वही, १/३/६/७
२९४. वही, १/३/६/६ इति बर्हिषि विधृती विसृज्य प्रस्तरमनक्ति.. इति ध्रुवायांमूलम्... इत्युपभृति मध्यं... इति जुह्वामग्रम्।

के घी में, मूल भाग को ध्रुवा के घी में एवं जुहू के मध्य भाग को उपभृत के घी में भिगोता है।[२९५] पुनः प्रस्तर को प्रत्यवरोह क्रमसे घी में भिगोकर उसे तृणों के ऊपर स्थापित कर प्रस्तर को अग्नि में फेंक देता है।[२९६] तब वह आग्नीध्र को प्रस्तर ले जाने के लिए प्रैष देता है। आग्नीध्र हाथ से तीन बार प्रस्तर को अग्नि के समीप ले जाता है।[२९७] तदनन्तर अग्नि में प्रक्षेपण हेतु प्रैष दिये जाने पर आग्नीध्र प्रस्तर को अग्नि में डालकर उपांशु स्वर में उच्चारण किये जाते समय तृणों को अग्नि में डालता है।[२९८] तब वह अपने शरीर को स्पर्श करके पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ; नेत्र का भी स्पर्श करता है।[२९९]

परिधि-होम

तत्पश्चात् अध्वर्यु जल स्पर्श कर मध्य परिधि को प्रस्तर के नीचे से खींचता है। अध्वर्यु के द्वारा प्रैष दिये जाने पर आग्नीध्र प्रत्याश्रावण करता है। परिधियों के संस्रव होम के समय यजमान मन्त्र-पाठ करता है।[३००] परिधियों को संस्रव होम के समय अग्नि में डाल दिया जाता है। स्मर्तव्य है कि यह संस्रव होम अग्नि के ही निमित्त प्रदान किया जाता है।[३०१] अब अध्वर्यु उपभृत को जुहू में डालकर परिधियों का हवन करके स्रुचों का विमुञ्चन करता है। तदनन्तर स्रुचों को कस्तम्भ देश में रखता है। ज्ञातव्य है कि अध्वर्यु द्वारा विमुञ्चित स्रुचों को वेदि पर स्थापित नहीं करना चाहिए।[३०२]

पत्नी-संयाज

२९५. वही, १/३/६/७
२९६. वही, १/३/६/८ इत्युच्यमाने सहशाखं प्रस्तरमग्नावनुप्रहरति।
२९७. वही, १/३/६/१०-११
इति सम्प्रेष्यति। आग्नीध्रस्त्रिः पाणिना गमयति।
२९८. वारा०श्रौ १/३/६/१२-१३ इति आग्नीध्रः सम्प्रेष्यति। ... इत्युपांशुतृणमनुप्रहरति।
२९९. वही, १/३/६/१५-१६ इति यथारूपं गात्राणि संमृशति। ... इति पृथिवीमभिमृश्यार्चिरालभ्य चक्षुषी आलभेत् इति।
३००. वही, १/३/६/१७-१८
३०१. वही, १/३/६/१९-२१ इति परिधीननुप्रहरति।... जुह्वामुपभृतमाधाय... परिधीनभिहुत्य स्रुचौ विमुञ्चति।
३०२. वही, १/३/६/१९-२४ नविमुक्ते बर्हिषि प्रत्यासादयति।

अध्वर्यु पत्नी-संयाज के लिए स्रुच् सहित जुहू को लेकर वेद के सन्निकट से होकर गार्हपत्य के पीछे जाता है। इस समय होता आज्यस्थाली एवं आग्नीध्र स्फ्य ग्रहण कर दोनों यथास्थान स्थापित करते हैं।[३०३] तदनन्तर गार्हपत्य के समीप पत्नी संयाज किया जाता है। इस समय होता गार्हपत्य के पीछे, अध्वर्यु दक्षिण एवं आग्नीध्र उत्तर तथा होता के पश्चिमार्ध में तथा पत्नी आदि सभी क्रमशः स्थित रहते हैं।[३०४] बैठा हुआ होता पत्नी संयाज के मन्त्रों का पाठ उपांशु स्वर में करता है।[३०५] उत्तरार्ध में सोम के लिए तथा दक्षिणार्ध में त्वष्टा के लिए यजन करता है।[३०६] तदनन्तर आहवनीय की ओर घूमकर देव-पत्नियों के लिए यजन किया जाता है। ज्ञातव्य है कि देव-पत्नियों के यजन के पूर्व पशुकामी को सिनीवाली का, तथा यजन के अनन्तर वीरपुत्रकामी को राका देवी का यजन विहित है।[३०७]

समापनीय कृत्य

समिष्टयजुर्होम

तदनन्तर समापनीय कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है। एतदर्थ प्रथमतः पत्न्यन्वारम्भण का क्रम आता है। जिस समय पत्नी अन्वारम्भण करती है; उस समय अध्वर्यु स्रुव के द्वारा यजन कर अग्नि में आहुतियाँ प्रदान करता है।[३०८] तदननतर ही वह ईशान-कोण में स्विष्टकृत् अग्नि के स्थान पर गृहपति अग्नि के लिए आहुतियाँ प्रदान करता है।[३०९] अध्वर्यु दश बार घी का (घृतावदान) ग्रहण करता हुआ; प्रथमतः चार अवदानों तथा द्वितीयतः ६ अवदानों को लेता है। अब अध्वर्यु होता की अङ्गुलियों के पोरों पर बाहर तथा भीतर दोनों ओर घी लगाता है।[३१०] होता के आह्वान

३०३. वारा०श्रौ १/३/७/१ जुहूं वेदोपयाममध्वर्युरादाय प्रत्यक्क्रामति... स्फ्यमाग्नीध्रः।
३०४. वही, १/३/७/२ गार्हपत्ये पत्नीः संयाजयन्त्यपरो होता दक्षिणोऽध्वर्यु... होतुः पत्नी।
३०५. वही, १/३/७/३ आसीना ध्वनः सना भवति।
३०६. वही, १/३/७/४ उत्तरार्धे सोमं यजति दक्षिणार्धे त्वष्टारम्।
३०७. वही, १/३/७/५-६ परिश्रिते... इति यजति। पुरस्ताद्देवपत्नीनां पशुकामस्य सिनीवाली यजति उपरिष्टाद्राकां वीरकामस्य।
३०८. वही, १/३/७ इति पत्नीमन्वारभ्य स्रुवेण जुहोति... इति।
३०९. वही, १/३/७/८ उत्तरार्धपूर्वार्धे अग्निं गृह्णाति।
३१०. वही, १/३/७/९ चतुरिडामवद्यति षट्कृत्वोऽग्नीध्रे। प्रत्यवरोहेणाङ्गुलिपर्वणी अनक्ति।

के समय आग्नीध्र और यजमान की पत्नी अपने-अपने भागों को ग्रहण करते हैं। इसके बाद आग्नीध्र तथा होता दोनों अपने-अपने भागों का भक्षण करते हैं।[३११]

फलीकरण होम

तदनन्तर इध्म परिवासनों को दक्षिणाग्नि के समीप रखकर अध्वर्यु चतुर्गृहीत आज्य में फलीकरण के लिए संस्तृत कर दक्षिणाग्नि में हवन करता है। तत्पश्चात् अध्वर्यु घृतावदान ग्रहण कर ग्रामकामी यजमान के लिए आहुति प्रदान करता है।[३१२] होता पत्नी को वेद प्रदान करता है और पत्नी उसे मन्त्र (मै.सं. १.४.३.५.७-८) के द्वारा तीन बार अभिमन्त्रित कर अपने उपस्थ में रख लेती है।[३१३] उपस्थ में पुत्रकामिनी पत्नी के द्वारा ही वेद रखने का विधान है। वह बँधी हुई रस्सी के बन्धन को खोलती है और हाथ में वेद को लिये हुए योक्त्रपाश को रख देती है।[३१४] इसी समय होता वेदस्तरण का सम्पादन करता है। अध्वर्यु मन्त्र-समाप्ति पर्यन्त सतत रूप से परिपूर्ण ध्रुवा के द्वारा आहुति प्रदान करता है। इसी समय पत्नी के द्वारा मन्त्रोच्चारण कराया जाता है।[३१५] अन्त में यजमान की पत्नी अपना मुख स्वच्छ करती है।

प्रायश्चित्ताहुति

यज्ञ की समाप्ति के समय यज्ञगत त्रुटियों के निराकरण के लिए ब्रह्मा के निर्देश से विहित देवताओं के नाम प्रायश्चित्त स्वरूप विविध आहुतियाँ प्रदान किये जाने का विधान है।[३१६]

---

३११. वही, १/३/७/१०-११

३१२. वही, १/३/७/११-१३, इध्मपरिवासनान्युपसमाधाय, चतुर्गृहीते आज्ये... जुहोति.. इति द्वितीयां ग्रामकामस्य।

३१३. वही, १/३/७/१६ होता पत्न्यै वेदं प्रयच्छति इति त्रिः प्रतिमन्त्रमुपस्थ आस्यते। तथा मा॰श्रौ १/३/५/१५

३१४. वही, १/३/७/१७ इति शुल्बं विसस्र वेदमञ्जलिनाधस्ताद्योक्त्रमुपयच्छति।

३१५. वही, १/३/७/१८-१९ पूर्णपात्रे पत्नीं वाचयति यथा याजमानम्। इति अन्ततः पूर्णपात्रस्य जपति।

३१६. वही, १/३/७/२० प्रायश्चित्ताहुतीर्जुहोति...।

दर्शेष्टि

दर्शयाग का अनुष्ठान पूर्णमास याग की विधियों के ही समान करणीय है[३१७]; किन्तु पूर्णमास याग की विधियों के अतिरिक्त दर्श याग में कुछ अग्रलिखित स्वतन्त्र अनुष्ठानों का भी विधान किया जाता है -

देवता एवं द्रव्य

दर्शेष्टि के प्रधान यागों एवं अङ्ग-यागों के देवताओं एवं द्रव्यों का विधान निम्नलिखित है -

(अ) प्रधान-याग के रूप में -

१. ऐन्द्राग्न द्वादशकपालक पुरोडाश।

२. ऐन्द्राग्न अथवा ऐन्द्रसानाय्य।[३१८]

३. वैष्णव उपांशु याग।[३१९]

(ब) अङ्ग याग के रूप में -

१. आग्नेय आज्य भाग।

२. सौम्य आज्य भाग।

३. आग्नेय पुरोडाश स्विष्टकृत् इत्यादि।

इसके अतिरिक्त दर्शेष्टि में बर्हि आहरण कृत्य के पूर्व व्रत-ग्रहण न कर वत्सापकरण के पूर्व करने का विधान है।[३२०]

वत्सापाकरण

व्रतोपेत यजमान को वत्सापाकरण के पूर्व शाखाहरण कृत्य का अनुष्ठान करना पड़ता है, किन्तु यह सोमयज्ञ सम्पन्न किये हुए यजमान के द्वारा ही करणीय है, अन्य के लिए नहीं। एतदर्थ अध्वर्यु विहित मन्त्र के द्वारा शमी वृक्ष अथवा पलाश वृक्ष की शाखा का आहरण करता है।[३२१] ज्ञातव्य है कि ग्रहणीय शाखाएँ पत्तों वाली हों एवं उनका विस्तार

---

३१७. वारा०श्रौ० १/१/१/५६ समानं दर्शपूर्णमासयोर्विधानमन्यत्र निर्देशात्।
एवं द्र० मानवश्रौ १/१/१/७ दर्शपूर्णमासयोः धर्मा साधारणाः।

३१८. वही, १/१/१/५७

३१९. वही, १/१/१/६० वैष्णवोऽमावास्याम्।

३२०. वही, १/१/२/७ व्रतमुपेयाद् वत्सापाकरणस्यामावास्यायाम्।

३२१. वही, १/२/१/२ व्रतोपेतेयजमाने... इति जपित्वा शाखामाहरति।

पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर हो तथा उनका अग्रभाग सूखा न हो।[३२२]

अध्वर्यु उक्त शाखा को दर्भपिञ्जूल के साथ ग्रहण कर उसी के द्वारा ६ बछड़ों को उनकी माताओं से पृथक् करता है।[३२३] गायों को चरने के लिए छोड़ देता है। चरने के लिए जाती हुई गायों को अध्वर्यु पुकारता है। तत्पश्चात् वापस आयी हुई गायों को अध्वर्यु इन्द्र देवतार्थ सान्नाय्य बनाने के लिए बछड़ों को पिलाता है। उनसे दूध दुहता है। इसी प्रकार महेन्द्र याजियों द्वारा भी बछड़ों को पिलाकर सान्नाय्य हेतु दूध दुहने का विधान है।[३२४] असोमयाजी यजमान को सान्नाय्य हवि बनाना ही नहीं चाहिए।[३२५]

अतः सोमयाजी को ही अमावास्या की तिथि के दिन सान्नाय्य हवि हेतु सन्नयन करना चाहिए।[३२६] इन्द्र को सान्नाय्य प्रदान करने के बाद महेन्द्र को भी सान्नाय्य प्रदान करने का विधान है, लेकिन इसके लिए एकमात्र गतश्री[३२७] यजमान ही अधिकृत हैं अन्य नहीं।[३२८]

सायंदोह

अब सान्नाय्य हवि बनाने के लिए सायंदोह कृत्य का सम्पादन किया जाता है। एतदर्थ सायंकालीन अग्निहोत्र सम्पन्न करने के उपर्यन्त यजमान गार्हपत्य के उत्तर में दर्भ बिछाकर उसी पर सान्नाय्य के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले पात्रों को दो-दो करके स्थापित करता है।[३२९] अध्वर्यु सभी पात्रों को संस्तुत करके क्रमशः दोहन, निदान, कुम्भी और

---

३२२. वारा०श्रौ० १/२/१/२-४

३२३. वही, १/२/१/५ तया सदर्भपिञ्जूलया षड्वत्सानपाकरोति। तु० मान०श्रौ १/१/१/१६-१८, माश्रौ १/२/१४-१५

३२४. वही, १/२/१/७ इत्याप्यायति।... इति महेन्द्रयाजिनः।

३२५. द्र० मा०शब्रा० १/५/३/१० नासोमयाजी संनयेत्। तथा मै सं० २/५/५ 'नासोमयाजी सन्नयेद...।

३२६. वारा०श्रौ १/२/२/३७ सोमयाजिनोऽमावास्यायां नित्यं संनयनम्। तथा द्र० तै सं० २/५/४/१

३२७. वारा०श्रौ १/२/२/३८ शुश्रुवान्ग्रामणीराजन्य इति गतश्रियः।

३२८. वही, १/२/२/३९ महेन्द्रं यजेरन्गतश्रियश्च।

३२९. वही, १/२/२/७-८

शाखा-पवित्र आदि यथास्थान स्थापित करता है। तत्पश्चात् वह प्रोक्षणी पात्र; पवित्र आदि सभी सान्नाय्य पात्रों का तीन बार प्रोक्षण करता है।[३३०] गाय को दुहने के लिए उसे अध्वर्यु बिहार में लाता है। गाय एवं बिहार के मध्यस्थल से किसी को भी न जाने देने के लिए प्रैष देता है; और कुम्भी को गर्म करता है। इस समय यजमान अपनी वाणी का नियन्त्रण किये रहता है।[३३१] तदनन्तर बछड़ों को छोड़ते हुए अनुमन्त्रण करता है तथा दुहे जाते एवं धाराघोष होते समय "उत्सं दुहन्ति..........लोकेदधातु" मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। दुहते समय क्रमशः गाय का नाम पूछे जाने पर दुहने वाला गाय की 'विश्वायु' विश्वभूः' तथा 'विश्वकर्मा०' आदि संज्ञा करता हुआ तीन बार प्रश्नों का उत्तर देता है।[३३२] इस तरह वह दूध को क्रमशः तीन बार मन्त्र के द्वारा तथा तीन बार चुपचाप निर्मन्त्रक दुहता है।[३३३] दुहते समय भूमि पर गिरे हुए दूध के लिए वह प्रायश्चित्त आहुति का जाप करता है।[३३४] अब दूध या दही को मिला देता हैं; जो दो अथवा एक दिन पूर्व का रखा होता है। अब मिले हुए दूध को वह पुनः गर्म करता है। ज्ञातव्य है कि इसका विधान इन्द्र तथा महेन्द्र के लिए किया जाता है।[३३५] यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि उक्त नियम से ही प्रातर्दोह हेतु वत्सापाकरण का विधान करना चाहिए।[३३६] इसी प्रकार अन्य वर्षों में भी इन्द्र को सान्नाय्य हवि प्रदान करने के अनन्तर महेन्द्र को भी सान्नाय्य हवि दिये जाने का निर्देश है।[३३७]

पिण्डपितृयज्ञ

३३०. वारा०श्रौ० १/२/२/९-१० इत्यद्भिस्त्रिरुन्मृज्य प्रोक्षणीः संस्कुरुते।... इति पात्राणि त्रिःप्रोक्षति।

३३१. वही, १/२/२/११-१४ अन्वारभ्य वाचं यच्छति।

३३२. वही, १/२/२/१५-२२

३३३. वही, १/२/२/२३-२४, दुग्धं अवनयति। तिस्रो यजुषा दोहयति तिस्रस्तूष्णीम्।

३३४. वही, १/२/२/२९ इति स्कन्नप्रायश्चित्तं जपति।

३३५. वही, १/२/२/३१-३२ शीतबुध्नं दध्नातनक्ति द्वयोरेकस्या वा दुग्धेन पूर्वेद्युर्निहितेन. .. इति आतनक्ति।..........इति महेन्द्रयाजिनः।

३३६. वही, १/२/२/३६ तेन धर्मेण प्रातर्दोहाय वत्सानपाकरोति।

३३७. वही, १/२/२/४० इतरे संवत्सरमिन्द्रमिष्ट्वाग्नये व्रतपतयेऽष्टाकपालं निरुप्य महेन्द्रं यजेरन्।

दर्शेष्टि में पितरों को पके हुए चावलों का पिण्ड प्रदान किया जाता है। अत: इस कर्म की याज्ञिक भाषा में 'पिण्डपितृयज्ञ' संज्ञा है।[३३८] इस यज्ञ का अनुष्ठान अमावास्या के दिन अपराह्ण काल में प्रारम्भ किया जाता है। एतदर्थ अध्वर्यु बिहार में पूरब से दक्षिण की ओर एक उल्मुक का प्रणयन करता है।[३३९] वह उत्तर से अग्नि का ग्रहण कर उसे दक्षिण में रखता है। अब अध्वर्यु दक्षिणाग्नि का परिस्तरण करके यज्ञीय पात्रों को क्रमश: एक-एक कर ग्रहण करता हुआ; उसे दक्षिणाग्नि के उत्तर से ले जाकर दक्षिण की ओर रखता है। अध्वर्यु पात्रों का आधान करता हुआ क्रमश: उलूखल, मुसल, कृष्णाजिन शूप, मेक्षण एवं चरु आदि का आधान करता है।[३४०] तदनन्तर बिना कटे हुए बर्हि से एक पवित्र का निर्माण कर उससे प्रोक्षणी पात्र का निर्मन्त्रक शुद्धीकरण करता है तथा अन्य पात्रों का भी प्रोक्षण करता है।[३४१] अध्वर्यु अग्निष्ठ में से चरुओं के निमित्त ब्रीहि का निर्वाप करता है। तदनन्तर ब्रीहि को कृष्णाजिन पर रखकर पूर्व एवं दक्षिण की ओर मुख करके पत्नी कूटती है।[३४२] अध्वर्यु फलीकरण के अनन्तर दक्षिणाग्नि पर जीवतण्डुल के लिए चावलों को पकाता है।[३४३] इसके बाद पके हुए चावलों को ग्रहण कर घृत अथवा नवनीत से उसका अभिघारण करके उसे दक्षिण से लेकर स्फ्य के द्वारा प्रोक्षण करता है। स्फ्य को आस्तृत कर चरु, मेक्षण एवं पिण्ड निधान आदि को क्रमश: एक-एक कर बर्हि पर रखता है।[३४४] तदनन्तर पितरों का आह्वान किया जाता है। एतदर्थ अध्वर्यु यज्ञोपवीती

---

३३८. द्र० सश्रौ, महादेव टीका २/७/२४५ पिण्डै: पिण्ड दानेन सहित: पितृभ्यो देवेभ्यो यज्ञो होम: स पिण्डपितृयज्ञ:।

३३९. वारा०श्रौ १/२/३/१ अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञाय प्राग्दक्षिणैकोल्मुकं प्रणयेत्।

३४०. वही, १/२/३/२/३ उत्तरत: प्रणीतस्य वेदिमुद्धरन्ति स्फ्येन। पात्राणि प्रयुनक्ति... कृष्णाजिनं शूर्पम्।

३४१. वही, १/२/३/४ सकृदाछिन्नस्य बर्हिष एकपवित्रं कृत्वा तूष्णीं प्रोक्षणीं संस्कृत्य पात्राणि सकृत्प्रोक्षति।

३४२. वही, १/२/३/५ कृष्णाजिनेऽध्यवहन्ति प्राग्दक्षिणमुखा परापावम्।

३४३. वही, १/२/३/६ दक्षिणाग्नौ श्रपयति जीवतण्डुलम्।

३४४. वही, १/२/३/७-९

होकर मेक्षण के द्वारा अग्नि में तीन आहुतियाँ प्रदान करता है।[३४५] पहली आहुति से कुछ दूरी पर अग्नि के दक्षिणार्ध में द्वितीय आहुति को देने का विधान है। इसके बाद उदकलेप एवं मेक्षण आदि को अग्नि में डाल देते हैं।[३४६]

यजमान पितरों के आह्वान-काल में जल से तीन बार उत्पवन कर पुनः तीन बार पात्रों पर जल सींचता है। अध्वर्यु तीन अञ्जलि जल को लेकर उसे बर्हि की जड़ में डालता है।[३४७] तदनन्तर बर्हि पर तीन पिण्डों को दक्षिण से एक-एक कर रखते हुए क्रमशः पिता, पितामह, प्रपितामह का नाम लेता है।[३४८] यदि इस समय पितरों का नाम अज्ञात हो; तो मन्त्र के द्वारा पिण्ड-निधान करणीय है।[३४९] साथ ही साथ यह भी ज्ञातव्य है; कि जीवित पिता, पितामह के नाम पिण्ड-निधान नहीं किया जा सकता है।[३५०]

पिण्डदान के अनन्तर स्थापित पिण्डों पर अध्वर्यु घृताक्त न की गयी शलाकाओं को रखता है तथा प्रत्येक पिण्ड का अभ्यञ्जन करता है।[३५१] अध्वर्यु पिण्डों को उन पर स्थापित कर शेष पिण्डों को देखते हुए उत्तर में रखता है तथा कुशों पर तीन अञ्जलि जल ऊपर की ओर छिड़ककर पुनः अपनी अञ्जलि को बाँधता है। इस समय वह पितरों के लिए मन्त्र पाठ करता है।[३५२] शेष भाग को सूँघता है। शेष भाग का विकल्प स्वरूप अन्नाद्य-कामी द्वारा भक्षण किये जाने का भी विधान है।[३५३] मध्यपिण्ड को यजमान की पत्नी खा जाती

---

३४५. वारा०श्रौ० १/२/३/११-१२ पितॄनावाहयति...। यज्ञोपवीती मेक्षणेन तिस्त्र आहुतीर्जुहोति. ..।

३४६. वही, १/२/३/१३ उदकलेपं मेक्षणमग्नावनुप्रहरति।

३४७. वही, १/२/३/१४-१५ यजमानोऽत ऊर्ध्वं... इति त्रिरपः परिषिञ्चति त्रिः पात्रंप्रति परिहरति।

३४८. वही, १/२/३/१६-१७, त्रीनुदकाञ्जलीन्निनयति...।

३४९. वही, १/२/३/१९ यदि नामानि न जानीयात्... इति निदध्यात्।

३५०. वही, १/२/३/२० लुप्येत जीवित्पितुः पिण्डनिधानम्। न जीवन्तमनिदध्यात्।

३५१. वही, १/२/३/२६

३५२. वही, १/२/३/२७-२८

३५३. वही, १/२/३/३०-३१ शेषमवजिघ्रेत्। अन्नाद्यकामो वा प्राश्नीयात्।

है।[३५४] दूसरे पिण्डों को अग्नि में डाल दिये जाने अथवा ब्राह्मणों को खिला देने या जल में ले जाकर छोड़ देने का विधान है।[३५५] इसके अनन्तर पात्रों को दो-दो कर उनका अभ्युक्षण करके ले जाते हैं।[३५६]

ज्ञातव्य है कि अनाहिताग्नि यजमान द्वारा भी पिण्डपितृयज्ञ का अनुष्ठान किया जाने का विधान है, किन्तु अनाहिताग्नि यजमान द्वारा प्रयुक्तव्य हवि का पाक-कर्म औपासन अग्नि में ही करना चाहिए। औपसान अग्नि की स्थापना गार्हपत्य अग्नि से उद्धृत अङ्गारों (दक्षिणाग्नि-स्थानीय) द्वारा की जताी है। उसी पर आहुति प्रदान करने का भी निर्देश है।[३५७]

दर्शेष्टि के शेष अनुष्ठानों की सम्पूर्ण विधि पूर्णमासेष्टि के समान ही करणीय है।[३५८]

अग्न्याधान[३५९]

किसी निश्चित देश एवं कामना में किसी विशेष श्रौत-विधि के अनुसार याज्ञिक अग्नियों की उत्पत्ति हेतु प्रज्वलित अङ्गारों की स्थापना करना ही अग्न्याधान है।[३६०] अग्न्याधान सप्त हविर्यज्ञों में सर्व प्रथम यज्ञ है।[३६१] यह सभी याज्ञिक अनुष्ठानों हेतु सम्पाद्य है, केवल दर्शपूर्णमासेष्टि के ही निमित्त नहीं है।[३६२] यह दो दिनों में सम्पादित होता है। प्रथमतः उपवसथ के दिन प्रारम्भिक कृत्यों तथा दूसरे दिन मुख्य कर्मों का

---

३५४. वारा०श्रौ १/२/३/१३६ मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नीयात्।... तु० काश्रौ ४/१/२२, मान०श्रौ १/१/२/३१ सश्रौ २/७/२५५
३५५. वही, १/२/३/३६ इतरावग्नावनु प्रहरेद् ब्राह्मणो वाश्नीयादपो वा गमयेत्।
३५६. वही, १/२/३/३७ द्वे द्वे पात्रे अभ्युक्ष्य पात्राणि प्रत्याहरति।
३५७. वही, १/२/३/३८ औपासनं गार्हपत्य दक्षिणाग्निस्थानीयं कृत्वाप्यनाहिताग्निः पिण्डपितृयज्ञं कुर्वीत।
तु० सश्रौ २/७/२५५, माश्रौ १/१०-१२, आश्रौ २/७
३५८. वही, १/१/१/५६ समानंदर्शपूर्णमासयोर्विधानम्...।
३५९. अग्न्याधान हेतु, शोधलेख, अभयदेव द्वारा, अग्न्याधेय 'कल्याणकल्पतरु, गोरखपुर, पृ० १९-२३, १९६७-७१
३६०. द्र० आश्व० श्रौ २/१/९, श्रौ प नि २४, ३५४
३६१. द्र० गौ ध सू ८/२०/२१ आप श्रौ सू १/१/२
३६२. द्र० जैसू० ३/६/१/४-१५ एवं ११/३/२

अनुष्ठान किया जाता है।

अग्न्याधान के अधिकारी

परिशील्य श्रौ.सू. में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं रथकार अग्न्याधान के अधिकारी हैं।[३६३] यही मत प्रायः सभी आचार्यों को अभिप्रेत है, किन्तु मानवश्रौतसूत्र में रथकार के लिए कोई निर्देश नहीं है[३६४] तथा भारद्वाज के मत में विकल्प से शूद्र को भी आहिताग्नि बनने का अधिकार है।[३६५]

अग्न्याधान का समय

ब्राह्मण को बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में, वैश्य को शरद् ऋतु एवं रथकार को वर्षा ऋतु में पूर्णमासी अथवा अमावास्या की तिथि के दिन अग्न्याधान करना चाहिए[३६६] अथवा सभी वर्णों के लिए शिशिर ऋतु ही उपयुक्त ऋतु है।[३६७] विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न कामनाओं की अभिपूर्ति हेतु नक्षत्रों का निर्देश प्रस्तुत किया है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र नक्षत्र एवं ऋतु और पर्व का संयोग नितान्त लाभप्रद स्वीकारते हुए सोमयाजी के लिए उपयुक्त संयोग के अभाव में ऋतु, नक्षत्र आदि को ध्यान न रखने का भी निर्देश किया है।[३६८]

यजमान के कृत्य

यजमान शिर के केश तथा दाढ़ी, मूँछ बनाकर क्षौम वस्त्र पहनता है तथा उपवसथीय खाद्य पदार्थों का भक्षण करता है।[३६९] यजमान की पत्नी के लिए मुण्डन कृत्य के अतिरिक्त समस्त कार्यों का सम्पादन

---

३६३. वाराश्रौ १/४/१/१

३६४. द्र० मान०श्रौ १/५/१/१

३६५. द्र० मान०श्रौ ५/२/९ विधते चतुर्थस्य वर्णस्याग्न्याधेयम् इत्येके न इत्यपरम्।

३६६. वारा०श्रौ १/४/१ 'पौर्णमास्याममावास्यायां वा... रथकार : । तु० वैखा श्रौ १२, १/१.१, सश्रौ ३/३/२९६

३६७. वही, १/४/१/२ सार्ववर्णिकं शिशिरम् तु० मान०श्रौ १/५/१/१ आप श्रौ ५/३/१९, वैखा श्रौ १२/१/१/१

३६८. वही, १/४/१/३-४, तु० आपश्रौ ५/३/२०, माश्रौ ५/२/५, मान०श्रौ १/५/१, वैखा श्रौ १२.१/१,१

३६९. वही, १/४/१/५

यजमान के समान करने का विधान है।[३७०]

देवयजन का निर्माण

देवयजन के लिए तीन बाँसों को उत्तर की ओर आगे से ऊँचा करते हैं तथा बीच के बाँस की पूर्व दिशा में औपासन-अग्नि की स्थापना करते हैं। तदनन्तर ''प्रवेधसे............हेड्यानि स्वाहा'' इस मन्त्र से कूष्माण्ड होम करने का विधान है।[३७१]

ब्रह्मौदन[३७२]

ब्राह्मण ऋत्विजों को खाने के लिए ब्रह्मौदनिकाग्नि पर पकाया जाने वाला ओदन ब्रह्मौदन कहलाता है। इसे पकाने के लिए उसी रात्रि ब्रह्मौदनिक अग्नि पर अनडुह (बैल) की खाल पर हवि का अवहनन करते हैं। तदनन्तर चार शरावों में दूध के साथ ब्रह्मौदन पकाया जाता है।[३७३] पकने के पश्चात् अग्नि से उसे लेकर घृताक्त किया जता है और थोड़ा-थोड़ा ग्रहण कर चार आर्षेय ऋत्विजों को खिलाया जाता है।[३७४] तदनन्तर आर्षेय ऋत्विजों को उत्तम दक्षिणा दिये जाने का निर्देश है।[३७५] अवशिष्ट ब्रह्मौदन में चित्रिय अश्वत्थ की हरी पत्तियों एवं फलों से युक्त तथा प्रादेश मात्र परिमाण वाली तीन समिधाओं को डुबोकर; उन्हें अग्नि में डालते हैं। ध्यातव्य है कि समिधा-आधान के समय अग्नि को सम्बोधित करने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य यजमान के लिए क्रमशः तीन-तीन गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती मन्त्रों का भी उच्चारण विहित है।[३७६] ब्रह्मौदनिक अग्नि को एक संवत्सरपर्यन्त तथा विकल्पस्वरूप बारह, तीन एवं एक रात्रिपर्यन्त समिधा के आधानपूर्वक प्रज्वलित किये

---

३७०. द्र० आप श्रौ ५/४/९, एवं पत्नी केशवर्जम्।
३७१. वारा०श्रौ १/४/१/६, तु० मान०श्रौ १/५/१/१३
३७२. द्र० ब्रह्मौदन, चिन्नस्वामी, य०त०, प्र० पृ० ४ हि क, तथा तै.ब्रा., सायणमाष्य, १/१/९
३७३. वारा०श्रौ १/४/१/७ तस्मिन्निशायां ब्रह्मौदनं श्रपयति... पयसि वा जीवतण्डुलम्।
३७४. वही, १/४/१/८ उद्धृत्याभ्याज्यं कृत्वा तं चत्वार ऋत्विज आर्षेयाः सकृद् अवदाय प्राश्नन्ति।
३७५. वही, १/४/१/९ तेभ्यो वरं ददाति।
३७६. वही, १/४/१/१०

रखने का भी विधान है।[३७७] यदि किसी कारण निश्चित अवधि के पूर्व ब्रह्मौदनिकाग्नि बुझ जाती है; तो उसकी पुनः स्थापना करनी पड़ती है।[३७८]

यजमान के व्रत

तदनन्तर यजमान असत्य भाषण न करने, मांस मक्षण न करने तथा स्त्रीसमागम न करने का व्रत लेता है।[३७९] यजमान अपने वस्त्रों को न तो रेह मिश्रित जल के द्वारा धुलाता है और न तो अपनी गृह्याग्नि किसी अन्य व्यक्ति को देता है; और न किसी अन्य की अग्नि ही अपने घर ले आता है।[३८०] स्मर्तव्य है कि यजमान को अधिक दूर तक जाना भी नहीं चाहिए। इसे तो किसी के पीछे-पीछे भी नहीं चलना चाहिए।[३८१] यदि अनुगमन करता है; या अधिक दूर जाता है; तो उसे चार शरावों में ब्रह्मौदन पकाकर समिधाओं का पुनराधान करना चाहिए।[३८२] यजमान अगले दिन अग्न्याधान करने की इच्छा से रात्रि में काले धब्बों वाली एक बकरी लाकर गार्हपत्यायतन के उत्तर में बाँधता है[३८३] तथा रात्रिभर हाथों में अरणियों को लिए हुए जागरण करता है। समन्त्रक समिधाधान द्वारा वह ब्रह्मौदनिकाग्नि को प्रज्वलित किये रहता है।[३८४] वैखानसश्रौतसूत्रकार ने इस समय अध्वर्यु के लिए भी व्रत ग्रहण करने का निर्देश किया है।[३८५]

अरणि-प्रदान

अग्न्याधेय हेतु उपयुक्त अग्नि के उत्पन्न करने में घर्षण के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले दो काष्ठों की 'अरणि' संज्ञा है। इसका निर्माण शमीगर्भ अश्वत्थ के वृक्ष से किया जाता है। शमीगर्भ अश्वत्थ के

---

३७७. वही, १/४/१/११, संवत्सरं ब्रह्मौदनिकं...एकरात्रं वा।
३७८. द्र० वैखाश्रौ १२. ६/१. ६ तथा सश्रौ ३/२/३०३
३७९. वारा०श्रौ १/४/१/१२, नानृतं वदेन्न मांसमश्नीयात् न स्त्रीयमुपेयात्।
३८०. वही, १/४/१/१२
३८१. वही, १/४/१/१३
३८२. वही, १/४/१/१३ यदि प्रयायात् अनु वागच्छेत... पक्त्वा पुनरादध्यात्।
३८३. वही, १/४/१/१४ इति निशायाम् कल्माषमजं बध्नाति।
३८४. वही, १/४/१/१५-१६ अरणि पाणिर्यजमानो जागर्ति... इति शल्कैरग्निमिन्धीत'।
३८५. द्र० वैखा श्रौ १२, ६/१, ६, अध्वर्युश्चैतां रात्रिमेतद्व्रतं चरति।

अभाव में साधारण अश्वत्थ की अरणि का भी प्रयोग अभिप्रेत है।[३८६] दोनों अरणियों को अध्वर्यु प्रातःकाल (उषाकाल में) ब्रह्मौदनिकाग्नि में तपाता है।[३८७] मन्त्रोच्चारण द्वारा अरणियों का प्रक्षेपणकरता है।[३८८] तदनन्तर अध्वर्यु दोनों अरणियों को दो मन्त्रों द्वारा यजमान को प्रदान करता है। यजमान उसे समन्त्रक ग्रहण करता है।[३८९] अरणि ग्रहण कर 'अनृतात्सत्य०' इत्यादि मन्त्र द्वारा वह वाग्नियमन करता है।[३९०] अध्वर्यु ब्रह्मौदनिकाग्नि को अभिमन्त्रित कर बुझवा देता है और अनुगमन कर भस्म को उठाता है।[३९१]

अग्निशाला का निर्माण

अध्वर्यु उपयुक्त स्थान में पूर्व और पश्चिम को फैली हुई स्वच्छ मिट्टी से अग्निशाला का निर्माण करता है। ध्यातव्य है कि इसमें अनिवार्यतः पूर्व एवं दक्षिण दिशा की ओर द्वार होना चाहिए।[३९२]

गार्हपत्याग्नि का आयतन

अध्वर्यु अग्निशाला के पश्चिम में गार्हपत्याग्नि का आयतन निर्मित करता है; एतदर्थ १८ अङ्गुल परिमाण वाली रस्सी से वृत्ताकार एवं ८ अङ्गुल ऊँचा स्थण्डिल बनाता है तथा उसके परितः चार अङ्गुल मात्र चौड़ाई को छोड़कर मध्य में ६ अङ्गुल गहरा खोदता है। स्मर्तव्य है कि गार्हपत्याग्नि का आयतन वृत्ताकार ही होता है।[३९३]

आहवनीयाग्नि का आयतन

अध्वर्यु गार्हपत्याग्नि के आयतन के पूर्व ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य

---

३८६. द्र० का श्रौ सू ४/७/२१ अभावेऽगर्भस्य'।
३८७. वारा०श्रौ १/४/१/१७ उपव्युषमरणी निष्टपति।
३८८. वही, १/४/१/१८ इति अरण्योरग्निं समारोपयति... इति च।
३८९. वही, १/४/१/१८-२०
३९०. वही, १/४/१/२१ प्रतिगृह्य वाचं यच्छति... इति।
३९१. वही, १/४/१/२२ अनुगमयन्ति अग्निमुद्धरन्ति भस्म।
३९२. द्र० वैखा श्रौ १२. १/१.२
तथा चिन्नस्वामी य.त.प्र., पृ० ३ सश्रौ ३/२/२९७-९८
३९३. द्र० चिन्नस्वामी, यतप्र, पृ० ५ तथाहि गार्हपत्याग्नेरायतनं वृत्ताकारम्।

यजमानों के लिए क्रमशः आठ, ग्यारह तथा बारह प्रक्रमों पर आहवनीय अग्नि का आयतन बनाता है।[३९४] विकल्प स्वरूप अपरिमित[३९४क] दूरी पर भी निर्माण किया जा सकता है।[३९५] यह भी ऊर्ध्व मेखला एवं अधोमेखला युक्त, ३२ अङ्गुल लम्बे, ८ अङ्गुल ऊँचे स्थण्डिल वाला चतुष्कोणीय बनाया जाता है।[३९६] ध्यातव्य है कि इन्हीं दोनों आयतनों के बीच वेदि का निर्माण भी विहित है।

दक्षिणाग्नि का आयतन

वेदि के दक्षिण पश्चिम भाग में तथा गार्हपत्य अग्नि के दक्षिण पूर्व की ओर अर्ध चन्द्राकृति सदृश् दक्षिणाग्नि का आयतन बनाया जाता है। इसकी दूरी आहवनीय एवं गार्हपत्य की दूरी से तृतीयांश (१/३ भाग) होती है।[३९७]

सभ्याग्नि का आयतन आहवनीयायतन से पूरब की ओर और आवसथ्याग्नि का आयतन सभ्याग्नि के आयतन से भी पूरब की ओर करना चाहिए।[३९८] कतिपय आचार्य आवसथ्य आयतन को त्रिकोण और अन्य आचार्य चौकोर होने का निर्देश करते हैं।[३९९]

सम्भारों का सम्भरण

अध्वर्यु अग्नियों की स्थापना के पहले वेदि में प्रयोज्य जिन भौमिक उपाकरण एवं काष्ठ सम्बन्धी पदार्थों को एकत्र करता है; उनका विवरण निम्नलिखित है -

भौमिक पदार्थ - वाराह-विहित (सुअर से खोदी गयी मिट्टी),

---

३९४. वारा०श्रौ, १/४/१/२३

३९४क. वही, १/४/१/२३ अपरिमिते वा।

३९५. द्र० वैखा श्रौ सू १२/२/१/२ तथा चिन्नस्वामी, यत प्र, पृ० ५ टि०

३९६. द्र० माश्रौ २/७/१४, वैखाश्रौ १२/२/१/२ द्वयोर्मध्ये वेदिं कुरुते।

३९७. वारा०श्रौ १/४/१/२४, वितृतीयमात्रे दक्षिणाग्निं दक्षिणतः पुरस्ताद् गार्हपत्यस्य।

३९८. वही, १/४/३/१ सभ्यात्पूर्वमावसथ्यम्। तु० सश्रौ ३/३/३०६, माश्रौ ५/२/२०-२१, वैखाश्रौ १२/३/१.३

३९९. द्र० सश्रौ ३/३/३०६, आवसथ्यायतनं त्रिकोणः, वैखाश्रौ १२/३/१/३ आवसथ्यंचतुरस्रम्।

वल्मीक-वपा, ऊषा, प्रवाहसिकता, शर्करा, आयुकिरी, पिपीलिकाकिरी, गोष्ठात्करीष, लोहशकल इत्यादि।

काष्ठसम्बन्धी पदार्थ - अश्वत्थ, उदुम्बर, विकङ्कत, शमी, अशनिहत वृक्ष, पलाश, पुष्कर-पर्ण इत्यादि सम्भारों को मन्त्रोच्चारण द्वारा अभिमन्त्रित करके निर्वपन किया जाता है।[४००]

सम्भारों के निर्वपन के समय यजमान अपने शत्रु के विनाश के विषय में मनसा ध्यान करता रहता है।[४०१] समन्त्रक चाँदी के टुकड़े को अभिमन्त्रित करके अध्वर्यु यजमान के शत्रु को प्रदान करता है। यदि शत्रु न हो; तो उसकी ही ओर फेंक देने का विधान है।[४०२]

अध्वर्यु अग्न्यायतनों में विहित सम्भारों को फैलाकर सिकता और उषा आदि समस्त वानस्पत्य पदार्थों को मिलाकर प्रत्येक अग्नि में निर्वपन करता है।[४०३]

अग्निमन्थन

सम्भारों के सम्भरण के अनन्तर अध्वर्यु गार्हपत्याग्नि में अरणियों को रखकर तथा वानस्पत्यपदार्थों का अभिमन्त्रण कर दशहोतृ मन्त्र से उत्तरारणि को अधरारणि पर रखता है।[४०४] अरणियों के समीप एक अश्व को खड़ा करके अग्नि का मन्थन करता है।[४०५] मन्थन के समय अध्वर्यु यजमान से अनुवाक का पाठ कराता है।[४०६] तदनन्तर जायमान अग्नि का अभिमन्त्रण कर यजमान वाग्विसर्जन करता है।[४०७] अग्नि के प्रादुर्भूत

---

४००. वारा०श्रौ १/४/१/२५ आधानानुपूर्वेण सम्भारान्निवपति।
४०१. वही, १/४/२/६ निवपुस्यन् द्वेष्यं मनसा ध्यायेत्।
४०२. वही, १/४/२/१८-१९
४०३. द्र० सश्रौ ३/३/३०९, भाश्रौ ५/५/१-५, तथा ६/१/५, वैखा.श्रौ. १ १०/१. १०
४०४. वारा०श्रौ १/४/१/१०
४०५. वही, १/४/२/१२
४०६. वही, १/४/२/११, १३
४०७. द्र० वैखा.श्रौ. १२.१०/१.१०

होने के अनन्तर यजमान अध्वर्यु को दक्षिणास्वरूप एक गाय प्रदान करता है।[४०८]

अग्न्यायतनों में अग्नियों की स्थापना

अग्निमन्थन से उत्पन्न अग्नि को निम्नलिखित अग्न्यायतनों में प्रतिष्ठापित किया जाता है।

(क) गार्हपत्याग्नि का आधान

मन्थनोत्पन्न अग्नि को प्रज्वलित करके अध्वर्यु गाहपत्याग्नि के आयतन में सूर्य के उदय हो जाने पर या उदित होने के पूर्व या उदित होते समय सम्भारों के ऊपर स्थापित करता है।[४०९] आधान के समय उद्गाता रथन्तर साम का गान करता है।[४१०] उसी समय अध्वर्यु दो व्याहृतियों एवं यजमान के गोत्र एवं वर्ण के उपयुक्त मन्त्रों का पाठ करता है तथा दो सार्पराज्ञी ऋचाओं का पाठ करता है।[४११]

आहवनीयाग्नि का आधान

अध्वर्यु आहवनीय अग्नि की प्रतिस्थापना के लिए अग्निप्रणयनीय इध्मों को गार्हपत्याग्नि में प्रज्वलित किये रहता है और पूर्व दिशा की ओर पश्चिमाभिमुख रथयुक्त अश्व को खड़ा कर उसके दायें कान में यजमान मन्त्रों का पाठ करता है।[४१२] मन्त्र द्वारा समन्त्रक अग्नि उठाकर सम्भारपूर्ण शूर्प में इध्मों को रखकर उपयमनी उठाता है। उस उपयमनी का प्रणयन करता है। अन्यजन घोड़े को आगे-आगे ले जाते हैं। अग्नि प्रणयन करते समय अध्वर्यु गाहपत्य एवं आहवनीय के बीच में कुछ दूर तक उपयमनी को ऊँचा उठाता है। तदनन्तर वह कुछ दूर तक जानुपर्यन्त, नाभिपर्यन्त, मुखपर्यन्त तथा कर्णपर्यन्त क्रमशः ऊँचा उठाकर ले जाता है।[४१३] उपयमनी कर्ण से ऊपर नहीं उठानी

---

४०८. वही, १/४/२/१५, जाते वरं ददाति

४०९. वही, १/४/२/९

४१०. वही, १/४/३/२८ रथन्तरं गायति गार्हपत्य आधीयमाने।

४११. वही, १/४/२/२२

४१२. वही, १/४/३/८

४१३. वही, १/४/३/१०-१३

चाहिए।[४१४] आधी दूरी तक ले जाने के बाद यजमान अग्नि का उपस्थान कर अध्वर्य को श्रेष्ठ दक्षिणा प्रदान करता है।[४१५] अग्निप्रणयन करता हुआ दक्षिण ओर धुरे को धारण करके ब्रह्मा रथ को तीन बार चलाता है।[४१६] ज्ञातव्य है कि इस समय जो यजमान शत्रुओं से घिरा हो तो उसे रथचक्र के द्वारा विहार की तीन बार परिक्रमा करनी चाहिए।[४१७]

अध्वर्यु आहवनीय अग्नि के आयतन में पूर्व के पश्चिम की ओर प्रथमतः दायें पैर से अश्व को पदाक्रमण कराता है; पुनः बायें से।[४१८] अब उद्गाता द्वारा आहवनीयाग्नि ग्रहण के समय बृहत्साम का एवं आधान के समय वामदेव्य साम का प्रयोग करता है। यज्ञायज्ञिय रखने के समय वारवन्तीय तथा हाथ में लेकर वरण करते समय श्यैत सामों का गान करता है।[४१९] इसके अतिरिक्त वह सभी व्याहृतियों एवं सार्पराज्ञी इत्यादि मन्त्रों का भी पाठ करता है।[४२०]

दक्षिणाग्नि का आधान

अध्वर्यु गार्हपत्य से अग्नि लेकर दक्षिणाग्नि की स्थापना करता है। इसके अतिरिक्त विकल्पस्वरूप वह आहवनीय में भी प्रतिष्ठित कर सकता है।[४२१]

सभ्य एवम् आवसथ्याग्नि का आधान

अध्वर्यु आहवनीयाग्नि से 'सभा'[४२१क] के पूर्व की ओर सभ्य अग्नि की स्थापना करता है।[४२२] स्मर्तव्य है कि इस समय सभा के

---

४१४. वारा.श्रौ. १/४/३/१४ न कर्णदघ्नमत्युद्यच्छति।
४१५. वही, १/४/३/१६ समयाध्वे वरं ददाति।
४१६. वही, १/४/३/१७
४१७. वही, १/४/३/१८ रथचक्रेण विहारं त्रिरनुपरिवर्तयेयुः।
४१८. वही, १/४/३/१९
४१९. वही, १/४/३/२९-३१
४२०. वही, १/४/३/२५-२७
४२१. वही, १/४/३/४-५ गार्हपत्याद् दक्षिणाग्निमादधाति। आहवनीये मथ्यमाहार्य वा।
४२१क. सभा हेतु द्र० चिन्नस्वामी, यतप्र, पृ० ६ हि त।
४२२. वही, १/४/३/३२, पुरस्तात् सभाया आहवनीयात् सभ्यमग्निमादधाति।

पश्चिम चार सौ अक्षों को रखने का विधान है।[४२३] सभ्याग्नि की स्थापना के बाद इसके पूर्व की दिशा में आवसथ्याग्नि की स्थापना करनी चाहिए।[४२४] अग्नियों की स्थापना के अनन्तर यजमान को अग्नियों के समीप ही रहना चाहिए।[४२५]

दक्षिणा

अग्नियों की स्थापना के पश्चात् यजमान वाणी का विसर्जन कर "अग्नेर्मन्व०" आदि मन्त्र द्वारा बँधी हुई बकरी को विमुक्त कर दक्षिणा प्रदान करता है।[४२६] एतदर्थ वह ब्रह्मा को एक अश्व, आग्नीध्र को एक बकरी और सर्वसूत्रीय तकिया दक्षिणा स्वरूप देता है। होता को एक धेनु तथा अध्वर्यु को क्षौम वस्त्र के साथ ही एक बैल भी प्रदान करता है। ध्यातव्य है कि अध्वर्यु को उक्त दक्षिणा के स्थान पर विकल्पस्वरूप एक अश्व प्रदान किया जा सकता है।[४२७] उक्त दक्षिणास्वरूप दी जाने वाली गायों की संख्या क्रमशः ६, बारह एवं चौबीस है, किन्तु यह दक्षिणा अपरिमित भी हो सकती है।[४२८] इसके साथ ही साथ दो अश्वों से युक्त एक-एक रथ सभी ऋतिवजों के लिए दक्षिणास्वरूप विहितव्य है।[४२९] यदि यजमान उक्त दक्षिणा देने में समर्थ न हो; तो उसे कम से कम एक गाय दक्षिणास्वरूप अवश्य प्रदान करनी चाहिए।[४३०]

यजमान हेतु वर्जित कर्म

अग्नियों की स्थापना के अनन्तर यजमान के लिए वर्जित कर्मों का भी निर्देश किया गया है। यथा - असत्य भाषण न करना, घर में आये हुए ब्राह्मण को उपवास न करने देना, क्षारस्थल में शयन न करना, नाव में यात्रा करते हुए जल में आचमन न करना, पृथ्वी के ताप से पके

---

४२३. वारा.श्रौ., १/४/३/३३ तस्य पश्चात् ततुः शतमक्षान्निवपति।

४२४. वही, १/४/३/३४ सभ्यात्पूर्वमावसथ्यम्।

४२५. वही, १/४/३/४३ अग्नीमुपतिष्ठते यजमानः।

४२६. वही, १/४/३/३५-३

४२७. वही, १/४/३/३८-३९

४२८. वही, १/४/३/४१

४२९. वही, १/४/३/४०

४३०. द्र० वैखा श्रौ० १२.५/ १.१५

हुए खाद्यपदार्थों को न खाना तथा आर्द्रकाष्ठ का अग्नियों में प्रक्षेपण न करना।[४३१] इसी के साथ ही साथ यजमान को अग्नि के समीप ही सदैव रहने का भी निर्देश किया गया है।[४३२]

समिधाओं का आधान

अध्वर्यु अग्न्यायतनों में अग्नियों की स्थापना करने के अनन्तर प्रत्येक अग्नि में समिधाओं का आधान करता है। वह आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिण अग्नियों में अश्वत्थ वृक्ष की तीन समिधाओं को मन्त्र (मै.सं. १.५.१:६६.८) द्वारा प्रक्षिप्त करता है।[४३३] तदनन्तर शमीवृक्ष की तीन समिधाओं को भी घृताक्त कर "समुद्रादूर्मि०" (मै.सं. १.६.२) इत्यादि मन्त्र से आधान करता है;[४३४] और पुनः मन्त्रपूर्वक विकङ्कत तथा उदुम्बर आदि अनेक वृक्षों की समिधाओं का भी आधान करणीय है।[४३५] स्मर्तव्य है कि आहवनीयाग्नि में अनेक वृक्षों की नाना प्रकार की समिधाओं के आधान का भी विधान विहित किया गया है।[४३६]

पूर्णाहुति[४३७]

समिधा आधान के पश्चात् पूर्णाहुति होम करने का निर्देश किया गया है। एतदर्थ अध्वर्यु जुहू के द्वारा आज्य को चार बार ग्रहण कर आहवनीय से आगे की ओर जाकर मन्त्र (मै.सं. १.६.२) द्वारा आहुति देता है।[४३८] पूर्णाहुति हवन के बाद यजमान अध्वर्यु को दक्षिणा के रूप में एक गाय प्रदान करता है।[४३९] तदनन्तर यजमान द्वारा अग्नियों के उपस्थान का विधान किया जाता है।[४४०]

---

४३१. वारा०श्रौ १/४/३/४२
४३२. वही, १/४/३/४३ अग्नीनुपतिष्ठते यजमानः।
४३३. वही, १/४/३/३ तिस्रभिस्तिस्र आश्वत्थीः समिध आदधाति।'
४३४. वही, १/४/४/४ तिसृभिस्तिस्रः श्मीमयीर्घृताक्ताः समिध आदधाति।
४३५. वही, १/४/४/२
४३६. वही, १/४/४/२ आहवनीये नानावृक्षीयाः समिध आदधाति।
४३७. द्र० एगलिंग, से बु ई, १२/१ पृष्ठ ३०१
४३८. वही, १/४/४/७ जतुर्गृहीतं आज्यं पूर्णाहुतिमग्रेणाहवनीयं गत्वा उदङ्ङावृत्य जुहोति।
४३९. वही, १/४/४/८ हुतायां धेनुं ददाति।
४४०. वही, १/४/४/९

अग्न्याधान की अङ्गेष्टियाँ

(क) आग्नेय इष्टि – पूर्णाहुति के पश्चात् अग्न्याधान के प्रधान कार्यों की समाप्ति हो जाती है। तदनन्तर अग्न्याधान की अङ्गेष्टियों का विधान किया जाता है। एतदर्थ अध्वर्यु अग्नि देवता हेतु अष्टाकपालक पुरोडाश का निर्वपन करता है।[४४१] मन्त्र द्वारा सभा के बीच में जुआ खेलने के लिए निश्चित स्थान में हिरण्य स्थापित किया जाता है। इस समय क्षत्रिय यजमान को आज्य की आहुतियाँ देनी चाहिए।[४४२] वहाँ पर अध्वर्यु यजमान के लिए एक सौ अक्षों को प्रदान करता है।[४४३] जुआ खेलता हुआ यजमान सभासदों से जो अन्न जीतता है; उसे ब्राह्मणों को दे देता है।[४४४]

पवमानीय इष्टि

तदनन्तर पवमानीय हवियों का अनुष्ठान करना चाहिए। एतदर्थ आग्नेय इष्टि की समाप्ति के तुरन्त बाद अथवा १२ दिन या एक संवत्सरपर्यन्त अनुष्ठान करते रहने का विधान है।[४४५] अध्वर्यु अग्निपवमान के लिए अष्टाकपालक पुरोडाश का निर्वपन करता है तथा इसके अतिरिक्त वह अग्निपावक और अग्नि शुचि के लिए भी अष्टाकपालक पुरोडाश का विधान करता है।[४४६]

दक्षिणा[४४७]

पवमानीय इष्टि की दक्षिणा में यजमान तीस मान हिरण्य को दक्षिणा के रूप में प्रदान करता है।[४४८] अग्नि पावक और अग्नि शुचि की हवि का निर्वपन करने के अनन्तर दी जाने वाली दक्षिणा के रूप में

---

४४१. वारा.श्रौ. १/४/४/१० आग्नेयमष्टा कपालं निर्वपति।
४४२. वही, १/४/४/११
४४३. वही, १/४/४/१३ तत्र शतमक्षान्यजमानाय प्रयच्छति।
४४४. वही, १/४/४/१७ तया यदन्नं जयेत्तद्ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्।
४४५. वही, १/४/४/२९ सद्यो निर्वप्रेद् द्वादशाहे संवत्सरे वा।
४४६. वही, १/४/४/२३-२५
४४७. द्र० से बु ई., एगलिंग, १२, १ पृ० ३०९ हि १ तै.ब्रा. १/१७/९,१०
४४८. वही, १/४/४/२४ त्रिंशन्मानँ हिरण्यँ दक्षिणा।

क्रमशः तीस एवं चालीस मान हिरण्य प्रदान करने का विधान है[४४९] और अन्तिम दक्षिणा के रूप में २४ मान हिरण्य।[४५०]

अन्य देवताक इष्टियाँ

पवमानीय हवियों के निर्वपन के अनन्तर अध्वर्यु अग्नावैष्णव के लिए एकादश कपालक पुरोडाश याग का विधान करता है और तीन बार शिपिविष्ट वरुण देवता के लिए धृताक्त चरु, अदिति देवताक चरु और अग्नीषोमीय एकादशकपालक पुरोडाश का निर्वाप करता है।[४५१] स्मर्तव्य है कि सोमयाजी को अन्तिम तीनों हवियों के निर्वपन करने के सम्बन्ध में सविकल्प विधान हैं।[४५२] अग्नीषोमीय देवता के लिए निर्दिष्ट याग का विधान केवल ब्राह्मण यजमान के लिए ही करणीय है।[४५३] तदनन्तर अध्वर्यु फलीकृत चरुओं और तण्डुलों का निर्वपन करता है। एतदर्थ वह पाँच अवदानों में दो स्विष्टकृत मन्त्रों द्वारा ग्रहण करता है तथा आदित्य देवता हेतु अध्वर्यु आहवनीय अग्नि में हवन करता है।[४५४] अवशिष्ट इवियों का ४ आर्षेय ऋत्विजों को दो-दो करके एक साथ भक्षण करना चाहिए।[४५५] उन समस्त ऋषियों को एक-एक साँड़ और एक-एक बछड़े से युक्त गायों की दक्षिणा दी जाती है।[४५६]

तत्पश्चात् अग्नियों को बारह रात्रियों तक सतत रूपेण आज्य हवन के द्वारा प्रज्वलित किये रहना चाहिए। मन्त्र के द्वारा दो पार्वणी होम तथा चार अन्य होमों का हवन मन से ही करने का निर्देश है।[४५७] अन्वारम्भणीय इष्टि के अनन्तर अग्नि में विष्णु तथा अग्नि देवताक एकादश कपालक पुरोडाशों का निर्वपन करना चाहिए। जो यजमान इच्छा

---

४४९. वाराहश्रौ १/४/४/२६-२७
४५०. वही, १/४/४/२७ चतुर्विंशमुत्तमम्।
४५१. वही, १/४/४/२८
४५२. वही, १/४/४/३०
४५३. द्र० मान०श्रौ १/६/१/६
४५४. वारा.श्रौ. १/४/४/३१-३४
४५५. वही, १/४/४/३५ तच्चत्वार ऋत्विज् आर्षेय द्वौ द्वौ सह प्राश्नन्ति।
४५६. वही, १/४/४/३६
४५७. वही, १/४/४/३७

करे कि[४५८] 'मैं धन एवं अन्न वाला हो जाऊँ' तो उसे अष्टाकपालक पुरोडाश हवि का निर्वाप करना चाहिए।[४५९] अब अध्वर्यु सरस्वती देवताक द्वादश कपालक चरु का निर्वपन करता है।[४६०] स्विष्टकृत याग के रूप में मै.सं. १.४.१४ : ६३.१७ मन्त्रों द्वारा जयसंज्ञक बारह आहुतियाँ देनी चाहिए तथा जो अपनी सन्तान को चित्रमय होने की कामना करे; तो उसे अन्य आहुतियों को भी विहित मन्त्र ''अग्नेवलेदति:''० द्वारा देनी चाहिए।[४६१] अन्त में गायों के एक-एक जोड़े दक्षिणा स्वरूप प्रदान किये जाते हैं।[४६२]

पुनराधान

पुनराधान एक प्रकार का प्रायश्चित्त है; जो गार्हपत्य या आहवनीय अग्नि के बुझ जाने अथवा नष्ट हो जाने पर सम्पादित किया जाता है।[४६३] विधिपूर्वक स्थापित अग्नियों की पुनः स्थापना करना पुनराधान है।[४६४] इसकी समस्त इष्टियाँ अग्न्याधेय के समान ही विहित हैं, किन्तु इसमें कुछ अतिरिक्त विकारों का भी निर्देश किया गया है।

उपयोगिता

जिस यजमान की गार्हपत्य एवं आहवनीय अग्नियाँ विनष्ट हो जायँ या पुत्र की मृत्यु हो गयी हो या स्वयं विधुर हो गया हो अथवा जिसकी प्रज्वलित अरणियाँ नष्ट हो गयी हों तो उसे पुनराधान का विधान करना चाहिए।[४६५] यदि अग्न्याधान सम्पन्न करने के पश्चात् एक संवत्सर पर्यन्त उक्त परिस्थितियाँ घटित हों जायँ तो पुनराधेय का

---

४५८. वारा.श्रौ. १/४/४/४१
४५९. वही, ३/४/४/४२
४६०. वही, १/४/४/४३ सरस्वत्यै चरुः.... इति हवींषि।
४६१. वही, १/४/४/४४-४८
४६२. वही, १/४/४/४९ मिथुनौ गावौ दक्षिणा।
४६३. द्र० जै० मीमांसासू० ६/४/२६-२७
४६४. द्र० आप श्रौ ५/२६/१
(रामाग्नि चि०बृ० सहित धूर्तस्वामी भाष्य)
४६५. वही, १/५/१/१

अनुष्ठान विहितव्य है।[४६६] कतिपय आचार्यों के अनुसार राज्य एवं यश की कामना से भी पुनराधेय का अनुष्ठान किया जाता है।[४६७]

पुनराधान का काल

पुनराधानकृत्य वर्षा एवं शरद् ऋतु; रोहिणी, पुनर्वसु तथा अनुराधा नक्षत्रों में से किसी भी एक पर्व के दिन अनुष्ठेय है।[४६८] कतिपय आचार्यों के मत में पुनराधान की समस्त अग्नियों की स्थापना वर्षा ऋतु के मध्याह्नकाल में करनी चाहिए।[४६९]

सम्भारों का सम्भरण

पुनराधान में सम्भारों के सम्भरण के सम्बन्ध में द्विधाविचार धाराएँ हैं : प्रथम विचारधारा के अनुसार स्म्भरण कृत्य विहित है एवं द्वितीय मत में सम्भरण कृत्य अविहित है;[४७०] किन्तु वाराहश्रौतसूत्र के अन्तर्गत सम्भारों का सम्भरण करने के अनन्तर उन पर घास एवं कुश को भी बिछाने का विधान प्रस्तुत किया है।[४७१] सम्भरण में प्रयोज्य सार्पराज्ञी मन्त्रों का नित्य प्रयोग करना चाहिए।[४७२]

अनुष्ठेय विधि

अग्नियों की पुनः स्थापना के लिए उनका उत्सादन करना पड़ता है।[४७३] उत्सादनीय इष्टि के रूप में अध्वर्यु अग्नि वैश्वानर देवताक द्वादश कपालक पुरोडाश का निर्वपन करता है।[४७४] ज्ञातव्य है कि उक्त विधान अग्नियों के उत्सादन हेतु दर्श अथवा पूर्णमास इष्टि सम्पन्न करने

---

४६६. द्र० सश्रौ ६/५/५३०

४६७. माश्रौ ५/१७/४/६, एवं काश्रौ ४/११/२ राज्यंयशस्कामस्य वा।

४६८. वारा०श्रौ १/५/१/६

४६९. द्र० माश्रौ १/१/९/३, काश्रौ ४/११/६, सश्रौ ३/६/३३३, वैखा श्रौ १२, १९। १, १९ सर्वान्काममाध्यन्दिने।

४७०. द्र० मै सं० १/७/२, वैखा श्रौ १२. १९/१. १९, सश्रौ ३/६/३३३, श्रौपनि पृ० ६८, प० ४२५, आपश्रौ ५/२७/७

४७१. वाराह श्रौ १/५/१/७

४७२. वही, १/५/१/८

४७३. द्र० इग्लिंग, से बु ई १२/१/ पृ० ३१९ हि० ७

४७४. वारा०श्रौ १/५/१/२

के अनन्तर ही किया जाता है।[४७५] अध्वर्यु स्विष्टकृत आहुति के रूप में मन्त्रों के द्वारा सप्त आज्याहुतियाँ प्रदान करता है।[४७६] अन्त में प्रज्वलित अग्नियों को बुझाकर यजमान एक संवत्सरपर्यन्त बिना अग्नियों के ही रहता है।[४७७]

आग्न्यायतनों की स्थापना

आयतनों में सम्भारों के सम्भरण के पश्चात् अध्वर्यु दर्भों को बिछाता है।[४७८] गार्हपत्य से अग्नि ग्रहण कर अग्न्याधान के समान मन्त्र के द्वारा गार्हपत्य, दक्षिण तथा आहवनीय अग्नियों की स्थापना करता है। तदनन्तर पूर्णाहुति के रूप में पाँच बार मन्त्र द्वारा आहवनीयाग्नि में होम करता है।[४७९]

अब अग्निदेवताक अष्टाकपालक अथवा पञ्चकपालक पुरोडाश का निर्वपन किया जाता है।[४८०] चार प्रयाज़ मन्त्रों में विभक्ति विपरिणाम करके होता उपांशु स्वर में देवताओं को हवियाँ प्रदान करता है।[४८१] इसी के साथ ही साथ दो अनुयाज मन्त्रों में दो विभक्तियों का भी प्रयोग करता है।[४८२] अब स्विष्टकृत् आहुति के रूप में आदित्य देवता के नाम से आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[४८३]

दक्षिणा

पुनराधान की दक्षिणा के रूप में पुनरुत्स्यूत वस्त्र, पुनर्नवरथ, पुनरुत्सृष्ट बैल तथा शतमान हिरण्य प्रदान किये जाने का विधान है।[४८४] इसके अतिरिक्त इष्टि की समाप्ति के अवसर पर अग्नि वरुण देवताक

---

४७५. द्र० वैखा श्रौ १२/१९, १/१९, श्रौ प नि पृ० ६८, २२४

४७६. वारा०श्रौ १/५/१/३

४७७. वही, १/५/१/४

४७८. वही, १/५/१/७

४७९. वही, १/५/१/९-१०

४८०. वारा०श्रौ १/५/१/११ आग्नेयम् अष्टाकपालं निर्वपेत् पञ्चकपालं वा।

४८१. वही, १/५/१२/१४

४८२. वही, १/५/१/१४

४८३. वही, १/५/१/१६ इत्यादित्य नामानि जुहोति।

४८४. वही, १/५/१/१७

एकादश कपालक पुरोडाश का विधान है।[४८५]

पुनराधान के शेष समस्त कृत्य अग्न्याधान की भाँति सम्पन्न किये जाने का भी निर्देश है।[४८६]

अग्नि का तृतीयाधान

पुनराधान सम्पन्न करने के अनन्तर एक वर्ष के भीतर ही धनसुरक्षा आदि के निमित्त पुनः अग्नियों का आधान करना तृतीयाधान कहलाता है।[४८७] एतदर्थ समस्त कृत्यों का सम्पादन अग्न्याधान के समान सम्पन्न करने के पश्चात् पूर्णाहुति होम के रूप में आदित्य देवताक आहुतियाँ प्रदान करने का पृथक् से विधान किया गया है।[४८८]

अग्निहोत्र

अग्नि के निमित्त होम किये जाने के कारण इस हविर्यज्ञ की 'अग्निहोत्र' संज्ञा है।[४८९] अग्न्याधान के सम्पन्न हो जाने पर उसी दिन से अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिए। आहिताग्नि यजमान को आजीवन अग्नि होत्र होम करने का विधान है।[४९०] एतदर्थ सायं एवं प्रातःकाल प्रत्येक दिन में दो बार होम किया जाने का निर्देश है।[४९१] सायंकालीन अग्निहोत्र होम प्रदोष काल में नक्षत्रों के दृष्टिगत होने पर अथवा सूर्यास्त काल में तथा प्रातःकालीन अग्निहोत्र होम सूर्य के उदय होने पर या किरणों के परिस्फुटित होने पर अथवा सूर्य के उदय होने के पूर्व ही सम्पन्न करने का विधान है।[४९२]

विधि

अध्वर्यु अग्निहोत्र के लिए जलते हुए अङ्गारों को गार्हपत्याग्नि

---

४८५. वारा.श्रौ. १/५/१/१९ समाप्येष्टिमाग्निवारुणमेकादशकपालं निर्वपेत्।
४८६. वही, १/५/१/६ सर्वं पुराधेये यथाग्न्याधेयं इष्टिवर्गम्।
४८७. द्र० श्रौ प नि, पृ० ७०, प० ४३५।
४८८. वारा०श्रौ १/५/१/२०
४८९. द्र० तै.ब्रा., सायणमाष्य, २/१/२
४९०. वारा०श्रौ १/१/१/८६ यावज्जीवमग्निहोत्रम्।
४९१. वही, १/५/२/१
४९२. वही, १/५/२/७,८ प्रदोषं अग्निहोत्रं जुहुयान्नक्षत्रं... उदितेऽनुदिते वा।

से आहवनीय आयतन में उद्धृत करता है।[४९३] स्मर्तव्य है कि अग्नि प्रणयन हेतु अङ्गारों का ग्रहण कृत्य सायं एवं प्रातःकाल में अथवा रात्रि में ही करना चाहिए।[४९४] यजमान एवं अध्वर्यु प्रज्वलित अग्नियों को ग्रहण कर भिन्न-भिन्न मन्त्रों द्वारा प्रातःकाल एवं दोपहर में आधान करते हैं।[४९५] ज्ञातव्य है कि गतश्री को अग्नि-प्रज्वलन सदैव बनाये रखना चाहिए।[४९६] तदनन्तर पात्रासादन के समय पात्रों को स्थापित किया जाता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अरत्नि मात्र परिमाण वाली विकङ्कत वृक्ष से निर्मित अग्निहोत्र हवणी, अग्निहोत्रस्थाली एवं कपाल नामक पात्र ही अग्निहोत्र हेतु विधेय हैं।[४९७] तदनन्तर विहार में अग्निहोत्र हेतु गाय को ले आते हैं और अध्वर्यु दक्षिण दिशा में दोहन कृत्य करता है। वह दोहनी में दूध को दुहकर अग्निहोत्रस्थाली में रखता है।[४९८] ज्येष्ठिन् यजमान के लिए पहले दोनों स्तनों का दूध तथा गतश्री यजमान हेतु बाद के दोनों स्तनों का दूध दुहा जाता है।[४९९] अब यजमान अभिमर्शणकृत्य करता है।[५००]

तत्पश्चात् अध्वर्यु मन्त्र द्वारा आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नियों का जल से अभिषिञ्चन करता है तथा अग्नियों का परिस्तरण कर यजमान द्वारा आहृत इध्मों को समीपस्थ कर जल द्वारा पर्युक्षण भी करता है।[५०१] स्मर्तव्य है कि सायं एवं प्रातः कालिक पर्युक्षण कृत्य में प्रयुक्त मन्त्र भिन्न-भिन्न हैं।[५०२] अध्वर्यु गार्हपत्य से आहवनीय पर्यन्त अविच्छिन्न जलधारा गिराता है और गार्हपत्याग्नि से अङ्गारों को उत्तर दिशा की ओर निकालता है। उन पर अग्निहोत्र स्थाली को अधिश्रित कर,

---

४९३. वही, १/५/२/१... अग्निहोत्राय गार्हपत्यादाहवनीयं ज्वलन्तं प्रणयेत्।
४९४. वाराहश्रौ १/५/२/२ गृह्णीयाद्वानक्तम्।
४९५. वही, १/५/२/३-५
४९६. वही, १/५/२/६
४९७. वही, १/५/२/१०
४९८. वही, १/५/२/११
४९९. वही, १/५/२/१२
५००. वही, १/५/२/१२
५०१. वाराहश्रौ, १/५/२/१४
५०२. वही, १/५/२/१३

प्रज्वलित तृणों से प्रकाश करता है।[५०३] तदनन्तर अध्वर्यु स्रुव के जल से दूध, दही एवं आज्य का अभिषिञ्चन कर तृण द्वारा अग्निहोत्र स्थाली का तीन बार पर्यग्निकरण करता है। अग्निहोत्र-स्थाली को सींचते हुए अङ्गारों से नीचे उतारता है।[५०४] अध्वर्यु गार्हपत्याग्नि के अङ्गारों पर स्रुव को तपाता है। इस समय यजमान उच्च स्वर से मन्त्र पाठ करता है। ध्यातव्य है कि अध्वर्यु यजमान से उन्नयन हेतु आज्ञा लेता है। एतदर्थ सायंकालीन अग्निहोत्र हेतु 'ओमुन्नेष्यामि' एवं प्रातःकाल 'उन्नयामि' मन्त्र का प्रयोग करता है।[५०५] आज्ञा पाकर अध्वर्यु स्रुव द्वारा निकालकर अग्निहोत्रहवणी में चार बार उन्नयन करता है।[५०६] ज्ञातव्य है कि यजमान की कामनाओं की अभिपूर्ति हेतु स्रुव में हवि को पूर्ण रूपेण भर कर ग्रहण करना चाहिए।[५०७] इसी समय हेतु यह भी निर्देश विहित है कि यजमान को इस समय से अग्निहोत्र होम पर्यन्त अग्निप्रणयन किये रहना चाहिए।[५०८] अध्वर्यु अग्निहोत्रहवणी को स्थापित कर सायं एवं प्रातः काल दश-होतृ मन्त्रों के प्रयोग द्वारा अभिमर्शण करता है।[५०९] तदनन्तर उसे गाहपत्य के समीप तथा आहवनीय के पश्चिम में दर्भों पर आसादित करता है।[५१०] अध्वर्यु आहवनीय में पलाश वृक्ष की प्रादेश मात्र परिमाण वाली समिधा को लाकर स्थापित करता है।[५११] समिधा के प्रज्वलित होने पर मन्त्रोच्चारण से प्रथम आहुति देता है। ध्यातव्य है कि सायंकालीन आहुति अग्निदेवताक एवं प्रातः कालीन अग्निहोत्र में सूर्य-देवताक आहुति देनी चाहिए। अब अध्वर्यु अग्निहोत्र-हवणी को कुशों पर स्थापित

---

५०३. वारा.श्रौ. १/५/२/१४, १७, १८
५०४. वही, १/५/२/१९, २० तेन धर्मेण पुनरवीक्ष्य... तृणेन त्रिःपर्यग्निं कृत्वा... उद्वासयति...।
५०५. वही, १/५/२/२१ इति अङ्गारान्प्रत्यूह्य... इति स्रुवंनिष्टप्य प्रणवमुक्त्वा... इति यजमानं सायमामन्त्रयत... इति प्रातः।
५०६. वही, १/५/२/२२ इति चतुरुन्नयति।
५०७. वही, १/५/२/२३ सर्वानपूर्णान्यथालाभं वा।
५०८. वही, १/५/२/२५-२९।
५०९. वही, १/५/२/२७
५१०. वही, १/५/२/२८-३२
५११. वही, १/५/२/३३ इत्याहवनीये प्रादेश मात्रीं पलाशीं समिधमादधाति।

करता है।[५१२]

अब अध्वर्यु द्वितीय आहुति हेतु गार्हपत्य अग्नि का अवेक्षण कर प्रथम आहुति की मात्रा से अधिक मात्रा में आहुति को लेकर प्रजापति देवताक दूसरी आहुति प्रदान करता है।[५१३] तदनन्तर स्रुव के द्वारा अग्नि की ज्वाला को उत्तर की ओर उद्धृत करता है तथा स्रुव को रखकर स्रुव-सम्मार्जन से उद्भूत लेप को दक्षिण दिशा में भूमि पर गिरा देता है।[५१४] अध्वर्यु जलस्पर्श कर अवशिष्ट हवि का अङ्गुलियों से दो बार प्राशन करता है।[५१५] स्मर्तव्य है कि प्राशन-कृत्य दाँतों से नहीं करना चाहिए, अपितु बिना चबाये ही खाना चाहिए।[५१६] अब दण्ड को उत्तर में स्थापित करके वह अवशिष्ट हवि खाता है। तत्पश्चात् स्रुव के लेप को कुशों के द्वारा धोकर पुनः उसे जलाभिपूरित कर पूर्व से पश्चिम को ऊपर की ओर सिञ्चन करता है।[५१७] अध्वर्यु सामिधाधान के पश्चात् सर्प एवं पिपीलिका को उद्दिष्ट कर दो आहुतियाँ देता है। स्मरणीय है कि दूसरी आहुति पृथिवी के नाम से आहवनीय में पश्चिम की ओर देना चाहिए।[५१८] तदनन्तर अध्वर्यु स्रुव को अभितप्त कर उसे हाथ में ग्रहण कर, उत्तर की ओर रखता है और सप्तर्षियों का प्रणयन करता है।[५१९] अन्त में प्रदक्षिण क्रम से सभी समिधाओं का आधान कर उसी क्रम में पर्युक्षण करता है।[५२०]

अग्निहोत्र होम हेतु द्रव्यों का प्रयोग कामनाओं के अनुसार ही किये जाने का विधान है, यथा - पशुकामी यजमान के लिए दूध, ग्रामकामी के लिए यवागू एवं तेजस्कामी के लिए आज्य, इन्द्रियकामी के

---

५१२. वारा.श्रौ. १/५/२/३४
५१३. वही, १/५/२/३७
५१४. वही, १/५/२/३८-३९
५१५. वही, १/५/२/४०-४२
५१६. वही, १/५/२/४३
५१७. वही, १/५/२/४४ न दतो गमयेत्।
५१८. वही, १/५/२/४६ निरस्य लेपं परिस्तरणैः स्रुचं प्रक्षाल्य... प्रागुदीचीमुत्सिञ्चति..।
५१९. वही, १/५/२/४६-४७
५२०. वही, १/५/२/४८ स्रुचं निष्टप्य हस्तमवधायोत्तरतो... सप्तऋषीन् प्रीणाति।

लिए दही तथा बलकामी हेतु तण्डुल द्रव्य विहित है।[५२१] ध्यातव्य है कि आज्य एवं दही के द्वारा अग्निहोत्र होम करने वाले को बारह रात्रिपर्यन्त आहुति देनी चाहिए।[५२२] दूध और यवागू के द्वारा नित्य हवन करने का निर्देश है, किन्तु दूध के अभाव में अशुष्क यवागू का प्रयोग विहित किया गया है।[५२३] पशुकामी के लिए दो गायों को स्थाली एवं दोहन में दुह कर हवन करने का विधान है।[५२४] स्मरणीय है कि आज्य के द्वारा अग्निहोत्र होम करने का निर्देश है।[५२५] अविच्छिन्न क्रिया के रूप से प्रत्येक दिन हवन करते रहना चाहिए।[५२६] यजमान की पत्नी सायंकालीन अग्निहोत्र में पति के साथ बैठती है, किन्तु प्रातःकाल नहीं।[५२७]

अन्त में यजमान के लिए कुछ व्रतों का विधान किया गया है। यथा–अग्निहोत्र सम्पन्न करने वाले यजमान को हिंकारपूर्वक स्त्री–सामीप्य करने तथा अग्निहोत्र होम विना सम्पन्न किये सायंकाल एवं प्रातःकाल भोजन न करने का निर्देश किया गया है।[५२८]

अग्न्युपस्थान

अग्निहोत्र आहुति के पश्चात् अग्नियों के लिए की जाने वाली स्तुतियाँ अग्न्युपस्थान कहलाती हैं। ये स्तुतियाँ सायं एवं प्रातः दो बार की जाती हैं। हवियों के अधिश्रयण के उपर्यन्त उन्नयन कृत्य किया जाता है। इस समय यजमान वाणी को नियन्त्रित किये रहता है।[५२९] सायंकालीन अग्नि–उपस्थान हेतु पूर्वोत्तराभिमुख खड़ा होकर यजमान आहवनीय अग्नि का उपस्थान करता है।[५३०] तदनन्तर अध्वर्यु आहवनीय अग्नि में

---

५२१. वारा०श्रौ १/५/३/१ पयसा जुहुयात्पशुकामस्य यवाग्वा ग्रामकास्य तण्डुलैर्बलकामस्य।
५२२. वही, १/५/३/२/४ द्वादशरात्रमाज्येन... यवागुरशुष्का।
५२३. वही, १/५/३/४
५२४. वही, १/५/३/५
५२५. वही, १/५/३/७ आज्यमग्निहोत्रम्।
५२६. वही, १/५/३/१२ सन्ततमर्हतो जुहुयात्।
५२७. वही, १/५/४/१३ सायं पत्न्यन्वास्ते न प्रातः।
५२८. वही, १/५/३/१४, १५
५२९. वही, १/५/४/१, ३ अधिश्रितेऽग्निहोत्रेः...। उन्नीयमाने वाचं यच्छति।
५३०. वही, १/५/४/४ इति प्रागुदङ्मुखश्चतुर्भिरनुवाकैराहवनीयमुपतिष्ठेत।

चारों ओर घूमते हुए समिधाओं का आधान करता है।[५३१] स्मर्तव्य है कि आहवनीय अग्नि का उपस्थान विहित छः मन्त्रों (मै.सं. १.५.१-६६.८) द्वारा करना चाहिए तथा प्रत्येक संवत्सर के अन्त में गार्हपत्याग्नि का भी उपस्थान करना चाहिए।[५३२] तदनन्तर अध्वर्यु गार्हपत्य एवं आहवनीय अग्नि के मध्य में खड़ा होकर मन्त्र पाठ करता हुआ गाय एवं बछड़े को स्पर्श करता है।[५३३] पुनः वह आहवनीय एवं गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करके गोशाला का निरीक्षण करते हुए गाय अथवा बछड़े को स्पर्श करता है।[५३४] वह चारों ओर घूमता हुआ दिशाओं का उपस्थान करता है तथा वेदि के मध्य प्रवेश कर आहवनीय का उपस्थान करता हुआ जल स्पर्श करता है।[५३५]

प्रातःकालीन अग्न्युपस्थान प्रातरवनेक मन्त्रों द्वारा करने का विधान है।[५३६] एतदर्थ यजमान पूर्वोत्तर दिशा में तीन अञ्जलि जल का उत्सिञ्चन कर प्रत्युक्षण करता है।[५३७] तदनन्तर हाथ धोकर आचमन करता हुआ जल में कुल्ला (मुह में पानी लेकर उगलना) करता है तथा पुनः हाथ धोकर अपने शरीर के विभिन्न अवयवों को स्पर्श कर प्राणि प्रक्षालन करता है।[५३८] अब अध्वर्यु चार वैहव्य मन्त्रों का उच्चारण कर प्रातरवनेक मन्त्रों द्वारा आहवनीय अग्नि का उपस्थान करता है।[५३९]

प्रवास अग्न्युपस्थान

अग्निहोत्र सम्पन्न करने के पश्चात् जब यजमान घर से बाहर किसी भी स्थान हेतु प्रवास करता है; तो प्रवास के पूर्व ही अग्नियों को

---

५३१. वारा०श्रौ० १/५/४/७ इति पर्यायैराहवनीये समिध आदधाति।

५३२. वही, १/५/४/६

५३३. वही, १/५/४/९-१० इत्यन्तराग्नी तिष्ठन्जपति।, इतिवशामालभतेवत्सं वा।

५३४. वही, १/५/४/११-१३ इति गार्हपत्यम्।... इत्याहवनीयम्। इति गामालभते इति वत्सम्।

५३५. वही, १/५/४/१५-१७

५३६. वही, १/५/४/१८ प्रातरवनेकेन प्रातरुपतिष्ठेत।

५३७. वही, १/५/४/१९

५३८. वही, १/५/४/२०, २२

५३९. वही, १/५/४/२४

प्रज्वलित कर उनके समीपस्थ हो क्रमशः आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि एवं सभ्याग्नि तथा आवसथ्याग्नि का मन्त्रों द्वारा पूजा करता है।[५४०]

तदनन्तर अध्वर्यु आहवनीय और गार्हपत्य अग्नि के मध्य खड़ा होकर मन्त्र जपता है और विहित मन्त्र से आहवनीयाग्नि का उपस्थान करता है।[५४१] तत्पश्चात् प्रवास करता हुआ वाणी को नियन्त्रित करता है। ज्ञातव्य है कि यजमान अग्नियों के दृष्टिगत होने तक वाणी का नियन्त्रण करता है एवं दृष्टिगत न होने पर वाग्विसर्जन करता है।[५४२] प्रवास से लौटने पर यजमान समिधाओं का आहरण कर विहार की ओर प्रस्थान करता है। पुनः ध्यातव्य है कि जहाँ से अग्नियाँ दृष्टिगोचर न हों; वहाँ से वाङ्नियन्त्रण एवं जहाँ से दृष्टिगत हों वहाँ से वाग्विसर्जन करना चाहिए।[५४३] प्रैष दिये जाने पर अध्वर्यु समिधाओं का आधान कर अग्नियों को प्रज्वलित करता है।[५४४] यदि यजमान नौ रात्रियों के बाद लौटता है तो अध्वर्यु को समिधाधान पूर्वक आहुति देने का विधान है।[५४५] उसे अग्नियों में दो अरणियों को रखकर प्रज्वलित करना चाहिए। यह भी ध्यातव्य है कि गतश्री हेतु दोनों (गार्हपत्य एवं आहवनीय) में तथा अगतश्री हेतु केवल गार्हपत्याग्नि में ही अरणियों का समारोपण विहित है।[५४६] अध्वर्यु अब पूर्वोक्त क्रम से अग्नियों का उपस्थान आदि कृत्य सम्पन्न करता है। स्मरणीय है कि यजमान को अग्नियों से रहित घर में निवास नहीं करना चाहिए और बिना अग्नि प्रज्वलित किये प्रवास भी नहीं करना चाहिए।[५४७]

---

५४०. वारा०श्रौ० १/५/४/२६, २७
५४१. वही, १/५/४/२८-२९ इत्यन्तराग्नी तिष्ठन्जपति।... इत्याहवनीयम्।
५४२. वही, १/५/४/३० व ३१-इति व्रजति। सकाशे वाचं यच्छति असकाशे विसृजते।
५४३. वही, १/५/४/३३, ३४
५४४. वही, १/५/४/३५ इत्याह। प्रोष्य भास्वत उपतिष्ठते।
५४५. वही, १/५/४/३९ नवरात्रीः परार्धा प्रोष्याहुतिं जुहोति।
५४६. वही, १/५/४/४२ गार्हपत्याहवनीयौ गतश्रियो गार्हपत्यमगतश्रीः।
५४७. वही, १/५/४/४५-४६ नसहाग्निर्ऋते गृहेभ्यः प्रवसेत्। न आसंदह्यावक्षाणानि प्रयायात्।

आग्रायणेष्टि[५४८]

उत्पन्न हुए नवीन अन्नों के उपभोग के पूर्व नये अन्नों के द्वारा अनुष्ठान करने के कारण इसकी 'आग्रायणेष्टि' संज्ञा है। वर्ष में तीन बार नवान्न उत्पन्न होने से शरद्; वर्षा तथा वसन्त ऋतुओं में क्रमशः व्रीहि, श्यामाक (सावाँ) और यव नामक अन्नों द्वारा आग्रायणेष्टि का वर्ष में तीन बार अनुष्ठान किया जाता है।[५४९] क्योंकि आग्रायणेष्टि के अनुष्ठान के बिना नवान्न भक्षण आहिताग्नियों के लिए निषिद्ध है।[५५०]

देवता, द्रव्य एवं विधि

आग्रायणेष्टि में अग्निदेवताक अष्टाकपाल पुरोडाश[५५१] ऐन्द्राग्न अथवा आग्नेन्द्र देवताक एकादश कपाल पुरोडाश[५५२] तथा द्यावापृथिवी देवताक एक कपाल पुरोडाश एवं वैश्वदेव हेतु दूध में पका हुआ चरु[५५३] का विधान किया जाता है। ज्ञातव्य है; कि केवल आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश याग में ही पुराने ब्रीहि का निर्वाप करने का विधान है।[५५४] अन्य याग के रूप में सोम देवताक श्यामाक चरु याग का विधान करना चाहिए।[५५५] स्मर्तव्य है कि इस दृष्टि में वैश्वदेव के निमित्त यव के चरु का प्रयोग निषिद्ध है।[५५६]

इसकी समस्त विधि दर्शपूर्णमास के समान है। हविप्रोक्षण कृत्य के पश्चात् पाँच आज्य आहुतियाँ प्रदान करने के अनन्तर छठवीं आहुति प्रजापति देवताक अर्पित करने का विधान किया गया है।[५५७] आहुतियों

---

५४८. वारा०श्रौ० १/५/५/१८९, तथा द्र० मान०श्रौ १/६/४/१-२८ बौ श्रौ ३/१२, आपश्रौ ६/२९/२, कात्यायनश्रौ ४/६, शब्रा २/४/३

५४९. द्र० मान०श्रौ १/६/४१

५५०. वारा०श्रौ० १/५/५/४, नानिष्ट्वाग्रायणेन नवस्याश्नीत।' तु० मान०श्रौ १/६/४/२

५५१. वही, १/५/५/१ आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्।

५५२. वही, १/५/५/५ ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् आग्नेन्द्रं वा।

५५३. वही, १/५/५/६

५५४. वारा०श्रौ० १/५/५/१ पुराणानां व्रीहीणामाग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्।

५५५. वही, १/५/५/१ सौम्यं च श्यामाकं चरुम्। तु० मान०श्रौ १/६/४५

५५६. वही, १/५/५/६ न यवाग्रायणे।

५५७. वही, १/५/५/७

के अनन्तर अवशिष्ट अन्न ब्राह्मणों को खिलाना चाहिए।[५५८]

दक्षिणा

आग्रायणेष्टि में दक्षिणा स्वरूप गाय का पहला एक बछड़ा प्रदान करने का विधान किया गया है।[५५९] श्यामाक द्वारा अनुष्ठेय आग्रायणेष्टि की दक्षिणा में भूरे अथवा पीले रङ्ग की एक गाय एवं वस्त्र दान देने का भी विधान है।[५६०]

पशुबन्ध याग

पशुबन्ध वह याग विशेष है; जिसके अन्तर्गत याज्ञिक पशुओं के विविध अङ्गों का हविर्द्रव्य के रूप में प्रयोग किया जाता है। स्वतन्त्र फल-दायक होने के कारण इस याग का द्वितीय अभिधान 'स्वतन्त्र पशुयज्ञ' है। इसमें आँतरहित पशुओं की आहुति प्रदान किये जाने के कारण इसकी 'निरूढपशुबन्ध'[५६१] संज्ञा भी है। श्रौत यज्ञों के अन्तर्गत इसके दो रूप प्राप्त होते हैं : १- स्वतन्त्र रूपेण अनुष्ठित होने पर स्वतन्त्र पशु याग तथा २- सोम यागों के अङ्ग याग के रूप में अनुष्ठित होने पर सोम यागों से सम्बद्ध पशुयाग अथवा सौमिक पशुयाग।[५६२] सम्पूर्ण श्रौत साहित्य में निरूढ पशुबन्ध को सब प्रकार के पशुयागों की प्रकृति स्वीकारा गया है।[५६३] आपस्तम्ब के मतानुसार पशुबन्ध का अनुष्ठाता सम्पूर्ण लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है। वैखानस मत में इसके अनुष्ठान से पूर्ण आयु एवं निखिल कामनाओं की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।[५६४]

५५८. वारा०श्रौ० १/५/५/८
५५९. वही, १/५/५/९ वत्सः प्रथमजो दक्षिणा। वत्सः प्रथमजो दक्षिणा। तु० मान०श्रौ १/६/४/२७
५६०. वही, १/५/५/१-२ श्यामाकान्बुभुक्षमाणः... वभ्रुः पिशङ्गो दक्षिणा वसनं वा। तु० मान०श्रौ १/६/४/२८
५६१. द्र० निरूढपशुबन्ध, ऐब्रा (हाग कृत अनु०) २/७२, कीथ, ऋग्वेद ब्राह्मणाज़् पृ० १३४, ४०३, तैसं० १/३/५-११, ६/३-४, आश्रौ ३/१-८, ४/११-१२, शांश्रौ ५/१५, ६/१८ वैखाश्रौ २१/१० बौ श्रौ ४, माश्रौ ९/८, काश्रौ ६।
५६२. द्र० आश्रौ ३/८/३-४, जै.श्रौ. ८/१/१३
५६३. द्र० शब्रा ३/६/४, ११/७/१, तैसं० १/३/५-११, आपश्रौ (नारायणभाष्य) १/३/१ काश्रौ ६/१०/३२
५६४. द्र० आप श्रौ ७/१, सर्वान्लोकान्पशुबन्धयाज्यान्निर्जयति। एवं वैखा श्रौ १०/१०२

अनुष्ठान का समय

इस का अनुष्ठान आहिताग्नि यजमान के द्वारा सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त सूर्य के प्रत्येक उत्तरायण एवं दक्षिणायन के आरम्भ काल में प्रति छठवें माह के पश्चात् करना चाहिए।[५६५] इसके अतिरिक्त विकल्पतः प्रत्येक ऋतु के प्रारम्भ में भी इसका सम्पादन किया जा सकता है।

देवता एवं द्रव्य

इस याग की तीन प्रधान आहुतियाँ हैं : १. वपा याग, २. पशुपुरोडाश याग, ३. पशु के विभिन्न अङ्गों का याग। इसके अतिरिक्त इस याग का बलि पशु छाग (बकरा) है। इस याग के प्रधान देवताओं के रूप में क्रमशः इन्द्राग्नि, सूर्य अथवा प्रजापति हैं।

अनुष्ठान-विधि

इस कृत्य के सम्पादन में दो दिनों की आवश्यकता होती है, किन्तु एक दिन में भी इसका अनुष्ठान पूर्ण किया जा सकता है। दो दिनों में सम्पादित होते हुए इसका प्रथम दिन उपवसथ का दिन है, जो प्रारम्भिक तैयारी का दिन होता है। इसके अन्तर्गत वेदि निर्माण, यूप आहरण आदि कृत्य किये जाते हैं। दूसरे दिन प्रधानाहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। दर्शपूर्णमास इष्टि के प्रकरण में वर्णित पञ्च ऋत्विजों के अतिरिक्त पशुबन्ध के अन्तर्गत मैत्रावरुण नामक छठाँ ऋत्विज् भी रहता है।[५६६] यह होता का सहायक ऋत्विज् है। अध्वर्यु के सहायक के रूप में प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज् रहता है। मैत्रावरुण नामक ऋत्विज् के द्वारा ही पशुयज्ञ के अन्तर्गत पुरोनुवाक्या मन्त्रों का पाठ किया जाता है।[५६७]

अन्वारम्भणीया इष्टि

उपवसथ के दिन प्रातः कालीनाग्निहोत्र के अनन्तर षड्होतृ मन्त्र का मानस पाठ करते हुए आहवनीय अग्नि में एक आहुति प्रदान की

---

५६५. वाराहश्रौ १/६/१/१ उदगयनस्याद्यन्तयोरैन्द्राग्नेन पशुना यजेत संवत्सरे संवत्सरे वा।
५६६. द्र० वैखा श्रौ १०.१०२, पशुबन्यस्य यज्ञक्रतोः षड् ऋत्विजाः।
तथा द्र० यत प्र, पृ० ३९, षट् ऋत्विजाः।
५६७. द्र० यतप्र, पृ० ३९, पशुयागे तु पुरोनुवाक्या मैत्रावरुणेन वक्तव्याः।

जाती है। तदनन्तर अग्नि एवं विष्णु के निमित्त एकादश कपालक पुरोडाश का निर्वपन किया जाता है। पूर्णाहुति होम[५६८] तथा चतुर्गृहीत आज्य की आग्नावैष्णवी ऋचाओं के पाठ के द्वारा आहवनीयाग्नि में आहुति प्रदान की जाती है।[५६९]

यूपच्छेदन एवं निर्माण

तदनन्तर यूप के निर्माण हेतु वृक्ष काटने की क्रिया की जाती है। एतदर्थ अध्वर्यु; तक्षक (बढ़ई); ब्रह्मा और यजमान आदि सभी एक साथ प्रस्थान करते हैं। ज्ञातव्य है कि यूप के निर्माण हेतु बिल्व, पलाश, खदिर, रोहीतक तथा उदुम्बर आदि में से कोई भी एक वृक्ष वरणीय होता है।[५७०] विहित वृक्षों के अन्तर्गत कामनाओं की अभिपूर्ति के अनुसार ही वृक्ष ग्रहण किये जाने का निर्देश है, यथा-ब्रह्मवर्चस् की कामना में बिल्व वृक्ष ही उपयुक्त घोषित है।[५७१] जो वृक्ष सीधे रूप में लम्बा हो तथा जिसका अग्रभाग सूजा हुआ न हो तथा जो ऊर्ध्व शाखाओं से युक्त समतल भूमि में उत्पन्न एवं बहुत से पत्तों और शाखाओं से युक्त हो। साथ ही साथ वह पूरब या पश्चिम की दिशा की ओर झुका भी हो; ऐसे वृक्ष से यूप हेतु लकड़ी काटना चाहिए।[५७२] यूप को बनाते हुए उसकी लम्बाई ५ अरत्नि परिमाण मात्र करनी चाहिए; किन्तु कतिपय आचार्यों ने यूप की लम्बाई एक अरत्नि से तैंतिस अरत्नियों तक स्वीकारा है।[५७३] तदनन्तर मन्त्र से यूप हेतु चुने गये वृक्ष का अभिमन्त्रण तथा आज्य लेपन किया जाता है। परशु (फरसा) या कुल्हाड़ी एवं वृक्ष के मध्य कुशको रखकर अध्वर्यु तक्षक से परशु प्रहार कराता है। प्रथम प्रहार से भूमि के

---

५६८. वारा०श्रौ १/६/१/१-२४, षड्ढोत्रा मनसा जुहोति।
तु० मान०श्रौ १/८/१/२ आग्नावैष्णवमेकादश कपालं निर्वपति पूर्णाहुतिं वा।

५६९. द्र० वैखा श्रौ २१.१/१०.१, अपि वाग्नावैष्णव्यर्चाहवनीये चतुर्गृहीतं जुहोति, सश्रौ ४/१/३९६, आपश्रौ ३/१

५७०. वारा०श्रौ १/६/१/५

५७१. वही, १/६/१/६ बैल्वं ब्रह्मवर्चस् कामः...।

५७२. वही, १/६/१/७

५७३. द्र० मा श ब्रा ११/७/४/१, सश्रौ ४/१/३९९, माश्रौ ७/२/५-७ का शब्रा, २३/७/४/१, आपश्रौ ७/२/११-१७, काश्रौ ६/१/२४-३१

समतल प्रथम काष्ठ शकल को काटकर पूर्व दिशा की ओर गिराता है और गिरते हुए यूप का अनुमन्त्रण कर अध्वर्यु आहुति देता है।[५७४] तदनन्तर अध्वर्यु स्वयं का अभिमर्शण करता है।[५७५] अब बढ़ई द्वारा अष्टकोणीय एवं जिसका नीचे का भाग छिन्न न हो; ऐसा यूप बनाया जाता है।[५७६] स्मर्तव्य है कि यूप का अग्रभाग अग्नि शाला की ओर और पृष्ठ भाग सूर्य की ओर रहना चाहिए।[५७७]

चषाल निर्माण एवं इध्म बर्हि सन्नहन

यूप निर्माण के अनन्तर अध्वर्यु द्वारा सुरक्षित रखे गये वृक्ष के अग्रभाग से बढ़ई चषाल बनाता है। ज्ञातव्य है कि चषाल को अष्टकोणीय, पृथुमात्र चौड़ा तथा मध्य में पतला बनाना चाहिए।[५७८] तदनन्तर व्रतोपेत व्यक्ति इध्म तथा बर्हि का सन्नहन करता है।[५७९]

वेदि-निर्माण

ध्यातव्य है कि पशुबन्ध में एक ही वेदि होती है, जो आहवनीय अग्नि के पूर्व में रथमात्र परिमाण वाली होती है। इसी पर एक उत्तर वेदि का निर्माण किया जाता है; जिसकी लम्बाई शम्या (३२ अङ्गुल) मात्र होती है।[५८०] इसका निर्माण वरुणप्रघास की वेदि के सदृश किया जाता है। वेदि की पूर्व दिशा के उत्तर कोण से सविता देवता को उद्दिष्ट कर तथा अभ्रि ग्रहण करके उत्तर वेदि के अन्तपर्यन्त एक प्रक्रम मात्र परिमाण वाला चात्वाल बनाया जाता है।[५८१]

यूपावट खनन तथा आज्य ग्रहण

अध्वर्यु उत्तरवेदि में आहवनीय के सामने यूपावट के लिए चिह्न

---

५७४. वारा०श्रौ १/६/१/८-१३

५७५. वही, १/६/१/१४ इत्यात्मानं प्रत्यभिमृशति।

५७६. वही, १/६/१/१५ अष्टाश्रिं तक्षति गोपुच्छमतष्टमूलम्।

५७७. वही, १/६/१/१६ अग्रतोऽग्निष्ठाम् पृष्ठतः सूर्यस्थाम्।

५७८. वही, १/६/१/१७ अग्रस्य चषालं पृथुमात्रमष्टाश्रि मध्ये संगृहीतम्।

५७९. वही, १/६/१/१८ इध्माबर्हिः संनह्य...।

५८०. वही, १/६/१/१८

५८१. वही, १/६/१/१९

बनाते हुए वह तीन बार समन्त्रक एवं चौथी बार निर्मन्त्रक प्रहार करता है।[५८२] आज्य ग्रहण एवं खनन कृत्य प्रकृतिवत् सम्पन्न किये जाते हैं।[५८३] अब उत्तर वेदि को बढ़ाता हुआ अध्वर्यु मन्त्र से चतुष्कोणीय उत्तरवेदि में प्रोदश मात्र परिमाण वाली नाभि का निर्माण कर उसका अभिमन्त्रण करता है और पुनः उत्तर वेदि का प्रोक्षण करता है।[५८४] तदनन्तर आज्य एवं पृषदाज्य का ग्रहण किया जाता है। स्मर्तव्य है कि आज्य पाँच बार ग्रहण कर उत्तर वेदि पर उसी से लेप किया जाता है।[५८५]

यजनीय दिवस के कर्म

अग्निप्रणयन

अध्वर्यु सम्भारों का निर्वपन एवं उत्तर वेदि का स्पर्श कर आहवनीयाग्नि से अग्नि प्रणयन करता है।[५८६] एतदर्थ अध्वर्यु आहवनीयाग्नि में अग्निप्रणयनीय इध्मों का प्रज्वलन कर उन्हें सिकताभिपूरित पात्र से आहुति देता है। तदनन्तर 'अतिमुक्ति' संज्ञक आहुति और पूर्णाहुति प्रदान करता है। प्रैष दिये जाने पर वह समन्त्रक सम्भारों पर अग्नि समारोपित करता है।[५८७] उत्तर वेदि में स्थापित यह अग्नि ही आहवनीय[५८८] अग्नि बन जाती है। प्रथमतः आहवनीयाग्नि गार्हपत्य के रूप में परिवर्तित हो जाती है। अतः इसी अग्नि में ही गार्हपत्य कृत्य संपन्न किये जाते हैं।[५८९] तत्पश्चात् वरुणप्रघास के समान अग्निहोत्र तथा अग्न्याधान के समान पूर्णाहुति होम करने का विधान है। पाणिप्रक्षालन से लेकर पात्र-प्रयोग तक के सभी कृत्य समान हैं।

---

५८२. वही, १/६/१/२१-२४ पश्चाद्यूपावटस्य निवपति।... एतेन धर्मेण... तूष्णीं चतुर्थीम्।
५८३. वही, १/६/१/२५ समानः खननोनिवपनश्च।
५८४. वही, १/६/१/२६-२८
५८५. वही, १/६/१/२९-३२
५८६. वाराह १/६/१/३६-३७
५८७. वही, १/६/२/१-४ इति संभारेष्वध्वर्युरग्निं सादयति।
५८८. आहवनीय हेतु, द्र० आपश्रौ ७/८/३ एष पशुबन्धस्याहवनीयौ यतः प्रणयति स गार्हपत्यः।
५८९. वही, १/६/२/५

पात्रासादन

अब अध्वर्यु हाथ धोकर वैश्वदेव के समान ही पात्रों का आसादन करता है। वह पुरोडाश के निमित्त ग्यारह अथवा बारह कपालों, वसाहोमहवनी, उपभृत, पृषदाज्यधानी, आज्यस्थाली, यूपशकल, शूल, दो कार्ष्मर्य वपाश्रपणी, शृंग, मैत्रावरुण दण्ड, दर्भमयी, दो बित्ता परिमाण वाली द्विगुणी या त्रिगुणी एवं तीन बित्ते परिमाण वाली रस्सी आदि को वेदि के चतुर्दिक् स्थापित करता है।[५९०] ज्ञातव्य है कि स्फ्यप्रक्षालन से लेकर आज्य ग्रहों तक के सभी कृत्य समान हैं।

तदनन्तर वह यूपावट का परिलेखन इस प्रकार करता है कि यूप का आधा भाग वेदि के मध्य एवं आधा भाग वेदि के बाहर हो।[५९१] अब अध्वर्यु यवयुक्त प्रोक्षणी जल से स्नात यूप को तीर्थ में ले आकर क्रमशः उसके मूल, मध्य एवं अग्र भाग का प्रोक्षण करता है।[५९२] तत्पश्चात् यूपावट में जल गिराकर उसमें जौ तथा दर्भ रखता है।[५९३]

अब अध्वर्यु उसमें प्रथम कटे हुए यूपशकल को डालकर स्रुवा के द्वारा आहुति देता है।[५९४] यजमान पूर्व से पश्चिम तक यूप को घृताक्त करता है तथा अध्वर्यु द्वारा होता को मन्त्र पाठ हेतु प्रैष देने पर होता मन्त्र पढ़ता है। तदनन्तर यूप को ऊपर से नीचे तक अञ्जित कर चषाल को भी अञ्जित करता है[५९५] तथा चषाल फेंकने के पश्चात् अध्वर्यु द्वारा प्रैष दिये जाने पर होता यूप रखने के लिए मन्त्र पाठ करता है। यूप को उठाकर गर्त में इस प्रकार डालता है कि अग्निष्ठ यूप का कोना आहवनीयाग्नि के सम्मुख गड़ा रहे।[५९६] यजमान मैत्रावरुण दण्ड से मिट्टी को कूटकर दृढ़ बनाता है। अवशिष्ट प्रोक्षणी जल से सिञ्चन कर

---

५९०. वारा०श्रौ १/६/२/६-१३
५९१. वही, १/६/२/१५ पूर्वस्य वेद्यन्तस्य मध्येऽर्धमन्तर्वेद्यर्धं बहिर्वेदि।
५९२. वही, १/६/३/१
५९३. वही, १/६/३/१-३, इति यूपावटम्... इति यवानवदधाति। इति दर्भैरवस्तृणाति।
५९४. वही, १/६/३/४ इति प्रथमशल्कमवधाय... इति स्रुवेणाभिजुहोति।
५९५. वही, १/६/३/५-८
५९६. वही, १/६/३/९-१३

मार्जन करता है।[५९७]

पुनः अध्वर्यु द्वारा प्रैष दिये जाने पर होता मन्त्र पाठ करता है। अध्वर्यु तीन बट वाली रस्सी यूप के अग्रभाग से प्रदक्षिण क्रम से नाभि की ऊँचाई के बराबर लपेटता जाता है। प्रत्येक बार वह क्रमशः ऊँचा करता हुआ मध्य में दोनों रस्सियों के छोरों को बाँध देता है। बाँधते हुए मोटा एवं पतला करके बाँधता है। अन्त में रस्सी खींच कर मूल की ओर स्वरु को[५९८] खोंस देता है।[५९९]

पशु-नियोजन

तंदनन्तर अध्वर्यु अज का उपाकरण[६००] करता है। एतदर्थ वह ऐसे बकरे को ग्रहण करता है; जो पूर्ण रूप से लाल या सफेद हो। विकल्प स्वरूप वह दो रंगों वाले बालों से युक्त हो।[६०१] ध्यातव्य है कि कटे कान वाला, फटे कान वाला, काना, बहरा, लँगड़ा और गिरे हुए दाँतों वाला बकरा इस याग में निषिद्ध है।[६०२] उपयुक्त बकरे को लाकर पश्चिमाभिमुख खड़ा करके अग्नियों में आहुति प्रदान की जाती है।[६०३] तदनन्तर अध्वर्यु दो दर्भों का ग्रहण कर पत्तों के साथ पलाश वृक्ष की हरी शाखा को भी ग्रहण करता है। अब शाखा एवं दर्भों के द्वारा वह पशु को स्पर्श करता है तथा रस्सी ग्रहण कर पश्चिम की ओर पशु का उन्मार्जन करता है।[६०४] अब रस्सी से पशु के पैर एवं शिर के अर्धभाग को बाँधकर पुनः उसे

---

५९७. वही, १/६/३/१६-१८

५९८. स्वरु हेतु द्र० हि ध शा, २, २ पृ० ११९५, पा टि २४९४
The svaru is the first piece, that is served when the Yupa was being turn out of the trunk that was felled."

५९९. वारा०श्रौ १/६/३/२०-२२

६००. उपाकरण हेतु द्र० काश्रौ ६/३/२६ व्याख्या भाग। तथा आप श्रौ ७/१२/८ व्याख्या 'देवतार्थत्वेन संकल्पमुपाकरणम्।'

६०१. वारा०श्रौ १/६/३/२५ अजमुपाकरोति श्वेतं लोहितं द्विरूपं वा श्मश्रुलम्।

६०२. वही, १/६/३/२६ कूटाकर्णकाणखण्डवण्डापन्मदन्त इति प्रतिषिद्धाः।

६०३. वही, १/६/३/२७ यूपस्य प्रत्यञ्चं पशुमवस्थाप्याहुती जुहोति।

६०४. वही, १/६/४/२-५

यूप में बाँधता है।[६०५]

तदनन्तर अध्वर्यु प्रोक्षणी जल से संस्कृत कर पशु का प्रोक्षण करता है तथा पुनः अभिमन्त्रित कर उसे जल पिलाता है। इसके उपर्यन्त उसके अन्य शेष अङ्गों पर जल-सिञ्चन कर प्रोक्षण करता है।[६०६]

4. स्रौचाघार

अध्वर्यु स्रौचाघार का आघार देकर ध्रुवा के आज्य में से जुहू के द्वारा आज्य लेकर उससे पशु का अञ्जन करता है। एतदर्थ वह प्रथमतः उसके प्राण देश, ककुद्देश और अन्त में भसद्देश का अञ्जन करता है।[६०७] प्रवर तक की क्रिया प्रकृतिवत् है।

5. प्रयाज आहुति

तदनन्तर अध्वर्यु प्रथम एवं अन्तिम प्रयाजाहुतियों के लिए होता को प्रैष देता है। होता के मन्त्रपाठ के समय ग्यारह प्रयाज आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। चार-चार प्रयाज आहुतियाँ देकर दशवीं आहुति के बाद अध्वर्यु सम्पूर्ण घी गिरा देता है। स्वरु एवं स्वधिति को स्रुच् के घी की धारा में भिंगोकर तथा स्वधिति को नीचे रखकर स्वरु के द्वारा मध्यस्थल में पशुशृङ्ग को घृताक्त करता है[६०८] और स्रुच को अग्न्यायतन में स्थापित कर देता है।[६०९]

6. शामित्राग्नि

जिस अग्नि पर पशु का मांस पकाया जाता है उसे शामित्राग्नि क़हते हैं।[६१०] अध्वर्यु आहवनीय अग्नि से जलती हुई एक लकड़ी को ग्रहण कर होता को प्रैष देता है। होता पर्यग्निकरण के समय मन्त्रपाठ

---

६०५. वही, १/६/४/१४-१५ इति यूपे नियुनक्ति।

६०६. वही, १/६/४/१६, १७, १८

६०७. वारा०श्रौ १/६/४/१९ स्रौचमाघार्य ध्रुवां समज्य पशुं समनक्ति... इति प्राणदेशम्. .. इति ककुद्देशं... इति भसद्देशम्।

६०८. वही, १/६/४/२०, २२

६०९. वही, १/६/४/२३ आयतने स्रुचौ सादयति।

६१०. श्रौ प नि १२९, ५९

करता है।[६११] आग्नीध्र शामित्र-स्थल, चात्वाल, पशु, आहवनीय; यूप तथा आज्य का तीन बार पर्यग्निकरण (प्रदक्षिण क्रम से) करता है तथा आहवनीय का उल्मुक अग्नीध्र को देकर ३ पशुप्रमोचनीय आहुतियाँ प्रदान करता है। ज्ञातव्य है कि पर्यग्निकरण करते हुए वह प्रत्येक बार शामित्र अग्नि के नियत-स्थल पर उल्मुक को रखता जाता है।[६१२]

7. पशुसंज्ञपन[६१३]

अध्वर्यु यूप से पशु को छोड़कर अग्नि में एक आहुति प्रदान करता है। वपाश्रपणियों के द्वारा यजमान पशु को उसके पीछे से स्पर्श करता है।[६१४] आग्नीध्र उल्मुक को लेकर आगे-आगे चलता है तथा अन्वारम्भण करता हुआ आश्रावण कर उल्मुक युक्त हाथों से वह प्रत्याश्रावण करता है।[६१५] आग्नीध्र शामित्राग्नि हेतु उस उल्मुक को नियत स्थल पर रख देता है।[६१६]

इसी प्रकार अग्नि पर ही पशु का मांस पकाया जाता है।[६१७] अध्वर्यु शामित्राग्नि के पश्चिम में कुशों को बिछाता है[६१८] और उसी कुश पर पश्चिम की ओर शिर और उत्तर की ओर पैर करके पशु को आराम की स्थिति में रख देता है। इसी समय शमिता पशु का संज्ञपन करता है।[६१९] यजमान पशु के संज्ञपन काल में मन्त्र जपता है[६२०] तत्पश्चात् अध्वर्यु संज्ञप्त पशु हेतु हवन करता है।[६२१]

---

६११. वारा०श्रौ १/६/४/२४ आहवनीयादुल्मुकं उपयम्य...इति संप्रेष्यति।
६१२. वही, १/६/४/२५
६१३. द्र० काश्रौ सू ५/३/९ यागीय पशोः शस्त्रघातादिकं विना मुखबन्धनेन श्वासं निरोध्य यत्प्राणैर्वियोजनम् तत्पशुसंज्ञपनमित्युच्यते।
द्र० आपश्रौ ७/१६/५ व्याख्या - अक्षतस्य मारणं संज्ञपनम्। यतप्र पृ० ४२ प्राणसंरोधनादिना प्राणवियोजनं संज्ञपनम्।
६१४. वारा०श्रौ १/६/४/२६, २७
६१५. वही, १/६/४/२८-३०
६१६. वही, १/६/४/३२ शामित्रलक्षणे अग्निं सादयति।
६१७. वही, १/६/४/३३ तस्मिन्पशुं श्रपयति।
६१८. वही, १/६/४/२४
६१९. वही, १/६/५/२ पत्यक्शिरसमुदीचीनपादं संज्ञपयन्ति।
६२०. वही, १/६/५/३ इति यजमानः संज्ञप्यमानमनुमन्त्रयते।
६२१. वही, १/६/५/५

8. रशनोन्मोचन

पशु संज्ञपन के अनन्तर अध्वर्यु पशु के पाशों को खोल देता है, तथा इस समय मन्त्र का जप भी करता है। ज्ञातव्य है कि पशु के पाश को एक शृङ्ग वपाश्रपणी के द्वारा चात्वाल में निर्मन्त्रक फेंक देता है, परन्तु जो यजमान का अभिचार करता है; उसके लिए अध्वर्यु समन्त्रक स्तम्ब या स्थाणु को रख देता है।[६२२]

9. संज्ञप्त पशु को स्वच्छ करना

एतदर्थ यजमान की पत्नी पशुसंज्ञपनोपर्यन्त मन्त्र विनियोग द्वारा आदित्य का उपस्थान करती है।[६२३] प्रतिप्रस्थांता यजमान की पत्नी को (जो कि जलपूर्ण पात्र धारण की हुई रहती है) चात्वाल की ओर लाकर जल का अवमर्शण कराता है।[६२४] पत्नी उसी जल में पशु के अङ्गों का प्रक्षालन करती है। विकल्पस्वरूप इस कृत्य को अध्वर्यु भी कर सकता है।[६२५] अन्य अङ्गों पर जल का अभिषिञ्चन कर उन समस्त अङ्गों को स्पर्श करती है। तत्पश्चात् वह पशु का ग्रीवा, पृष्ठ भाग तथा अन्य सभी अवशिष्ट अङ्गों का भी सम्मार्जन करती है।[६२६]

10. वपा-प्रचरण

अध्वर्यु दूसरे दर्भों को पशु की नाभि के समीप रखकर, उन पर जल छिड़ककर उसे स्वधिति से तिरछा काटता है। कटे हुए तृण को ग्रहण कर उसके कटे हुए स्थान पर पड़े हुए खून में डुबोता है। पुनः पश्चिम दक्षिण कोण में उसे फेंक देता है। तदनन्तर तृण को दबाता है और जलस्पर्श कर वपा को निकालता है। एक शृङ्ग वपाश्रपणी द्वारा काटकर निकालता है; एवं जल से वपा का प्रक्षालन करता है।[६२७]

---

६२२. वारा०श्रौ० १/६/५/७-१०
६२३. वही, १/६/५/११ इति पत्न्यादित्यमुपतिष्ठते।
६२४. वारा०श्रौ० १/६/५/१२, १३ इत्येनामभ्युदानयते। इत्यधि चात्वालं पत्न्यपोऽवमर्शयति।
६२५. वही, १/६/५/१४ ताभ्यः पत्नी पशोः प्राणान्प्रक्षालयत्यध्वर्युर्वा।
६२६. वही, १/६/५/१५-१७
६२७. वही, १/६/५/१८-२६

तदनन्तर रक्त को स्वच्छ कर दो शृङ्ग वाली वपाश्रपणी को आच्छादित कर अध्वर्यु सूर्य का उपस्थान करता है तथा शूल को मध्य में रखकर शामित्र अग्नि में वपा को गर्म करता है।[६२८] प्रतिप्रस्थाता आहवनीय के दक्षिण में बैठकर वपा पकाता है। अध्वर्यु मैत्रावरुण को मन्त्रपाठ हेतु प्रैष देता है। वपा के पक जाने पर उसे दक्षिण बर्हिष् पर स्थापित करता है और वपा में से दोनों वपाश्रपणियों को निकालकर प्रयाज आहुतियों का विधान करता है।[६२९] एतदर्थ अध्वर्यु प्रयाजाहुतियों के लिए मन्त्रपाठ हेतु मैत्रावरुण को प्रैष देता है। तब ध्रुवा के आज्य से आघार देकर पृषदाज्य एवं वपा का अभिघारण करता है।[६३०] ज्ञातव्य है कि आज्याहुतियाँ भी कामनाओं के अनुसार ही दी जाती हैं।[६३१] सभी ११ प्रयाजाहुतियों के अनन्तर अध्वर्यु वपा होम का विधान करता है। एतदर्थ वह वपा, हिरण्यशकल का अवदान लेकर घी का अभिघारण करता है। तदनन्तर अध्वर्यु मैत्रावरुण को इन्द्राग्नि को वपा एवं मेदा की आहुति देने के लिए पुरोनुवाक्या पाठ हेतु प्रैष देता है। अध्वर्यु सर्वप्रथम स्रुवा द्वारा वपा की आहुति देता है।[६३२] पुनः वह पीछे लौटकर दोनों वपाश्रपणियों को वपा हेतु अग्नि में फेंक देता है। यहाँ स्मर्तव्य है कि एक शृङ्ग वाली वपाश्रपणी पूर्व में एवं दो शृङ्गों वाली वपाश्रपणी को पश्चिम में फेंकने का निर्देश है।[६३३] तदनन्तर चात्वाल में यजमान सपत्नीक मार्जन करता है। ध्यातव्य है कि इसी समय मधुमन्थन कृत्य भी करणीय होता है।[६३४] अब हृदय भाग को श्रपणी में पकाता है तथा पशु के पेट के समस्त गन्दे पदार्थों को शामित्राग्नि के उत्तर में फेंक देता है। हृदय के अतिरिक्त सभी भागों को उखा में ही पकाये जाने का निर्देश है।[६३५]

---

६२८. वारा०श्रौ० १/६/५/५/२७-२९ इति लोहितं प्रत्यूहति।... इति शामित्रे वपां प्रत्योषति।
६२९. वही, १/६/६/१-३ वपाश्रपण्यौ विप्रमुच्योत्तमेन प्रयाजेन प्रचरति।
६३०. वही, १/६/६/५ हुत्वा ध्रुवां पृषदाज्यं वपामित्यभिघारयति।
६३१. वही, १/६/६/६ यथाकामयाज्यभागयोर्होमः।
६३२. वही, १/६/६/७-१०
६३३. वही, १/६/६/११ व्यत्यस्ते वपाश्रपण्यौ अनुप्रहरति।
प्राचीमेकशृङ्गाम् प्रतीची द्विशृङ्गाम्
६३४. वही, १/६/६/१४ अत्रैव मधुमन्थानां कालः।
६३५. वही, १/६/६/१६ उखायां पशुं श्रपयति शूले हृदयम्।

11. पशु-पुरोडाश होम

जिस प्रकार धान को चरु का पदार्थ माना जाता है; उसी प्रकार पूरे पशु को यज्ञिय पशु स्वीकार जाता है। अतः पशुपुरोडाश का देवता भी तदेव है। पशु के पक जाने पर पशु पुरोडाश का विधान किया जाता है।[६३६] एतदर्थ अध्वर्यु मैत्रावरुण को इन्द्राग्नि के पुरोडाश का पुरोनुवाक्या मन्त्र पाठ करने के लिए अनुवचन देता है।[६३७] अनुवचन के अनन्तर देवता के निमित्त द्वादश या एकादश कपाल पशुपुरोडाश याग का विधान किया जाता है।[६३८] अध्वर्यु इडा के पुरोडाश का अभिघारण करता है तथा प्रतिप्रस्थाता पृषदाज्य को स्रुवा द्वारा ग्रहण कर शमिता से घूमते हुए पूछता है; कि 'हवि पक गयी ?' उत्तर में शमिता 'शृतम्' (पक गयी) कहता है।[६३९] इसी क्रम से मध्य में तथा तीसरी बार शामित्र प्रदेश में जाकर वह प्रश्न करता है।[६४०] हृदयावदान को शूल से हटाकर उसे कुम्भ में रखकर पुनः उत्तर में स्थापित करता है तथा उसका अभिघारण करता है।[६४१] तदनन्तर वह यूप और आहवनीय के मध्य से जाकर वेदि के दक्षिण श्रोणि में पञ्चहोतृ मन्त्र का पाठ कर हृदय एवं पशु के अन्य अङ्गों को स्थापित करता है।[६४२] तब अध्वर्यु जुहू, उपभृत, वसाहोमहवनी और समवत्तवानी आदि का आज्य से उपस्तरण करता है।[६४३]

अध्वर्यु मनोता देवतार्थ हवि के लिए अवदान ग्रहण करने के निमित्त मैत्रावरुण को प्रैष देता है तथा प्लक्ष शाखा पर स्थापित पशु के प्रत्येक अङ्ग में से काटे गये क्रमानुसार दो-दो अवदान ग्रहण करता है, जो कि प्रधान देवताक होते हैं। एतदर्थ अध्वर्यु पशु के हृदय से, जिह्वा

---

६३६. वारा०श्रौ० १/६/६/२०-२१ व्रीहीणां पशुना समान देवतं...।
शृते पशौ पशुपुरोडाशेन प्रचरति।

६३७. वही, १/६/६/२२

६३८. वही, १/६/६/२१ पशौ पशुपुरोडाशेन प्रचरति।

६३९. वही, १/६/६/२४-२६ शृतं इति शमिता प्रत्याह।

६४०. वही, १/६/६/२७ समयाध्वे द्वितीयम्। प्राप्य तृतीयम्।

६४१. वही, १/६/६/२८ उत्तरतो अवस्थाय हृदयमवधाय... इत्यमिघार्य।

६४२. वही, १/६/६/२८ अनतरा यूपाहवनीयावतिहृत्य दक्षिणतः पञ्चहोत्रोपसादयति।

६४३. वही, १/६/६/२९ जुहूपभृतोर्वसाहोमहवन्यां समवत्तधान्यमित्युपस्तीर्यः।

से, वक्षस्थल से, बायें पैर के घुटने के ऊपर (जाँघ) से, दोनों पार्श्वों से, यवन से, वृक्क से, दक्षिण श्रोणि आदि अङ्गों से अवदान ग्रहण करता है।[६४४] अवदानों को लेकर जुहू में स्थापित करता है तथा गुदा से तीन अवदान ग्रहण कर उपभृत में स्विष्टकृत् देवताक दायें पैर के घुटने के ऊपर का आधा भाग एवं गुदा का मध्य एवं बायीं श्रोणि के पीछे का आधा-आधा तीन अवदान लेता है। यूप में स्थित मेद् को स्वचिति से चलाकर तीन अवदान ग्रहण करता हुआ; जुहू एवं उपभृत को ढँक देता है और स्वधिति से वसाहोम को ग्रहण कर वसाहोमहवणी में उसे स्थापित कर पार्श्व में ढँककर रख देता है।[६४५]

मैत्रावरुण को याग की पुरोनुवाक्या पाठ हेतु होता प्रैष देता है। मैत्रावरुण द्वारा आधी ऋचा का पाठ करने के अनन्तर प्रतिप्रस्थाता आहवनीय में वसा होम का स्वाहाकार करता है।[६४६] तत्पश्चात् अध्वर्यु वनस्पतियों के लिए पृषदाज्य से हवन करता है और वसाहोम के अवशिष्ट भाग से प्रत्येक दिशा का यजन किया जाता है। एतदर्थ प्रतिप्रस्थाता स्वाहाकार करता है और प्रदक्षिण क्रम से प्रत्येक दिशा का यजन करता है।[६४७] अध्वर्यु उपभृत के आज्य को जुहू में ग्रहण करके स्विष्टकृत अग्नि के लिए प्रचरण करता है। ज्ञातव्य है कि इस समय इडाह्वान किया जाता है। इडाह्वान के समय अघ्यघ्नी को होता के समीप और वनिष्ठु को आग्नीध्र के समीप ले आया जाता है।[६४८] इसी समय इस अनुष्ठान की दक्षिणा भी प्रदेय है और सभी लोगों को स्नानादिक परिमार्जनीय क्रियाएँ सम्पन्न करने का विधान है।[६४९]

अनुयाज एवं उपयाज होम

तदनन्तर अध्वर्यु अपने हाथ में अनुयाजिकी समिधाओं को लिये हुए आग्नीध्र को उपयाज होम के लिए अङ्गारों को लाने के लिए प्रैष

६४४. वारा०श्रौ० १/६/७/१ हृदस्य जिह्वाया: क्रोडस्य सव्यस्य... श्रोण्या:।
६४५. वही, १/६/७/२-८
६४६. वही, १/६/७/११-१२ इति सम्प्रेष्यति। इत्यर्धर्चे याज्यायावसाहोमं जुहोति।
६४७. वही, १/६/७/१३-१४
६४८. वही, १/६/७/१९-२०
६४९. वही, १/६/७/२१ दक्षिणा सम्मार्जनम्।

देता है। प्रैष के अनन्तर आग्नीध्र आग्नीध्रीय अग्निस्थल से अङ्गारों को ले आता है और उन्हें वेदि के उत्तर श्रोणि या होत्रीय धिष्ण्य पर स्थापित करता है। वेदि के मध्य उसका सम्मार्जन करता है। तदनन्तर पृषदाज्य को जुहू में लेकर आश्रावण करके ११ अनुयाजों का यजन करता है। प्रतिप्रस्थाता पशु के गुर्दे के स्थूल भाग से तिरछा करके काट कर कुल ११ अवदानों का ग्रहण करता है और प्रत्येक वषट्कार के अनन्तर अनुयाज आहुतियाँ प्रदान करता जाता है।[६५०] अनुयाजाहुतियों के अनन्तर गुर्दे के स्थूल भाग से क्रमशः एक-एक भाग उपयाज होम के लिए ग्रहण करके उपयाज आहुतियाँ प्रदान करने का विधान है।[६५१] तत्पश्चात् मन्त्र के द्वारा प्रतिप्रस्थाता अपने हृदय प्रदेश को स्पर्श करते हुए दर्भों पर निमार्जन कृत्य करता है।[६५२]

स्वरु होम -

अनुयाज एवं उपयाजाहुतियों के पश्चात् अध्वर्यु भीतर तथा बाहर से जुहू के घी में स्वरु को भिंगो कर आहवनीयाग्नि में स्वरु की आहुति देता है।[६५३] यहाँ यह स्मर्तव्य है कि उक्त गुर्दों को आपस में न तो मिलाना चाहिए और न यूपानुदेश के पूरब तक यूप का किसी के द्वारा स्पर्श ही होना चाहिए।[६५४]

पत्नीसंयाज

स्वरु होम के बाद पत्नीसंयाज नामक कृत्य का प्रकृतिवत् संपादन किया जाता है। इसके अन्तर्गत पशु की पूँछ के उत्तान भाग से अवदान ग्रहण कर देवपत्नियों को तथा पूँछ के रोयें वाले भाग से गृहपति अग्नि को आहुति दी जाती है।[६५५] होता तथा आग्नीध्र के भी अवदानों का ग्रहण

---

६५०. वारा०श्रौ १/६/७/२३, तु० मान०श्रौ १/८/६/६, माश्रौ ७/२१, ११-१२, तैसं० १/३/११/१

६५१. वही, १/६/७/२४, तु० तैसं० १/३/११/१, माश्रौ ७/२१/११

६५२. वही, १/६/७/२४, २५

६५३. वही, १/६/७/२७-२८ तु० आपश्रौ २/२७/४, भाश्रौ ७/२२/१, सश्रौ ४/५/४४२, काश्रौ ३/३/ वैखा श्रौ ११/११/१०.११, मान० श्रौ १/८/६/६

६५४. वही, १/६/७/२९ ऊर्ध्वं स्वरुहोमात्प्रागनुदेशाद्यूपोनोपस्पृश्यः।

६५५. वही, १/६/७/३०-३२, तु० काश्रौ ६/९/१४-२०, आपश्रौ ७/२७/६, सश्रौ ४/५/४४३

क्रमशः उत्तान एवं रोयें वाले भाग से ग्रहण किया जाता है। पूँछ का शेष भाग यजमान की पत्नी को प्रदान किया जाता है। यजमान एवं उसकी पत्नी के पीछे अवभृथ स्नान हेतु पूरब या दक्षिण की दिशा में सभी ऋत्विज् एवं प्रेक्षक आदि सब जाते हैं।

ज्ञातव्य है कि शूल को आर्द्र एवं शुष्क भूमि के सन्धिस्थल में गाड़ दिया जाता है।[६५६] इसी समय यजमान यूप के लिए अनुदेश प्राप्त कर चात्वाल का मार्जन करता है तथा आहवनीय में दो समिधाओं का आधान करता है।[६५७]

विष्णुक्रम आदि कृत्य दर्शपूर्णमास के समान ही सम्पन्न होते हैं।[६५८] ज्ञातव्य है कि प्रत्येक ६ माह या प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भ में पशु इष्टि का यजन करना चाहिए। यदि यह सम्भव हो तो पशु इष्टिपर्यन्त यजमान को मांस भक्षण नहीं करना चाहिए।

चातुर्मास्य[६५९]

चार-चार मासों में समाप्त होने वाले पर्वों से सम्पृक्त चातुर्मास्य ऋतु सम्बन्धी यज्ञ है।[६६०] अक्षय्य सुकृत की प्राप्ति के लिए इसका अनुष्ठान किया जाता है।[६६१] इसके अन्तर्गत ४ पर्व होते हैं। यथा १- वैश्वदेव, २- वरुणप्रपास, ३- साकमेध, ४- शुनासीरीय। कतिपय आचार्यों ने केवल तीन पर्वों का ही वर्णन किया है; जबकि वाराहश्रौतसूत्र में चार पर्वों का उल्लेख है। चातुर्मास्य के चारों पर्वों की ५ हवियाँ सामान्य रूप से विधेय हैं, यथा- १. सोम के लिए चरु, २. अग्नि के निमित्त अष्टाकपालक पुरोडाश, ३. सविता हेतु अष्ट अथवा द्वादश कपालक पुरोडाश याग और ४. सरस्वती के लिए चरु ५. पूषा के लिए भी चरु का निर्वाप। चातुर्मास्य याग की प्रकृति दर्शपूर्णमासेष्टि ही है। इसके सम्पादनार्थ मुख्यतः दो दिन लगते हैं, प्रारम्भिक दिन तैयारी का

---

६५६. वारा०श्रौ० १/६/७/३४-३५ शूलेन अवमृथं यन्ति।

६५७. वही, १/६/७/३७-३८, इत्याहवनीये समिधमादधाति। इति द्वितीयाम्।

६५८. द्र० मान०श्रौ १/८/६/२७ विष्णुक्रमं भवति समानं याजमानम्।

६५९. द्र० तै सं० १/८/२-७, तै ब्रा १/४/९-१०, तथा १/५/५-६, शब्रा २/५/१-३, तथा ११/५/३, आपश्रौ ८ काश्रौ ५, आश्व श्रौ २/१५/२०

६६०. द्र० काश्रौ ५/१/१ व्याख्या भाग-चतुर्षु चतुर्षु मासेषु भवति इति व्युत्पत्या।

६६१. द्र० वैखा श्रौ १९.३/८.३, अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्यैर्भवति।

दिन होता है और द्वितीय दिन प्रधान आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।

वरुणप्रघास पर्व

शतपथब्राह्मण के एक निर्वचन के अनुसार 'यव (जौ) वरुण के निमित्त हैं और इस पर्व में यव (जौ) के खाये जाने (घस्=खाना) के कारण इसका नाम वरुणप्रघास पड़ा है।[६६२] वैश्वदेव पर्व के अनुष्ठान के पश्चात् चौथे माह में (आषाढ या श्रावण मास की पूर्णिमा को)[६६३] वरुणप्रघास पर्व का अनुष्ठान किया जाता है।[६६४] इसकी अनुष्ठेय विधि वैश्वदेव पर्व के समान ही है।[६६५]

देवता एवं द्रव्य

चातुर्मास्य के सभी पर्वों में दी जाने वाली ५ सामान्य आहुतियों के अतिरिक्त इस पर्व में निम्नलिखित ४ अन्य आहुतियों का भी विधान है–[६६६]

(१) इन्द्र और अग्नि देवता के लिए द्वादश कपालक पुरोडाश।

(२) मरुतों के लिए आमिक्षा।

(३) वरुण के लिए आमिक्षा।

(४) क (प्रजापति) के लिए एक कपालक वाजिन्।[६६७]

इस प्रकार वरुणप्रघास में कुल ९ प्रघास आहुतियों का विधान है। इस पर्व के अनुष्ठान के लिए कुल दो दिनों की आवश्यकता होती है।

---

६६२. द्र० मा०शब्रा० २/४/३/१ यवस्तयन्नेव वरुणस्य यवान्प्रादंस्तस्माद् वरुणप्रघासो नाम।

६६३. द्र० आपश्रौ ८/५/१, तथा वैखा श्रौ १९.९/८.९, आषाढ्यां श्रावण्यां वा वरुणप्रघासैर्यजते। तु० का श्रौ ५/३/१

६६४. वारा०श्रौ १/७/२/१ चतुर्षु मासेषु वरुणप्रघासाः। तु० आपश्रौ ८/५/१ सश्रौ ५/२/४२५, वैखा श्रौ १९.९/८.९, मान०श्रौ १/७/३/१

६६५. द्र० मान०श्रौ १/७/३/२, वैश्वदेविकं विधानम्, माश्रौ ८/५,२, तथा सश्रौ ५/२/४५६, वैखा श्रौ १९.९/८.९ वश्वदेववतन्त्रम्।

६६६. वारा०श्रौ १/७/२/१७, तु० भाश्रौ ८/६/८, सश्रौ २/५/४६२, वैखा १९.१०/८.१० मान०श्रौ १.७.३.१०

६६७. द्र० वैखाश्रौ १९.४/८.४ "यद्रवति तद्वाजिनम्" अर्थात् आमिक्षा का द्रव वाला भाग वाजिन कहलाता है।

प्रथम दिन प्रारम्भिक कृत्य किये जाते हैं तथा दूसरे दिन प्रधान आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।

प्रारम्भिक दिन के कृत्य

मरुतों को दी जाने वाली आमिक्षा के लिए प्रतिप्रस्थाता गायों से बछड़ों को दूर करता है तथा वरुण देवता के लिए अध्वर्यु।[६६८] अध्वर्यु आगे-आगे कार्य सम्पादन करता है और प्रतिप्रस्थाता उसका अनुसरण करता जाता है।[६६९] गार्हपत्य अग्नि के पूरब में दो वेदियों का निर्माण किया जाता है, जिन्हें क्रमशः उत्तर एवं दक्षिण वेदि कहते हैं। उत्तरी वेदि का निर्माण अध्वर्यु तथा दक्षिणी वेदि का निर्माण प्रतिप्रस्थाता करता है।[६७०] इनकी लम्बाई आपस में समान ही होती है तथा वेदियों के (श्रोणियों के) बीच का अन्तराल पृथुमात्र (१२ अङ्गुल) बनाया जाता है।[६७१] उत्तरी बिहार में अध्वर्यु तथा दक्षिणी बिहार में प्रतिप्रस्थाता अपने-अपने सभी कर्मों का सम्पादन करते हैं। इसी दिन अग्नि का प्रणयन किया जाता है।[६७२] आहवनीय अग्नि के उत्तरी वेदि में संभारों का सम्भरण करके आहवनीय अग्नि से क्रमशः अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता अग्नि-प्रणयन करते हैं।[६७३] अग्निप्रणयन के समय अध्वर्यु मन्त्र से होता को सप्रैष देता है[६७४] तथा प्रतिप्रस्थाता दोनों वेदियों के मध्य सञ्चरण करता हुआ आहवनीय अग्नि के पूर्व से होकर उत्कर की ओर जाता है।[६७५] इस पर्व में एक ही उत्कर का विधान है तथा होता, ब्रह्मा एवं

---

६६८. वारा०श्रौ १/७/२/२ प्रतिप्रस्थातामिक्षायै मारुत्यै वत्सानपाकरोत्यध्वर्युर्वारुण्यै, तु० सश्रौ ५/२/४६०, मान०श्रौ १/७/३/४

६६९. वही, १/७/२/४, पूर्वकर्माध्वर्योरारात्, तु० सश्रौ ५/२/४५९, वैखा १९.९/८.९,

६७०. वही, १/७/२/६ वेदी कुरुत उत्तरामध्वर्युः दक्षिणांप्रतिप्रस्थाता, तु० वैश्रौ १९.१०/८.१०, मान०श्रौ १/७/३/२५

६७१. वही, १/७/२/७-८ असंभिन्ने समे। पृथमामन्तरा। तु० वैखा १९.१०/८.१०, मान०श्रौ १/७/३

६७२. वही, १/७/२/५ पूर्वेद्युरग्निप्रणयनम्।'

६७३. वही, १/७/२/५/ पूर्वेद्युरग्निप्रणयनम्।

६७४. वही, १/७/२/९-१० उत्तरस्यामुतरवेदिसम्भारान्युप्यावहनीयादग्नीप्रणयनम्।... इति सम्प्रेष्यति। तु० सश्रौ ५/२/४६०

६७५. वही, १/७/२/११ अग्रेणोत्तरां वेदिं प्रतिप्रस्थातान्तरा वेदी...प्रतिप्रस्थाता। वैखा, श्रौ १९.९/८.९, मान०श्रौ १/७/३

आग्नीध्र समान ही होते हैं।[६७६] अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता के समस्त कार्य भी समान होते हैं, परन्तु निर्देश के अभाव में ही ऐसा विधान उपन्यस्त है, अन्य स्थानों पर नहीं।[६७७] अग्निप्रणयन के बाद पात्रासादन क्रिया की जाती है। जिस प्रकार वैश्व देव पर्व में हविष्य एवं औषध पात्रों के आसादन का विधान है उसी तरह इस पर्व में भी आधानकृत्य किया जाता है।[६७८]

वेदियों के उत्तर-परिग्राहपर्यन्त समस्त कार्य प्रकृतिवत् सम्पन्न कर दोनों वेदियों को मिलाने के लिए दक्षिण वेदि के उत्तरी श्रोणि से प्रारम्भ करके उत्तर वेदि के दक्षिण अंस तक स्फ्य के द्वारा एक रेखा खींच दी जाती है।[६७९]

यजनीय दिन के कृत्य

प्रारम्भिक कृत्य के अनन्तर दूसरे दिन प्रातःकालीन अग्निहोत्र हवन के अनन्तर अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता पाणिप्रक्षालन से लेकर पात्रासादनपर्यन्त समस्त कार्यों को प्रकृतिवत् किन्तु पृथक्-पृथक् रूप में सम्पन्न करते हैं।

हविर्निर्वाप

चातुर्मास्य के सभी पर्वों के लिए विहित सामान्यतया ५ सञ्चार हवियों :- १. अग्निदेवताक अष्टाकपालक पुरोडाश, २. सोमदेवताक चरु, ३. सवितृ देवताक द्वादश कपालक पुरोडाश, ४. सारस्वतचरु एवं ५. पूषा देवताक चरु के निर्वपन के बाद इस पर्व में विहित ४ अन्य हवियों : १. इन्द्राग्निदेवताक द्वादशकपालक पुरोडाश, २. मरुतों के लिए आमिक्षा, ३. वरुण देवताक आमिक्षा एवं ४-क (प्रजापति) देवता के

---

६७६. वारा०श्रौ० १/७/२/१६ समानो होता ब्रह्माग्नीध्रः उत्करः। तु० का श्रौ ५/३/१६, सश्रौ ५/२/४६०, मान०श्रौ १/७/३

६७७. वही, १/७/२/१३ अविनिर्देशे समानमुभयोः कर्म, तु० काश्रौ ५/३/१६

६७८. वही, १/७/२/१२ एवं १४ पात्राणिप्रयुनक्ति, यथा वैश्वदेवे... हवींष्योषधपात्राणि।

६७९. वही, १/७/२/२१ उत्तरैः परिग्राहैः परिगृह्य दक्षिणस्यावेद्या उत्तरस्या श्रोण्या... वेदी संभिनत्ति।
तु० सश्रौ ५/२/४६०, वैखा० १९.९/८.९

लिए एक कपालक वाजिन के निर्वपन का विधान है।[६८०] मारुती मेष के अतिरिक्त समस्त हवियों का निर्वाप अध्वर्यु ही करता है।

करम्भ पात्रों का निर्माण तथा मेष एवं मेषीकरण

हवियों के निर्वपन के पश्चात् प्रतिप्रस्थाता पिसे हुए जौ के द्वारा निर्मन्त्रक करम्भ पात्रों का निर्माण करता है।[६८१] करम्भ पात्रों की सङ्ख्या यजमान के परिवार के सदस्यों की सङ्ख्या के बराबर और लम्बाई में अँगूठे के पोर की लम्बाई से कुछ अधिक ही होनी चाहिए।[६८२] करम्भ पात्रों को शमी वृक्ष के पत्तों से अभिपूरित कर दिया जाता है।[६८३] करम्भपात्रों के निर्माण में प्रयुक्त हुए यव (जौ) के शेष भाग से मेष एवं मेषी की आकृति बनायी जाती है।[६८४] मेष का निर्माण अध्वर्यु तथा मेषी का निर्माण प्रतिप्रस्थाता करता है।[६८५] ज्ञातव्य है कि इनके निर्माण में पुरुष एवं स्त्री के अङ्गों का निर्देश अवश्यमेव किया जाना चाहिए।[६८६] अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता क्रमशः मेष एवं मेषी को निक्ता (पालतू भेंड़) के ऊन से आवेष्टित करते हैं और उन आकृतियों पर शमी वृक्ष के १०० पत्तों एवं घास का निर्वपन करते हैं।[६८७]

आज्यग्रहण

वेदि के उत्तर परिग्राह के बाद अध्वर्यु को प्रकृतिवत् आज्य का ग्रहण करना चाहिए। पृषदाज्य ग्रहण करते हुए उसे निरुप्त दधि में दो बाद उपस्तृत करके दो बार उसका अभिघारण भी करना चाहिए। अब

---

६८०. वारा०श्रौ० १/७/२/१७ पञ्चसञ्चराण्येन्द्राग्नो द्वादशकपालो... इति हवींषि। तु० भा.श्रौ ८/६/८, वैखा श्रौ १९.१०/८.१०, सश्रौ ५.२.४६२ मान०श्रौ १/७/३
६८१. वही, १/७/२/१८ निरुप्तेषु प्रतिप्रस्थाता तूष्णीको यवा... करम्भपात्राणि करोति। तु० भाश्रौ ८/७/१, सश्रौ ५/२/४६२ वै श्रौ १९.१०/८.१०
६८२. वही, १/७/२/१८ प्रतिपुरूषं यजमानस्यैकं चाङ्गुष्ठपर्वमात्रण्येकोद्धीनि। तु० भाश्रौ ८/७/१, वैखा १९.१०/८.१०
६८३. वही, १/७/२/१८ शमीपर्णैः पूरयित्वा।
६८४. वही, १/७/२/१९, शेषस्य मेषं च मेषीं च कुरुतः। तु० मानवश्रौ १/८/३
६८५. वही, १/७/२/३६
६८६. द्र० वैखा श्रौ १९.१०/८.१०, तथा सश्रौ ५/२/४६२
६८७. वही, १/७/२/२० निक्ताभिरूर्णाभिरावेष्ट्य परःशतानि शमीपर्णानिघासं निवपतः।

अध्वर्यु को द्वितीय उपभृत में आज्य ग्रहण करना चाहिए।[६८८] अवधेय है कि इस पर्व के शेष कार्य प्रकृतिवत् सम्पन्न किये जाते हैं।

हविरासादन

हवियों के उद्वासन के समय मारुति आमिक्षा और वरुण देवता की आमिक्षा में खर्जूर के सत्तू को मिलाना चाहिए।[६८९] मेष प्रतिकृतियों की स्थापना के समय प्रतिप्रस्थाता मरुतों की आमिक्षा पर सम्पूर्ण मेष को और अध्वर्यु भी वारुणी आमिक्षा पर सम्पूर्ण मेषी की आकृतियों को स्थापित करता है।[६९०] इसी प्रकार मेष प्रतिकृतियों को भी स्थापित करते हुए व्यत्यास क्रम का अनुसरण कर देना चाहिए अर्थात् मारुती आमिक्षा पर मेषी एवं वारुणी आमिक्षा पर मेष की स्थापना करनी चाहिए।[६९१] तदनन्तर वारुणी आमिक्षा पर निष्काष की स्थापना करने का भी विधान है।[६९२]

अग्निसम्मार्जन

हवियों की स्थापना के अनन्तर उत्तरवेदि की अग्नि के सम्मंार्जन का कृत्य विहित किया जाता है। स्मर्तव्य है कि इस समय दक्षिण वेदि की अग्नि के सम्मार्जन का विधान नहीं है।[६९३] सम्मार्जन के अनन्तर प्रतिप्रस्थाता यजमान की पत्नी से उसके प्रेमियों की सङ्ख्या पूछते हुए कहता है 'कितने लोगों से मैथुन किया है ?'[६९४] इस समय यजमान की पत्नी को सत्य ही बताना चाहिए[६९५], क्योंकि वह असत्य बोलेगी अर्थात्

---

६८८. वारा०श्रौ १/७/२/२२ पृषदाज्ये गृह्णीतः सकृदुपस्तीर्यद्विर्दधि द्विरभिघारयेत्।

६८९. वही, १/७/२/२३ उद्वासन वेलायामामिक्षयोर्खर्जूरसक्तूनावपतः।

६९०. वही, १/७/२/२४ मारुत्यां प्रतिप्रस्थाता मेषमवदधाति वारुण्यामध्वर्यु:र्मेषीम्। तु० सश्रौ ५/२/४६४, वैखाश्रौ १९.२१/८.११

६९१. वही, १/७/२/२५ आसादयन्तौ विपरिहरतः तु० वैखा १९.११/८.११ सश्रौ ५.१.४६४

६९२. वही, १/७/२/२६ वारुणीनिष्काषं निदधाति।

६९३. वही, १/७/२/२७ उत्तरस्मिन्नग्नौ संमृष्टेऽसंमृष्टे.......।

६९४. वही, १/७/२/२७ प्रतिप्रस्थाता पत्नीं पृच्छति कतिभिर्मिथुनमचर इति। तु० वैखा श्रौ १९.१२/८.१२, तथा सश्रौ ५/२/४६५

६९५. वही, १/७/२/२८, सत्यं विवाचयिषेत्।

प्रेमियों के रहने पर भी यदि वह छिपायेगी तो उसके प्रिय सम्बन्धी जनों का अप्रिय होगा।[६९६] जितने लोगों के नामों का निर्देश यजमान की पत्नी करती है; उनके लिए प्रतिप्रस्थाता 'तान्वरुणो गृह्णातु' ऐसा अनुवचन करता है।[६९७]

करम्भपात्र होम

उक्त कृत्य के पश्चात् "प्रघास्यान्हवामह०" इत्यादि मन्त्र उच्चारण पूर्वक यजमान और उसकी पत्नी करम्भपात्रों को शूर्प में लेकर पश्चिम विहार की परिक्रमा करते हुए आहवनीय अग्नि के अग्रभाग में वेदियों के मध्य से होते हुए पश्चिमाभिमुख खड़े हो जाते हैं। करम्भपात्रों को (शिर पर) रखकर शूप के साथ ही साथ दक्षिण अग्नि में हवन करते हैं।[६९८] इस समय यजमान हवन करता हुआ "मोषूण०" इत्यादि मन्त्र से पुरोनुवाक्या का अनुवचन करता है।[६९९] यजमान और उसकी पत्नी दोनों याज्या का पाठ करते हुए करम्भ पात्रों से दक्षिण अग्नि में हवन करते हैं।[७००] 'अक्रन्कर्म०' इत्यादि मन्त्रपूर्वक यजमान और उसकी पत्नी दोनों वहाँ से प्रस्थान करते हुए अनुमन्त्रण करते हैं।[७०१] इस समय यजमान और उसकी पत्नी के अतिरिक्त विकल्प स्वरूप अध्वर्यु ही जाप कर सकता है, लेकिन ध्यातव्य है कि हवन के समय दोनों (यजमान और पत्नी) को उसका स्पर्श मात्र किये रहना चाहिए।[७०२]

प्रधान याग

करम्भपात्र होम के अनन्तर अध्वर्यु ऐन्द्राग्न आहुतिपर्यन्त समस्त आहुतियों का प्रकृतिवत् अनुष्ठान करता है। तब तक प्रतिप्रस्थाता आज्य भागों को प्रदान कर हाथ से स्रुच् लिऐ हुए आकाङ्क्षा करता

---

६९६. द्र० वैखा श्री १९.१२/८.१२ यज्जारं सन्तं न प्रब्रूयाताप्रियं जाति।
६९७. वही, १/७/२/२९ यान्निर्दिशेत्तान्वरुणागृह्णात्विति ब्रूयात्, तु० सश्री ५/२/४६५, वैखाश्रौ १९.१२/८.१२
६९८. वारा०श्रौ १/७/२/३० इति करम्भपात्राण्यादाय... दक्षिणस्मिन्नग्नौ शूर्पेण जुहुतः।
६९९. वही, १/७/२/३१ इति यजमानः पुरोनुवाक्यां जपति। तु० वैखाश्रौ १८.१२/८.१२
७००. वही, १/७/२/३२ इति उभौ याज्यां निगद्य जुहुतः।
७०१. वही, १/७/२/३३ इति व्युत्क्रामन्तौ अनुमन्त्रयेते। तु० भा.श्रौ ८/९/१०-११
७०२. वही, १/७/२/३४ अध्वर्युवा जुहुयादन्वारभेयतामेतौ तु० वैखा श्रौ १८.१२/८.१२

है।[७०३] तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता मारुती आमिक्षा से प्रथम अवदान के साथ सम्पूर्ण मेषी की आहुति देता है। इसके बाद अध्वर्यु भी वारुणी आमिक्षा के साथ सम्पूर्ण मेष की आहुति करता है।

इसके अनन्तर इडा-प्राशन कृत्य का सम्पादन किया जाता है और इसी समय यजमान मन्त्र का जाप करता है।[७०४] अन्त में यजमान द्वारा एक जोड़ा बैल एवं एक जोड़ी गायें दक्षिणा स्वरूप अध्वर्यु को प्रदान किये जाने का प्राविधान है।[७०५]

वाजिनयाग

प्रधान याग के बाद वाजिन याग का अनुष्ठान किया जाता है। अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता दोनों वैश्वदेव याग की तरह पूर्ण पात्र से सम्बन्धित कृत्य के अतिरिक्त अन्य समस्त कृत्यों को सम्पन्न करते हैं।[७०६] वाजिन भक्षण के समय प्रतिप्रस्थाता समीप ही स्थित रहता है। पत्नी संयाज तथा समिष्ट यजुषों को अध्वर्यु पशुबन्ध की तरह प्रतिपादित करता है।[७०७] इस समय प्रतिप्रस्थाता चुपचाप स्रुचों को ग्रहण किये रहता है।[७०८]

अवभृथ

वारुणी आमिक्षा के निष्काष और तुषों को लेकर सभी लोग अवभृथ स्थान की ओर जाते हैं।[७०९] इस समय के समस्त कृत्य सोमयाग की ही तरह सम्पन्न किये जाते हैं अर्थात् पूर्णपात्र के स्थान पर अवभृथ का ही प्रयोग किया जाता है।[७१०] इस समय सामगान न करने का विधान

---

७०३. वारा.श्रौ. १/७/२/३५, आज्यभागाभ्याम्... प्रचरति।
७०४. वही, १/७/२/३७ इति यजमानो जपति।
७०५. वही, १/७/२/३८ मिथुनौ गावौ दक्षिणा। तु० वैखाश्रौ १९.१३/१०.१३
७०६. द्र० वैखा श्रौ १९.१३/१०.१३ पूर्णपात्रवर्जमतोऽन्यत्सिद्धेष्टिः।
७०७. वारा.श्रौ. १/७/२/४० पत्नीसंयाजान्समिष्टयजुरध्वर्युर्जुहोति।
७०८. वही, १/७/२/४१ तूष्णीं प्रतिप्रस्थाता स्रुचं विक्षारयति।
७०९. वही, १/७/२/४२ वारुणीनिष्काषेण तुषैश्चावभृथं यन्ति। तु.वैखा श्रौ १९.१४/८.१४, सश्रौ ५/२/४६७, आपश्रौ ८/७/१५
७१०. वही, १/७/२/४२

किया गया है।[७११] ऋजीषभक्षण के स्थान पर तुषों का प्रयोग किया जाता है।[७१२] स्नान के पश्चात् यजमान तथा पत्नी अपने वस्त्रों को किसी पुरोहित को देकर नूतन वस्त्र धारण कर वापस चले आते हैं। घर आकर यजमान आहवनीय अग्नि में मन्त्र विनियोग से एक समिधा डालता है,[७१३] किन्तु इसी समय कतिपय आचार्य अगले दिन ही पूर्णमासेष्टि का अनुष्ठान सम्पन्न करने तथा वैश्वदेव की तरह यजमान के केशों के वपनादिका विधान भी करते हैं।[७१४]

2. साकमेध पर्व

अग्नि अनीकवान् हेतु अष्टाकपालक पुरोडाशों का सूर्य के उदय होने के साथ ही साथ अर्पण किये जाने के कारण ही सम्भवतः चातुर्मास्य के इस तृतीय पर्व का अभिधान 'साकमेध' (साकम् = एक साथ, एध् = प्रज्वलित करना) है। वरुणप्रघास के अनुष्ठान के ४ मास बाद (कार्तिक या मार्गशीर्ष) की पूर्णिमा को इसका अनुष्ठान किया जाता है।[७१५] इसके अनुष्ठान में दो दिनों की आवश्यकता होती है।[७१६] पूर्णिमा के एक दिन पूर्व प्रारम्भिक कृत्य एवं पूर्णिमा के ही दिन प्रधान कार्यों का सम्पादन किया जाता है।[७१७]

विधि

(क) उपवसथ दिन के कृत्य

प्रारम्भिक कृत्य हेतु पूर्णिमा के एक दिन पूर्व प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल क्रमशः अनीकवान्, अग्नि, सन्तापनमरुतों तथा गृहमेधी मरुतों के निमित्त तीन इष्टियाँ प्रदान की जाती हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है –

---

७११. वारा.श्रौ. १/७/२/४२, तु० वैखाश्रौ १९.१४/८.१४, ऋजीषस्थाने तुषा भवन्ति।
७१२. वही, १/७/२/४२-४३ इति समानम्।
७१३. द्र० मा शब्रा० २/४/३/४८ तथा सश्रौ २/५/४६८, वैखाश्रौ १९.१४/८.१४
७१४. माश्रौ ८/११/१६, सश्रौ ५/२/४६८
७१५. वारा०श्रौ १/७/३/१ चतुर्ष मासेष साकमेधाः। तु० सश्रौ ५/३/४६८ मान०श्रौ १/७/४, बाश्रौ ५/९, आपश्रौ ८/९१
७१६. द्र० सश्रौ ५/३/४६८, तथा श्रौ प नि पृ० ९८, प० ४९६।
७१७. वारा०श्रौ १/७/३/२ पूर्वां पौर्णमासीं आनीकवताय उपवसेदुत्तरां क्रेडिनीयाय।

1. अनीकवती-इष्टि - प्रातःकालीन अग्निहोत्र होम करने के बाद[७१८] प्रातःकाल में ही अनीकवान् अग्नि के लिए अष्टाकपालक पुरोडाश का निर्वपन किया जाता है।[७१९] कुछ आचार्यों के मतानुसार पुरोडाशों का निर्वपन सूर्योदय के समय, अथवा किरणों के परिस्फुरण के समय ही करना चाहिए।[७२०]

2. सन्तापन-इष्टि - अनीकवान् अग्नि के लिए पुरोडाशों के निर्वपन के बाद मध्याह्न के समय सान्तपन मरुतों के निमित्त चरु का अर्पण किया जाता है।[७२१]

गृहमेधीयेष्टि

सायंकालीन अग्निहोत्र होम के बाद यजमान गृहमेधी मरुतों के लिए चरु प्रदान करता है। यह चरु यजमान की समस्त गायों के दूध में पकाया हुआ रहता है।[७२२] चरु पकाने के लिए दूध हेतु समन्त्रक वत्सापाकरण का विधान है[७२३] तथा कुम्भीपात्र के अतिरिक्त स्थाली में ही दोहन एवं श्रपण करने का विधान है।[७२४] इस समय इध्य और वर्हि का सम्भरण नहीं करना चाहिए[७२५] और उपभृत में आज्य ग्रहण न कर, ध्रुवा में ही आज्य ग्रहण करने का विधान किया गया है।[७२६] इस समय न तो

---

७१८. द्र० श्रौ प नि, पृ० ९८, प० ४९६ प्रातरग्निहोत्रं होमं कृत्वा।

७१९. वारा०श्रौ १/७/३/३ अग्नये अनीकवते प्रातरष्टाकपालो... तु० बौ श्रौ ५/९, आपश्रौ ८/९/२, सश्रौ ५/३/४६९

७२०. द्र० तै सं० १/८/४/६ तथा बौश्रौ ५/९, आप ९/२ तथा सश्रौ ५/३/४६९ साकं सूर्येणोद्यता साकं रश्मिभिः प्रचरन्ति इति। श्रौ प नि, पृ० ९८, प ४९६

७२१. वारा०श्रौ १/७/३/३ मरुद्म्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चरुः। - तु० सश्रौ ५/३/४६९, मान०श्रौ १/७/४

७२२. वही, १/७/३/३ मरुद्भ्यो गृहमेधेभ्यः सर्वासां दुग्धे सायमोदन... तु० सश्रौ ५/३/४६९, मान०श्रौ १/७/४

७२३. वही, १/७/३/४ यजुषावत्सानपाकरोति, तु० आपश्रौ ८/९

७२४. वही, १/७/३/५ अपवित्रे दोहयति।

७२५. वही, १/७/३/६ नेघ्माबर्हिः संनह्यति।
तु० श्रौ प नि पृ० ९९, प० ४९८, इघ्माबर्हिः संभरणं नास्ति।

७२६. वही, १/७/३७ नोपभृत्याज्यं गृह्णाति।
तु० श्रौ प नि, पृ ९९, प० ४९८, ध्रुवामेवाज्यं गृह्णाति।

सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करना चाहिए और न प्रयाज आहुतियाँ ही प्रदान करनी चाहिए।[७२७] गृहमेधी मरुतों के निमित्त चरु[७२८] पकाने के लिए कुम्भीपात्र के अतिरिक्त ३ पात्रियों में भी ग्रहण कर उत्पवन करना चाहिए। पकायी गयी हवि के ऊपर पड़ी हुई पपड़ी को इन्द्र देवतार्थ निष्काष के रूप में कुम्भीपात्र में रख लेना चाहिए।[७२९] यजमान की स्त्री तथा उसके अन्य पारिवारिक सदस्यों को खाने के लिए प्रतिवेश (लौकिक ओदन) को अन्वाहार्य पचनाग्नि पर पकाया जाता है।[७३०] समस्त आज्याहुतियों को प्रदान करने के बाद अध्वर्यु गृहमेधी मरुतों के लिए भी आहुति प्रदान करता है तथा स्विष्टकृत् आहुति के लिए सभी ओदनपात्रियों में से एक-एक अवदान ग्रहण कर लेता है।[७३१]

गृहमेधीयेष्टि का अनुष्ठान इडाभक्षणपर्यन्त संपादित किया जाता है[७३२] और इडाभक्षण के पश्चात् अवशिष्ट ओदन यजमान के उन सभी अमात्यों (सम्बन्धियों) को प्रदान किया जाता है, जो अवशेषोदन भक्षण की इच्छा रखते हैं।[७३३] अमात्यों के बाद प्रतिवेशोदन का भक्षण यजमान की पत्नी तथा उसके परिवार की अन्य स्त्रियाँ एवं बच्चे आदि सभी एक साथ करते हैं।[७३४] इसके बाद सभी लोग अपनी आँखों को काजल से अभ्यञ्जित करते हैं और संतृप्त होकर वहीं निवास करते हैं।[७३५]

---

७२७. वारा.श्रौ. १/७/३/१०-११ न सामिधेनीरन्वाह। न प्रयाजान्यजति।
७२८. वही, १/७/३/९ त्रीनोदनानुद्धृत्योत्पूतान्करोति।
तथा द्र० सश्रौ, सश्रौ ५/३/४७२
७२९. वही, १/७/३/३ तथा ८ इन्द्रस्य निष्काषः। ओदनस्य शरो निष्काषं निदधाति। - तु० सश्रौ, ५/३/४७२
७३०. वही, १/७/३/१५ प्रतिवेशमोदनं पचति।
तु० सश्रौ ५/३/४७२
७३१. वही, १/७/३/१२
७३२. वही, १/७/३/१३ इडान्ता भवति। तु० सश्रौ ५/३/४७३ इडान्तो गृहमेधीयः संतिष्ठते।
७३३. वही, १/७/३/१४ अमात्येभ्यः ओदनानुप्रहरन्ति।
तु० सश्रौ ५/३/४७३ ये हविर्भोजनाः भवन्ति।
७३४. वही, १/७/३/१६ तस्य पत्न्यश्नाति। तु० श्रौ प नि, पृ० १००, प ४९८ तथा सश्रौ ५/३/४७३
७३५. वही, १/७/३/१७ आज्याभ्यज्य सुहिता वसन्ति। तु० सश्रौ ५/३/४७३

तत्पश्चात् गायों को अपने-अपने बछड़ों के साथ रहने के लिए छोड़ दिया जाता है। वे गायें अपने वत्सों के साथ निवास करती हैं।[७३६] अध्वर्यु इसी रात्रि के अन्तिम भाग में अभिवान्या[७३७] और अग्निहोत्री गायों के वत्सों को बाँधता है।[७३८]

यजनीय दिन के कृत्य

पूर्णदर्व्यहोम[७३९] - पूर्णिमा के दिन प्रातःकालीन अग्निहोत्र होम के पूर्व अध्वर्यु दर्व्य होम का अनुष्ठान करता है।[७४०] इसकी विधि इस प्रकार विहित है:- सर्वप्रथम अध्वर्यु होमार्थ उपस्तृत दर्वी को सुरक्षित रूप में निष्काष से अभिपूरित करके वहाँ पहले से ही खड़ा किये गये बैल को बुलाता है और बैल के शब्द करने पर मन्त्र (मै.सं.१.१०.२) द्वारा गार्हपत्याग्नि में आहुति देनी चाहिए। यदि बैल शब्द नहीं करता है; तो उसके बदले ब्रह्मा को ही बोलने का विधान किया गया है।[७४१] यह पूर्ण दर्व्य होम इन्द्र देवता के ही निमित्त अर्पणीय होती है।[७४२] उक्त बैल दक्षिणा स्वरूप अध्वर्युं को प्रदान कर दिया जाता है।[७४३]

क्रीडनीय-इष्टि

प्रातःकालीन अग्निहोत्र के अनन्तर अध्वर्यु क्रीडी मरुतों के लिए सप्तकपालक पुरोडाशों का सूर्योदय के समय निकलती हुई रश्मियों के साथ निर्वपन करता है।[७४४] इस समय ३ गायों की दक्षिणा दी जाती है।[७४५]

---

७३६. वारा.श्रौ. १/७/३/१८-१९ गाश्चघ्नते। सवत्सा गावो वसन्ति। तु० श्रौ प नि पृ० १००, पृ० ४९८ तथा सश्रौ ५/३/४७३

७३७. वह गाय जिसका बछड़ा मर गया हो और किसी दूसरे बछड़े को अपना मानने से दूध देती है। द्र० सश्रौ ५/३/४७३ की महादेव कृत वैजयन्ती व्याख्या।

७३८. वही, १/७/३/२० प्राचीनरात्रेऽभिवान्याया अग्निहोत्र्याश्च वत्सौ बध्नन्ति। तु० सश्रौ ५/३/४७३

७३९. दर्वी के द्वारा किये जाने वाले होम को दर्व्यहोम कहते हैं।

७४०. वही, १/७/३/२१ पुरा प्रातरग्निहोत्राद्। तु० सश्रौ ५/३/४७३

७४१. वही, १/७/३/२१-२२, तु० सश्रौ ५/३/४७३-४७४

७४२. वही, १/७/३३ इन्द्रस्य निष्काषः। तु० सश्रौ ५/३/४७४ की टीका

७४३. वही, १/७/३/२७ ऋषभो दक्षिणा।

७४४. वही, १/७/३/२३ मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः साकं रश्मिभिः सप्तकपालं निवपेत्।

७४५. द्र० श्रौ प नि, पृ० १००, पद ५०२, तिस्रो गां दक्षिणा ददाति।

महाहविष याग

क्रीडी मरुतों की इष्टि के अनन्तर महाहविष याग का अनुष्ठान किया जाता है।[७४६] इस याग में ५ सञ्चार आहुतियों के अतिरिक्त ३ अन्य आहुतियों के अनुष्ठान का विधान है[७४७] -

१. इन्द्र और अग्नि देवता के लिए द्वादश कपालक पुरोडाश।
२. वृत्रहा इन्द्र के निमित्त चरु।
३. विश्वकर्मा के लिए एककपालक पुरोडाश।

इस प्रकार महाहविषयाग में कुल ८ आहुतियों का विधान है। इस याग में सम्पूर्ण कृत्य वरुणप्रघासवत् सम्पन्न किये जाते हैं। वरुणप्रघास की उत्तर वेदि के समान इसकी भी वेदि का निर्माण किया जाता है।[७४८] इसकी दक्षिण वेदि नहीं बनायी जाती है। उत्तर वेदि में ही अग्निप्रणयन किया जाता है। स्विष्टकृत् याग स्वरूप विहित मन्त्र (मै.सं.१.१०.२.१.४.७) से स्रुचों के द्वारा आघार आहुति प्रदान की जाती है।[७४९] याग की समाप्ति के अवसर पर अध्वर्यु के लिए एक बैल दक्षिणा स्वरूप प्रदान किये जाने का विधान है।[७५०]

महापितृयज्ञ

क्रीडी मरुतों एवं महाहविष याग के अनन्तर साकमेध पर्व में महापितृ यज्ञ करने का विधान है। इसकी अनुष्ठान की विधि इस प्रकार है -

द्रव्य एवं देवता

महापितृयज्ञ में १:- पितृमान सोम देवतार्थ षट्कपालक पुरोडाश, २:- बर्हिषद् पितरों के निमित्त धाना (भुने हुए जौ) तथा ३. अग्निष्वात्त पितरों के लिए मन्थ की आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[७५१]

---

७४६. वारा०श्रौ १/७/३/२४ महाहविषा यजते।
७४७. वही, १/७/३/२५ पञ्चसञ्चराण्यैन्द्राग्नो द्वादशकपाल... इति हवींषि। तु० सश्रौ ५/३/४७४ मान०श्रौ १/७/४
७४८. वही, १/७/३/२४ सोत्तरवेदिं अग्निं प्रणीय।
७४९. वही, १/७/३/२६ पुरस्ताद् स्विष्टकृतो... अभिघारयति। तु० सश्रौ ५/३/४७४
७५०. वही, १/७/३२७ ऋषभो दक्षिणा
७५१. वही, १/७/४/१२ सोमाय पितृमते षट्कपालः पुरोडाशः पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यो... मन्थः। तु० सश्रौ ५/४/४७९

वेदिकरण

अध्वर्यु दक्षिणाग्नि की दक्षिणपूर्व दिशा में पैतृक वेदि का निर्माण करता है। यह वेदि समतल और चार कोणों वाली होती है।[७५२] स्मरणीय है कि इसके चारों कोणों को चार दिशाओं में ही बनाना चाहिए।[७५३] इस वेदि की लम्बाई और चौड़ाई यजमान की लम्बाई के बराबर होनी चाहिए।[७५४] वेदि का चारों ओर से परिश्रयण करने के अनन्तर उत्तरी कोण में एक द्वार का निर्माण किया जाता है।[७५५] तत्पश्चात् अध्वर्यु दक्षिण अग्नि से एक उल्मुक को लाकर उसे वेदि के मध्य स्थापित करता है। यह उल्मुक आहवनीय अग्निस्वरूप स्थापित किया जाता है।[७५६]

वेदिनिर्माण के बाद गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि का अन्वाधान किया जाता है तथा बर्हि आहरण और इध्माहरण कृत्य पिण्ड-पितृ यज्ञवत सम्पन्न किये जाने का विधान है। ज्ञातव्य है कि महापितृयज्ञ में प्रयुक्त होने वाले इध्म, पिण्डपितृयज्ञीय इध्मों की अपेक्षा बड़े होने चाहिए, साथ ही साथ इन्हें वर्षा से बढ़ा होना चाहिए। बर्हि भी वर्षा द्वारा बढ़े हों और समूल उखाड़े गये अथवा मूल के समीप तक काटे गये होने चाहिए।[७५७] इस कृत्य के बाद अध्वर्यु प्रोक्षणी पात्र, इक्षुशलाका, वारणपात्र या शराव तथा अन्य समस्त पात्रों को वेदि में उत्तर की ओर से आसादित करता है।[७५८]

हवियों का निर्वपन

अध्वर्यु प्राचीनावीती होकर शकट पर चढ़ता है तथा दक्षिण की ओर उत्तराभिमुखी होकर यवों का निर्वपन करता है।[७५९] ज्ञातव्य है कि

---

७५२. श्रौ प नि पृ० १०, प० ५०५

७५३. वारा०श्रौ १/७/४/१, ४ पितृयज्ञेऽग्रेण दक्षिणाग्निं...। समं चतुरश्रं परिश्रयति।

७५४. द्र० श्रौ प नि, पृ० १०१, प० ५४ एवं पुरुषमात्रीं... तथा सश्रौ ५/४/४७५ यजमानमात्रीम्।

७५५. वारा०श्रौ १/७/४/५ उत्तरां प्रति वेदिश्रोणिं द्वारं कुर्वन्ति।

७५६. वही, १/७/४/६-७ एकोल्मुकंमध्ये वेद्याःसादयति। स आहवनीयः। तु० सश्रौ ५/४/४७८

७५७. वही, १/७/४/८ वर्षीयो नित्याद्बर्हिरुपमूललूनँ वर्षीयानिध्मः। तु० सश्रौ ५/४/४७८

७५८. वही, १/७/४/१० उत्तरतो वेद्याः पात्राणि प्रयुनक्ति।

७५९. वही, १/७/४/११ दक्षिणतो निर्वपति।
तु० सश्रौ ५/४/४७८ तथा श्रौ प नि, पृ० १०३, प० ५०६

यज्ञ की समस्त हवियाँ यव की ही होती हैं।

हवियों का निर्माण

अध्वर्यु हवियों के निर्वपन के अनन्तर हवियों का निर्माण करता है। एतदर्थ वह सर्वप्रथम प्रोक्षणी जल से आर्द्र किये गये यवों (जौ) को उलूखल में रखकर कूटता है।[७६०] तदनन्तर पितृमान सोमदेवता के लिए विहित षट्कपालों पर हवि को गार्हपत्याग्नि में दक्षिणार्ध भाग पर अधिश्रित करता है।[७६१] अध्वर्यु बर्हिषदपितरों के निमित्त धाना बनाने के लिए दक्षिणाग्नि पर यवों को भूँजता है।[७६२] तदनन्तर पेषण कृत्य करते हुए धाना को समन्त्रक दो भागों में (मन्थ के लिए) विभक्त कर लेता है।[७६३] अब अध्वर्यु द्वारा उससे सक्तू बना लिया जाता है तथा वह पुनः सक्तुओं को अभिवान्या गौ के दूध में डालकर मन्थ[७६४] तैयार करता है। मन्थ तैयार करने की विधि इस प्रकार विहित है - अध्वर्यु आहवनीय अग्नि की दक्षिण दिशा में दूध में मिले हुए सक्तू को दक्षिणाभिमुख होकर इक्षुशलाका के द्वारा प्रसव्यक्रम से आलोडित करता है।[७६५] इक्षुशलाका द्वारा मन्थन करके मन्थ तैयार किया जाता है।[७६६] यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इक्षुशलाका को बिना स्पर्श किये ही मन्थन कर्म करना चाहिए। अतः इक्षुशलाका में बँधी रस्सी ही पकड़ कर उसे हिलाना चाहिए।[७६७]

---

७६०. वारा.श्रौ. १/७/४/१४ प्रोक्षणीस्तिग्रान्यवानवघ्नन्ति।
तु० श्रौ प नि, पृ० १०३, प० ५०६, सश्रौ ५/४/४७९

७६१. वही, १/७/४/१५ दक्षिणार्धे गार्हपत्यस्य पुरोडाशं श्रपयति। तु० श्रौ प नि, पृ० १०३/५/५०६, षट्कपहालान्युपदधाति गार्हपत्यस्य दक्षिणार्धे। सश्रौ ५/४/४७९

७६२. वही, १/७/४/१६ दक्षिणाग्नौ यवान्भृज्जति।

७६३. वही, १/७/४/१७ पेषणवेलायां धाना मन्त्रेण विभजति। तु० सश्रौ ५/४/४८०

७६४. मन्थ हेतु द्र० हि ध शा, २/२, पृ० ११०२, पाटि २४६८
"The cow that has milk on having the calf of another is called Nivanya, its milk is put in a vessel in...by moving the string and the stirring is done from right to left. This preperation so stirred is called Mantha.

७६५. वारा०श्रौ १/७/४/१८ अभिवान्यीया: पयसि मन्थ...प्रसव्यमालोडयति। तु० मान०श्रौ १/७

७६६. वही, १/७/४/१८ अभिवान्याया: पयसि मन्थं...प्रसव्यमालोडयति। तु० मान०श्रौ १/७

७६७. वही, १/७/४/१९ शलाकास्थं मन्थं करोति। तु० सश्रौ ५/४/५८०

अवधेय है कि इस याग में पत्नी सन्नहन, वेदि में यजमान और उसकी पत्नी का बैठना तथा यजन कर्म में भाग लेना निषिद्ध है।[७६८]

आज्य ग्रहण

हवियों के निर्माण के अनन्तर अध्वर्यु आज्य ग्रहण कृत्य का सम्पादन करता है। इस समय उसे गार्हपत्याग्नि के उत्तर की ओर सभी स्रुवों में चतुर्गृहीत आज्य का ग्रहण करना चाहिए।[७६९] ज्ञातव्य है कि सत्याषाढ आचार्य ने विकल्पस्वरूप उपभृत् में भी दो बार आज्य ग्रहण का विधान किया है।[७७०]

वेदिस्तरण

आज्य ग्रहण करने के बाद अध्वर्यु प्राचीनावीति होकर परिधियों का आधान कर, वेदि में विधृतियों को विना स्थापित किये ही प्रस्तर का ग्रहण निर्मन्त्रक करता है तथा उसका न्यास भी करता है।[७७१] इस समय अध्वर्यु बर्हि को पकड़कर तीन बार विहित मन्त्र (मै.सं.१.१०.३) के द्वारा प्रसव्य क्रम से स्तरण करते हुए प्रदक्षिणा करता है।[७७२] पुनः तीन बार अध्वर्यु को दर्भों के द्वारा प्रस्तर बनाकर स्तरण न करते हुए प्रदक्षिणक्रम से घूमना चाहिए[७७३] और उसे बर्हि की प्रथम मुट्ठी का ग्रहण दर्भों के मूल भाग की ओर से करना चाहिए तथा द्वितीय मुट्ठी का ग्रहण दर्भों के अग्रभाग को पकड़कर करना चाहिए।[७७४] वेदिस्तरणोपर्यन्त अध्वर्यु दक्षिणाग्नि से धूमयुक्त एक उल्मुक ग्रहण कर गार्हपत्याग्नि के पश्चिम तथा आहवनीयाग्नि के अग्र भाग की ओर आकर खड़ा होता है।

---

७६८. द्र० श्रौ प नि, पृ० १०४, प० ५०६ पत्नीसंनहनाभाव...।

७६९. वही, १/७/४/२० चतुर्गृहीतान्याज्यान्यध्यधि गार्हपत्यं गृह्णाति। तु० सश्रौ ५/४/४७९-८०। मान०श्रौ १/७

७७०. द्र० सश्रौ ५/४/४८०

७७१. वारा०श्रौ १/७/४/२१ तूष्णीं प्रस्तरमुद्धवमादत्ते। तु० श्रौ प नि पृ० १०४, प० ५०६, तूष्णीं प्रस्तरग्रहणम्। सश्रौ ५/४/४८०

७७२. वही, १/७/४/२२ समन्तं बर्हिस्त्रिः स्तृणन्पर्येति।

७७३. वही, १/७/४/२३ त्रिरस्तृणन्प्रतिपर्येति।

७७४. द्र० श्रौ प नि, पृ० १०४, प० ५०६ प्रथममुष्टिदर्भमूलानि द्वितीयमुष्टिदर्भाग्रेः प्रच्छादयन्...।

पुनः उसे वेदि के मध्य भाग में आहवनीयाग्नि के दक्षिण की ओर स्थापित करता है।[७७५]

हवियों का आसादन

अध्वर्यु वेदिस्तरण के बाद हवियों को अलङ्कृत कर उन्हें यथास्थान आसादित करता है। वह एक-एक करके आज्ययुक्त स्रुचों और इस याग की समस्त हवियों (पुरोडाश, धाना एवं करम्भ) को ले आकर आहवनीयाग्नि के पश्चिम भाग में बिछे हुए बर्हि पर रखता है।[७७६] उदकुम्भ का आसादन वेदि के उत्तर ही आज्ययुक्त स्रुचों से आगे परिषेचन के लिए स्थापित करने का विधान है।[७७७]

समिधाओं का आधान

हवियों के आसादन के बाद अध्वर्यु होता को सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन के लिए प्रैष देता है।[७७८] होता सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ 'उशन्तस्त्वा०' इत्यादि मन्त्र का ३ बार पाठ करता है। इस समय अध्वर्यु इध्मों को ३ भागों में विभक्त कर होता के प्रत्येक प्रणव के उच्चारण के समय क्रमशः एक-एक अवदान को ग्रहणकर अग्नि में हवन करता है।[७७९] इस यज्ञ में यजमान को होता एवं आर्षेय वरण न करने का विधान है।[७८०] कुछ आचार्य 'सीद होतः' इतना ही मन्त्रोच्चारण कर प्रवर के वरण का विधान करते हैं।[७८१] ज्ञातव्य है कि समिधाओं के आधानकाल में एक समिधा को अनुयाज के लिए बचा लेनी चाहिए,[७८२]

---

७७५. द्र० सश्रौ ५/४/४८१ दक्षिणाग्नेरेकोल्मुकं धूपायता गीनपरेण...।
७७६. वारा०श्रौ १/७/४/२४ एकैकमभ्युदाहरति। तु० सश्रौ ५/४/४८१
७७७. वही, १/७/४/२४ उदकुम्भमाज्येनाग्रतः परिषेचनाय।
तु० श्रौ प नि, पृ० १०५ प० ५० वेद्या उत्तरत उदकुम्भौ। सश्रौ ५/४/४८१
७७८. वही, १/७/४/२५ इति सम्प्रेष्यति। तु० श्रौ प नि पृ० १०५ प० ५०६ सश्रौ ५/४/४८१
७७९. वही, १/७/४/२६-२७ इत्येका सामिधेनी। तस्यां त्रिरुक्तायां... दधाति। तु० सश्रौ ५/४/८८१, श्रौ प नि, पृ० १०५, प० ५०६
७८०. वही, १/७/४/२८ न होतारम् वृणीते नार्षेयम्।
७८१. द्र० सश्रौ ५/४/४८२ सीद होतः इत्येतावान्प्रवरः।
७८२. द्र० श्रौ प नि, पृ० १०५, प० ५०६

इस याग में अपबर्हिष[७८३] चार प्रयाज आहुतियाँ प्रदान करने का विधान है।[७८४] दो आज्य भाग की आहुतियाँ प्रदान करने के बाद सभी लोग प्राचीनावीती हो जाते हैं।[७८५] तदनन्तर सभी ऋत्विजों तथा आज्य युक्त स्रुचों एवं हवियों के स्थानों में परिवर्तन किये जाने का विधान है।[७८६] परन्तु जुहू यथास्थान ही रखा रहने का निर्देश है।[७८७] जुहू के दक्षिण उपभृत् की स्थापना करनी चाहिए तथा उपभृत् के दक्षिण ध्रुवा स्थापित करना चाहिए।[७८८] इसी प्रकार पुरोडाश को यथास्थान ही रहने देने तथा पुरोडाश के दक्षिण में धाना और धाना के भी दक्षिण दिशा में मन्थ स्थापित करने का प्राविधान है।[७८९] अध्वर्यु होता और आग्नीध्र उत्तरी कोण से दक्षिणी कोण में आते हैं।[७९०] उक्त समस्त स्थानान्तरण के बाद आग्नीध्र प्रत्याश्रावण करता है तथा इसके उपर्यन्त प्रधान याग का अनुष्ठान किये जाने का विधान है।[७९१]

प्रधान याग

दक्षिण दिशा में ही रहकर अध्वर्यु प्रधान याग का अनुष्ठान करता हुआ तीनों हवियों से ३ अवदान लेता है। प्रत्येक देवता के लिए एक-एक अवदान पूर्व क्रम से प्रदान करता है। अवदान ग्रहण करते हुए अध्वर्यु चतुरावत्तिन् यजमान के निमित्त ६ अवदान तथा पञ्चावत्तिन् हेतु

---

७८३. द्र० श्रौ प नि, पृ० १०२, प० ५०५ अत्रापशब्दो वर्जने तथा च बर्हिषदरहित प्रयाजानुयाजा अपवर्हिष इत्युच्यन्ते।

७८४. वारा०श्रौ १/७/४/२९ अपबर्हिषः प्रयाजान्यजति। तु० सश्रौ ५/४/४६२

७८५. वही, १/७/४/३० आज्यभागाभ्यां प्रचर्य प्राचीनावीतानि कुर्वते। तु० सश्रौ ५/४/४८२, श्रौ प नि, पृ० १७५ प० ५०६

७८६. वही, १/७/४/३१-३२ विपरिहरन्ति........।........ ऋत्विजः। तु० सश्रौ ५/४/४८२ तथा श्रौ प नि पृ० १०५, प० ५०६, ५०७ विपरिहन्ति हवींषि स्रुचश्च।

७८७. वही, १/७/४/३३ यथास्थानं जुहूः। तु० सश्रौ ५/४/४८२

७८८. वही, १/७/४/३४ उपभृद्ध्रुवे दक्षिणे। तु० सश्रौ ५/४/४८२ श्रौ प नि, पृ० १०५, प० ५०७।

७८९. वही, १/७/४/३५ यथास्थानं पुरोडाशं। दक्षिणा थाना मन्थं दक्षिणतः। तु० श्रौ प नि, पृ० १०५, सश्रौ ५/४/४८२

७९०. वही, १/७/४/३७ अपरो यजमानः। तथा १/७/४/३२ विपरियन्ति ऋत्विजः। तु० सश्रौ ५/४/४८२

७९१. वही, १/७/४/३६ आग्नीध्रः प्रत्याश्रावयति। तु० श्रौ प नि, पृ० १०६ प० ५०७।

४ अवदान ग्रहण करता है।[७९२] स्मर्तव्य है कि सर्वप्रथम जुहू को उपस्तृत कर प्रथम अवदान पितृमान् सोमदेवताक ही ग्रहण करना चाहिए।[७९३] इसके बाद वह धाना और मन्थ से विहित देवताओं के निमित्त ग्रहण करता है। इसी समय आग्नीध्र प्रत्याश्रावण[७९४] तथा वषट्कार से करता है। वषट्कार के समय अध्वर्यु दक्षिणाभिमुख होकर दक्षिणार्ध पूर्वार्ध में हवियों का हवन करता है।[७९५] उसे इसी क्रम से स्विष्टकृत् आहुति पर्यन्त आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिए। स्विष्टकृत् आहुति के रूप में उपर्युक्त विधि से 'अग्निः कव्यवाहन'० इत्यादि मन्त्र द्वारा मेक्षण और इक्षुशलाका को अग्नि में डाल देने का विधान है।[७९६] तदनन्तर सभी लोग यज्ञोपवीती होकर यथापूर्व अपने-अपने स्थानों में परिवर्तन कर लेते हैं तथा हवियों के भी स्थानों में परिवर्तन कर देते हैं। ब्रह्मा एवं यजमान दक्षिण में ही रहते हैं।[७९७] इस स्थानान्तरण के बाद इडा का अवदान ग्रहण किया जाता है। इडा का अवदान मन्थ से ही ग्रहण करने का विधान है।[७९८] इस याग में कुछ आचार्य प्राशित्रावदान न ग्रहण करने का विधान करते हैं।[७९९] इडा के उपहूत होने पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ले-लेकर ब्रह्मा, यजमान और आग्नीध्र अवदानों को सूँघते हैं। उसके बाद तीनों हवियों के अवशिष्टों को पात्री में एक साथ सम्मिलित कर उससे ३ पिण्ड बनाये जाते हैं। इन्हें यजमान के षष्ठ, पञ्चम एवं चतुर्थ पितरों के नाम निर्देशपूर्वक प्रसव्यक्रम से (पैतृक वेदि के) तीनों कोणों

---

७९२. वारा.श्रौ. ३८ - दक्षिणतोऽध्वर्युरवद्यति तिस्रश्चतुरवदानस्य चतुःपञ्चावदानस्य। तु० सश्रौ ५/४/४८३

७९३. द्र० सश्रौ ५/४/४८३,

७९४. वारा०श्रौ, तत्रैव, ३६, ३९, ४०, ४१ आग्नीध्रः प्रत्याश्रावयति। उदङ्ङतिक्रामं... अनुवाचयति।......आश्रावयति।......इति प्रत्याश्रावयति। तु० सश्रौ ५/४/४८३

७९५. वही, १/७/४/४३, ४४ .... इति वषट्कारः। दक्षिणामुखो दक्षिणार्धे जुहोति। तु० श्रौ प नि, पृ० १०६, प० ५०७

७९६. वही, ४५-४६ एतेन धर्मेण स्विष्टकृदन्तैः प्रचरति।........ इति स्विष्टकृतम्। तु० सश्रौ ५/४/४८४

७९७. द्र० श्रौ प नि, पृ० १०६, प० ५०७ सर्वे यज्ञोपवीतिनो भवन्ति। ब्रह्म यजमानौ दक्षिणतः उपविशतः।

७९८. वही, १/७/४/४७ मन्थादीनामिडामवद्यति। तु० सश्रौ ५/४/४८५

७९९. द्र० सश्रौ ५/४/५८४ न प्राशित्रमवद्यति।

में स्थापित कर दिया जाता है।[८००] प्रसङ्गतः निर्देश है कि पिण्डों की स्थापना में पिण्डपितृयज्ञवत् मन्त्रों एवं विधियों का पालन करना चाहिए।[८०१] पैतृक वेदि के उत्तरी श्रोणि के अतिरिक्त सभी कोणों में पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में पिण्डाधान करना चाहिए।[८०२] उत्तरी कोण में ही लेप का निमार्जन किया जाता है।[८०३] दक्षिण दिशा में स्थित सभी लोग अब मन्त्र का उच्चारण करते हुए उत्तर की ओर आते हैं। मन्त्रोच्चारपूर्वक आहवनीय अग्नि के समीप खड़े होते हैं तथा मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहवनीय के समीप प्रणवोच्चारण तक (प्लुति उच्चारण काल तक) श्वास को रोक कर खड़े रहते हैं।[८०४] उसके बाद मन्त्रोच्चारणपूर्वक गार्हपत्य का उपस्थान करते हैं और परिश्रित वेदि में प्रवेश करते हैं। इस समय यजमान जलकुम्भ को लेकर तीन बार प्रसव्य क्रम से वेदि का पऱिसिञ्चन करते हुए घूमता है और कुम्भ रखकर तीन बार प्रदक्षिणक्रम से परिसिञ्चन करते हुए भी घूमता है।[८०५] अञ्जनादि कर्मों को पिण्डपितृयज्ञवत् सम्पन्न कर परिश्रित हटा देते हैं। परिधियों को भी यथाक्रम रखकर सब लोग यज्ञोपवीती हो जाते हैं।[८०६] इसके बाद दो अनुयाज आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। स्मरणीय है कि इसमें वह्निदेवताक अनुयाज आहुतियाँ नहीं प्रदान करनी चाहिए।[८०७] साथ ही साथ इस याग में पत्नीसंयाज एवं समिष्टयजुष आहुतियाँ निषिद्ध हैं।[८०८] इसके बाद

---

८००. वारा०श्रौ १/७/४/४८ ब्रह्मा आग्नीध्रो यजमान इत्यवघ्रेण भक्षयित्वा इडां हविःशेषांश्च त्रीन्पिण्डान्कृत्वा... निदधाति। तु० सश्रौ ५/४/४८५

८०१. वही, १/७/४/४८ यथा पिण्डपितृयज्ञ०, तु० सश्रौ ५/४/४८५ की महादेव कृत वैजयन्ती टीका।

८०२. वही, ४८ उत्तरां श्रोणिं परिहाप्य।

८०३. वही, ४९, तस्यां लेपान्निमार्ष्टि। तु० सश्रौ ५/४/४८५

८०४. वही, ५०, ५१ अत्र पितरोमादयध्वं इत्युक्त्वापरेत्य... इत्याहवनीयमुपतिष्ठते। इति प्रणवेन ताम्यन्ते। तु० सश्रौ ५/४/४८५

८०५. वही, ५२, ५४ इति परिश्रितं प्रपद्याञ्जनाभ्य... कृत्वां इति त्रिरपः परिषिञ्चन् पर्येति। इति निरपरिषिञ्चन्प्रति पर्येति। तु० सश्रौ ५/४/४८६

८०६. द्र० सश्रौ ५/४/४८६

८०७. वारा.श्रौ. १/७/४/५७ अपबर्हिषावनुयाजौ यजति। तु० सश्रौ ५/४/४८६

८०८. वही, ५९ न·पत्नीः संयाजयन्ति न समिष्टयजुर्जुहोति। तु० सश्रौ ५/४/४८७ श्रौ प नि पृ० १०८, पत्नीसंयाजानां निषेधः।

त्र्यम्बकेष्टि का अनुष्ठान किया जाता है।

त्र्यम्बेकेष्टि

साकमेध पर्व के अन्तर्गत महापितृयज्ञ के पश्चात् त्र्यम्बक इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है।[८०९] इस इष्टि में त्र्यम्बक रुद्र देवतार्थ विहितव्य पुरोडाशों की आहुति प्रदान की जाती है। ज्ञातव्य है कि पुरोडाशों की सङ्ख्या यजमान के पारिवारिक सदस्यों की सङ्ख्या से एक अधिक होनी चाहिए तथा इसकी आहुतियाँ चुपचाप दी जाती हैं।[८१०]

अनुष्ठान-विधि

हवियों के लिए व्रीहि का निर्वपन कर अध्वर्यु गार्हपत्याग्नि के उत्तरार्ध पुरोडाशों को अधिश्रित करता है।[८११] स्मर्तव्य है कि इस इष्टि में पुरोडाशों का अभिघारण नहीं किया जाता है। परन्तु कुछ विद्वानों ने अभिघारण का विधान भी प्रस्तुत किया है।[८१२] हवियों के उद्वासनोपर्यन्त अध्वर्यु पुरोडाशों को तृणनिर्मित एक टोकरी में रखकर दक्षिणाग्नि से धूमायमान एक उल्मुक गार्हपत्याग्नि से पश्चिम की ओर ले जाता हुआ विहार से उत्तरपूर्व की दिशा में प्रस्थान करता है।[८१३] इसके साथ यजमान और उसके सभी सगे-सम्बन्धी भी जाते हैं तथा जाते हुए रास्ते में ही अध्वर्यु के द्वारा एक पुरोडाश का चूहे की बिल पर मन्त्र के द्वारा उपवपन किया जाना चाहिए।[८१४] पुनः चलते हुए आगे किसी चतुष्पथ पर पहुँचते हैं और उस चतुष्पथ पर एक उल्मुक को स्थापित कर उसी पर आरण्यक पलाश पर्ण के मध्यम पर्ण के द्वारा एक-एक अवदान लेकर

---

८०९. वारा.श्रौ. १/७/४/५९ समाप्येष्टिं प्रागुदञ्चस्त्र्यम्बकैर्यजन्ति।

८१०. वही, १/७/४/१३ तूष्णीकांस्त्र्यम्बकान्पुरोडाशानेककपालान्प्रतिपुरुषं यजमानस्यैकाधिकान्। तु० सश्रौ ५/५/४८७

८११. वही, १/७/४/१५ गार्हपत्यस्य पुरोडाशं श्रपयति उत्तरार्धे त्र्यम्बकान्।

८१२. द्र० श्रौ प नि, पृ० १०८, प० ५०९ अभिघारणवर्जः। सश्रौ ५/५/४८७ तानभिघार्यनभिघार्य वा।

८१३. वारा०श्रौ १/७/४/५९-६१ प्रागुदञ्चस्त्रयम्बकैर्यजन्ति। मूते पुरोडाशानुपवपन्ति। एकोल्मुकं पराचीनं धूमायमानं हरन्ति। तु० सश्रौ ५/५/४८७

८१४. वही, १/७/४/६२ इति आखुकिरौपुरोडाशामेकमुपवति तु० सश्रौ ५/५/४८८ तथा श्रौ प नि पृ० १०८, प० ५०९

आहुति प्रदान करनी चाहिए।[८१५] सभी सम्बन्धियों के साथ यजमान अग्नि के चारों ओर प्रदक्षिण क्रम से घूमता है।[८१६] इस समय यजमान की पतिकामा पुत्री को भी परिक्रमा करनी चाहिए।[८१७] पुरोडाशों को चुपचाप ग्रहण कर तदनन्तर 'भगोऽसि भगस्येष०' इत्यादि मन्त्रोच्चारण पूर्वक पुरोडाशों को ऊपर की ओर उछालता है। इसके बाद घूमते हुए उसे उत्तर में स्थित यजमान की अञ्जलि में रख देना चाहिए अथवा विकल्पस्वरूप पतिकामा पुत्री की अञ्जलि में रखा जाता है। ज्ञातव्य है कि यह कार्य यजमान की पत्नी यजमान से लेकर करती है।[८१८] यही क्रिया द्वितीय, तथा तृतीय पर्याय में इसी नियम से की जाती है।[८१९] तीसरे पर्याय में पुरोडाशों को यजमान की अञ्जलि से वापस नहीं लेना चाहिए। पतिकामा पुत्री मन्त्र से अग्नि में आहुति कर देती है।[८२०] उपस्थानोपर्यन्त टोकरी में पुरोडाशों को रखकर दो क्रोशपर्यन्त[८२१] किसी वृक्ष में सभी लोग लटका कर पीछे न देखते हुए वापस लौट आते हैं।[८२२] वापस घर आकर समस्त कृत्य यथा अपना परिमार्जन, समिधाधान इत्यादि पशुबन्धवत सम्पादित किये जाते हैं।[८२३]

आदित्येष्टि

साकमेधपर्व का अन्तिम कृत्य आदित्येष्टि के नाम से सम्पादित होता है। इस इष्टि में अदिति देवता के निमित्त घृत में पकायी गयी व

---

८१५. वारा.श्रौ. १/७/४/६३ एकोल्मुकं चतुष्पथ उपसमाधाय जुहोति। तु० सश्रौ ५/५/४८८ मा शब्रा २५/३/८ श्रौ प नि, पृ० १०८, प० ५०९

८१६. वही, ६४ इति यजमानो अत्रात्यैःसहाग्निं पर्येति।

८१७. वही, ६५ पतिकामापि यायात्। तु० सश्रौ ५/५/४८९

८१८. वही, १/७/४/६६, ६७ भगोऽसि भगस्येष इत्युदस्य प्रतिलभ्य... समावपन्ति। पतिकामापि वा। तु० सश्रौ ५/५/४८८-८९

८१९. वही, ६८ त्रिरेतेन धर्मेण। तु० सश्रौ ५/५/४८९।

८२०. वही, १/७/४६९-७२ यथास्वमुपयामम्।...इति।...इतितृतीयम्।...इति पतिकामा।

८२१. द्र० सश्रौ ५/५/४८९ महादेव वैजयन्ती व्याख्या।

८२२. वारा०श्रौ १/७/४/७४-७५ मूत उपनह्य वृक्ष आसजति.......इत्युभयत:। अनपेक्षमाणाः प्रत्यायन्ति। सश्रौ ५/५/४८९ श्रौ प नि, पृ० १०९ प० ५०९

८२३. वही, १/७/४/७६ मार्जनं समिदाधानमिति यथा पशुबन्धे।

चरु की आहुति प्रदान की जाती हैं।[८२४] इस प्रकार क्रीडिनीयेष्टि से लेकर आदित्य-इष्टि पर्यन्त सभी कृत्य पूर्णमासी के दिन सम्पन्न करना चाहिए। पूर्णमासी को ही समाप्त कर अगले दिन प्रातः पूर्णमासेष्टि का अनुष्ठान किया जाता है।[८२५] इस पर्व में केशों का निर्वहन तथा वपनादि कृत्य प्रकृतिवत सम्पन्न किये जाते हैं।[८२६] शेष कृत्य समान ही होते हैं।

शुनासीरीय पर्व[८२७]

यह चातुर्मास्यों का चतुर्थ एवं अन्तिम पर्व है। यास्क के मतानुसार शुन का अर्थ 'वायु' एवं सीर का अर्थ आदित्य है।[८२८] इस याग के अनुष्ठान से यजमान को समृद्धि एवं सार की प्राप्ति होती है। शतपथब्राह्मणकार के मतानुसार शुन का अर्थ समृद्धि एवं सीर का अर्थ है सार।[८२९] अतः समृद्धि एवं सार की प्राप्ति होने के कारण ही इस पर्व का अभिधान शुनासीरीय पर्व है। इसका अनुष्ठान साकमेध पर्व के अनुष्ठानान्तर सद्यः अथवा ४ दिवस या ४ मास के अनन्तर किया जाने का विधान है।[८३०]

देवता एवं द्रव्य

इस पर्व में सभी चातुर्मास्यों में प्रदान की जाने वाली सामान्यतया ५ सञ्चार आहुतियों के अतिरिक्त ५ अन्य आहुतियों के अर्पण का भी विधान है -

१. वायुदेवताक यवागू तथा धारोष्ण पय।
२. इन्द्र शुनसीर के लिए द्वादशकपालक पुरोडाश।

---

८२४. वारा०श्रौ १/७/४/७७ प्रात्यादित्यं धृते चरुं निर्वपति। श्रौ प नि, पृ० १०९, प० ५०९, सश्रौ ५/४/४९०
८२५. वही, १/७/४/७९ संस्थितायां पौर्णमासीसंस्थाप्य। तु० सश्रौ ५/५/४९०
८२६. द्र० सश्रौ ५/५/४९० निर्वपनं वापनं यथा पुरस्तात्।
तथा श्रौ प नि, पृ० १०९ प० ५१० निवतनादि वैश्वदेववत्।
८२७. द्र० शुनासीरीय के अर्थ हेतु, ऋ सं० ४/५७/५, ८ तथा ४/५७/४, ८ निरुक्त ६/४०, शब्रा २/६/३/२, वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ३८६
८२८. द्र० यास्क, निरुक्त ९/४०
८२९. द्र० शब्रा २/६/३/२
८३०. वारा०श्रौ १/७/५/१ चतुर्षु मासेषु शुनासीर्यं सद्यश्चतुरहे मासे वा।
तु० सश्रौ ५/६/४९०, आपश्रौ ८/२०, काश्रौ ५/११

३. सूर्यदेवताक एक कपालक पुरोडाश।
४. इन्द्र और अग्नि देवताक द्वादश कपालक पुरोडाश।
५. वैश्वदेवों के निमित्त चरु। इस प्रकार शुनासीरीय पर्व में कुल १० आहुतियों का विधान किया जाता है।[८३१]

अनुष्ठान की विधि

शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान वैश्वदेव पर्व के समान ही किया जाता है।[८३२] इस याग में उत्तर वेदि का निर्माण नहीं किया जाता है, परन्तु विकल्प स्वरूप यदि उत्तर वेदि अभीष्ट ही हो तो उसके निर्माण हेतु वरुणप्रघास पर्व की निर्माणविधि विहित है।[८३३] इसमें घर्षणोत्पन्न अग्नि का प्रयोग निषिद्ध है। सायंदोह कृत्य का सम्पादन न करने एवं धारोष्ण पय हेतु प्रातर्दोह का कृत्य सम्पादित करने का विधान है।[८३४] सूर्य देवताक एक कपालक पुरोडाश याग तक के समस्त कृत्य प्रकृतिवत् सम्पन्न किये जाते हैं। इसके बाद अध्वर्यु मासों के नामों का प्रतिनिधित्व करने वाले मन्त्रों में से अन्तिम मन्त्र के द्वारा आज्य की एक आहुति प्रदान करता है।[८३५] इस पर्व में आपस्तम्ब के मतानुसार नौ प्रयाज एवं अनुयाज होते हैं।[८३६]

दक्षिणा

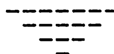
शुनासीरीय पर्व में १२ बैलों के साथ एक हल या ६ बैलों के साथ एक हल अथवा २ बैलों के साथ १ हल दक्षिणास्वरूप प्रदान किये जाने का विधान विहित है।[८३७]

---

८३१. वारा.श्रौ. १/७/५/२ पञ्च सञ्चराणि वायव्या यवागू प्रतियुग्वा... इति हवींषि। तु० सश्रौ ५/६/४९० आप ८/२०, काश्रौ ५/११, श्रौ प नि पृ० १०९, प० ५११
८३२. वही, १/७/५/५ वैश्वदेवेनैव यजेत्। तु० श्रौ प नि, पृ० १०९ प० ५११
८३३. द्र० श्रौ प नि, पृ० ११०, प० ५११ उत्तरवेदिर्विकल्पः।
८३४. द्र० श्रौ प नि, पृ० १०९, ११०, प० ५११, न सायंदोह...।
८३५. वारा०श्रौ १/७/५/४-५, तु० सश्रौ ५/६/४९१
८३६. द्र० आपश्रौ ५/११/१२-१४
८३७. वारा०श्रौ १/७/५/३ सीरं द्वादश योगं दक्षिणोष्टारो... वानड्वान्। तु० तै सं० १/८/७, आपश्रौ ८/२०/९-१०, काश्रौ ५/११/१२-१४

यदि शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान कृष्णपक्ष में किया जाता है; तो उचित काल में पूर्वमासेष्टि का अनुष्ठान करने के पूर्व दर्शयाग का भी अनुष्ठान करना चाहिए। साथ ही साथ केशों का उन्दन, निवर्तनादि कृत्य प्रकृतिवत् सम्पन्न करना चाहिए।[८३८] अन्य समस्त कृत्य वैश्वदेव याग के समान ही हैं। शुनासीरीय पर्व की समाप्ति पर ही चातुर्मास्यपर्वों की समाप्ति हो जाती है।[८३९] ध्यातव्य है कि सहस्रपशुप्राप्तिपर्यन्त वैश्वदेव पर्व का अनुष्ठान करना चाहिए, तदनन्तर पूर्व वर्णित क्रमानुसार समस्त अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिए। शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान ग्राम; अन्न; वृष्टि; तथा पशु और स्वर्ग की कामना से करना चाहिए।[८४०]

ज्ञातव्य है कि जब चातुर्मास्य का अनुष्ठान पशुओं सहित सम्पन्न होता है; तब वह पाशुक चातुर्मास्य कहलाता है और तब इसमें एकादश प्रयाजों एवं एकादश अनुयाजों की प्राप्ति होती है।



---

८३८. द्र० सश्रौ ५/६/४९१ अपरपक्षे समस्त काले पौर्णमासे... वापनं यथापुरस्तात्।

८३९. द्र० सश्रौ ५/६/४९१ संतिष्ठते चातुर्मास्यानि।

८४०. वारा०श्रौ १/७/५/५-६-
-शुनासीर्येण ग्रामकामो...अन्नाद्यकामो वृष्टिकामः पशुकामः स्वर्गकामो वा। तु० सश्रौ ५/६/४९२८

अध्याय - 3

वाराह-श्रौतसूत्र में प्रतिपादित अग्निचयन

अग्निचयन

स्मरणीय है कि श्रौतयज्ञों की अग्नि-वेदिका के निर्माण हेतु अग्निचयन का अनुष्ठान अवश्यमेव करणीय रहा है। प्रारम्भ में यह एक स्वतन्त्र कृत्य के रूप में अनुष्ठेय था, किन्तु कालान्तर में सोमयागों के अङ्ग के रूप में अनुष्ठित होने लगा।[१] जै०सू० से ज्ञात होता है कि अग्निचयन अग्नि का संस्कार है, न कि कोई स्वतन्त्र कृत्य।[२] सोमयागों की उत्तर वेदि पर ईटों के द्वारा वेदिका-निर्माण कृत्य 'अग्निचयन' द्वारा अभिहित किया जाता है। शुक्ल याजुष् परम्परा में अग्निचयन का अनुष्ठान महाव्रत में नित्य एवं अन्य यज्ञों में ऐच्छिक कृत्य के रूप में स्वीकार्य है।[३] कतिपय आचार्यों के अनुसार साद्यस्क, वाजपेय, षोडशी और सम्वत्सर यज्ञों को छोड़कर महाव्रत वाले सत्रों एवं अन्य सोम-यागों में अग्निचयन का अनुष्ठान अपरिहार्य है।[४] वाराहश्रौतसूत्र के अनुसार षोडशी को छोड़कर मात्र प्रकृति सोमसंस्थाओं में ही अग्निचयन कृत्य सम्पाद्य है।[५] जिन यज्ञों में उत्तर वेदिका का निर्माण किया जाता है; उनमें अग्निचयन की विकृतियाँ

---

१. ध० य०शा०इ०, पी०वी०काणे, पृ० ५७३, काश्रौ १६/१ एगलिंग, से बुई, खण्ड ४३, भूमिका, पृ० १४ तथा हि ध.शा २/२ पृ० १२४६

२. द्र० जै०सू० २/३/२१-२३

३. द्र० का०श्रौ० १६/१/२

४. द्र० स०श्रौ० ११/१/२, वै श्रौ २९.१/१८.१

५. वारा०श्रौ २/१/१/१ प्राकृतीषु संस्थासु षोडशिवर्जमग्निमुत्तरवेद्यां चिन्वीत। तु० मान०श्रौ ६/१/१/२

यथा-सावित्र एवं नाचिकेत का अनुष्ठान विहितव्य है और सत्र एवं अहीन यागों में भी अग्निचयन का विधान किया गया है।[६]

प्रारम्भिक कृत्य

अग्निचयन में प्रयोज्य उखा एवं आषाढा आदि ईटों के निर्माण हेतु मिट्टी का आहरण किया जाता है, किन्तु इस कृत्य के पूर्व अमावास्या की तिथि के दिन ऋत्विजों के वरणोपर्यन्त सावित्र आहुति का विधान किया जाता है।[७]

सावित्र आहुति

सावित्र आहुति हेतु प्रथमतः जुहू का सम्मार्जन करना तथा उसमें आज्य ग्रहण कर, खड़ा होकर आहुति देने का विधान है।[८] कतिपय आचार्यों के अनुसार प्रथमतः सावित्र-आहुति हेतु ८ बार घी ग्रहण कर आहुति देनी चाहिए।[९] सावित्र आहुति के पश्चात् 'ऋचा स्तोमम्०' इत्यादि मन्त्र के द्वारा पूर्णरूपेण भरे हुए जुहू से आज्य की पूर्णाहुति के रूप में दूसरी आहुति दी जाने का विधान है।[१०]

मृदानयन

सावित्र होम के अनन्तर अध्वर्यु उखा आदि की संरचना हेतु मिट्टी लेने के लिए अभ्रि को उठाता है। ज्ञातव्य है कि यह अभ्रि बाँस की बनी हुई, चितकबरी तथा छेदों वाली होनी चाहिए। विकल्पस्वरूप अभ्रि का निर्माण किसी फलवान् वृक्ष द्वारा भी किया जा सकता है।[११] अध्वर्यु अभ्रि ग्रहण किये हुए मन्त्र (मै.सं.III.१२.१:१५९.१६) के द्वारा

---

६. वारा.श्रौ. २/१/१/२ सावित्र नाचिकेतो वानग्निर्वोत्तरवेदिं चिन्वीत सत्राहीनेषु। तु० मान०श्रौ ६/१/१/३

७. वही, २/१/१/३ तं चेष्यमाणोऽमावास्यायामुपनीय... सावित्राण्यूर्ध्वस्तिष्ठन् जुहोति। तु० बौश्रौ १०/१/२, आपश्रौ १६/१/४ स.श्रौ. ११/१/७, वैखा श्रौ २८.१/१८.१

८. वही, २/१/१/३ हविर्जुहूं प्रथमं समृज्यास्तगृहीतेनाज्येन... इति सावित्राण्यूर्ध्वस्तिष्ठन्जुहोति।

९. द्र० आपश्रौ० १६/१/४, बौ श्रौ १०/१/२, स०श्रौ० ११/१/७

१०. वारा०श्रौ० २/१/१/३ इति द्वितीयां पूर्णाहुतिं पूर्णम्।

११. वही, २/१/१/४ वैणवीमभ्रिं कल्माषीं सुषिरां... आदत्ते फलग्रहैर्वावृक्षस्य।

अश्वाभिघानी लाकर ''प्रतूर्त वाजिन्नि० इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.२) के द्वारा अश्व को अश्वाभिधानी पहनाता है।[१२] तदनन्तर गर्दभ हेतु रस्सी लाकर मन्त्र (मै.सं.II.७.२) द्वारा उसे पहनाता है।[१३] अश्व को आगे-आगे तथा गर्दभ को उसके पीछे कर पूर्व दिशा को मिट्टी खोदने के स्थान की ओर सभी ऋत्विज जाते हैं।[१४] साथ जाते हुए लोगों द्वारा 'अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेम० ''इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.२) का जाप किया जाने का विधान है।[१५] ध्यातव्य है कि शत्रु के विनाश हेतु उस शत्रु का नाम निर्देशपूर्वक मन्त्रविनियोग करना चाहिए।[१६] तदनन्तर वल्मीक वपा के पास पहुँचते हैं और वहाँ से आगे चलकर मिट्टी के स्थान को पहुँचते हैं। उस समय ''आगत्य वाज्यध्वानम्०' इत्यादि का उच्चारण किया जाता है[१७] और अध्वर्यु अश्व के मन्त्र उच्चारण द्वारा मिट्टी पर चढ़ाता है। अध्वर्यु द्वारा इस समय अश्व के पैर के नीचे द्वेषी शत्रु का ध्यान किया जाता है। एतदर्थ मन्त्र का उच्चारण किया जाता है तथा अश्व की पीठ का स्पर्श करने का विधान है।[१८] तदनन्तर अध्वर्यु अश्व को वहाँ से हटाकर तथा उसके पदस्थान पर (जल छिड़ककर) हिरण्य रखकर आहुति प्रदान करता है, जिसकी याज्ञिक भाषा में 'अश्वपदाहुति' की संज्ञा है।[१९] अध्वर्यु अभ्रि के द्वारा अश्व-पद स्थान में रेखा बनाता है तथा मन्त्र द्वारा खनता है। पुष्कर-पर्ण और कृष्णाजिन को लाता है और दोनों को बिछाता है।[२०] ध्यातव्य है कि कृष्णाजिन के ऊपर ही पुष्करपर्ण को बिछाने का विधान है। एतदर्थ कृष्णाजिन के रोयें वाला भाग को उत्तान बिछाकर उस पर पुष्कर-पर्ण बिछाता है और उस पर मिट्टी को रखते हुए ''पुरीष्योऽसि०'' (मै.सं.II.७.३) इत्यादि यजुष् का उच्चारण करता है।[२१] स्मर्तव्य है कि

---

१२. वारा.श्रौ. २/१/१/५ इत्यश्वामिधानीमादाय... इति अश्वमभिदधाति।
१३. वही, २/१/१/६ इत्युत्तरं गर्दभम्।
१४. वही, २/१/१/७ इत्यश्वपूर्वा वल्मीकामभियन्ति।
१५. वही, २/१/१/८
१६. वही, २/१/१/९ इतिनिर्दिशति।
१७. वही, २/१/१/१० इति मृदं प्राप्य जपति। तु० मान०श्रौ ६/१/१/१५
१८. वही, २/१/१/१२-१३, यं द्विष्पात्तं ब्रूयात्... इति इत्यश्वस्य पृष्ठमभिमृशति।
१९. वही, २/१/१/१४-१५ इति पदे हिरण्यं निधायाभिजुहोति। तु० मानवश्रौ ६/१/१/२०
२०. वही, २/१/१/१६-१७, इति अभ्र्यापदं परिलिखति।... इति खनति।
२१. वही, २/१/१/१८-२१

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यजमान के लिए क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती मन्त्रों का विनियोग विहित है।[२२] विकल्पस्वरूप सब के लिए यजुष् मन्त्र के विनियोग की मान्यता है।[२३] किन्तु यदि अध्वर्यु यह चाहे कि उसका यजमान 'धनवान् बने' तो मिट्टी का ग्रहण गायत्री मन्त्र से तथा संभरण त्रिष्टुप् मन्त्र से क्रमशः ८ बार करना चाहिए।[२४]

अध्वर्यु पुष्करपर्ण पर सम्भृत मिट्टी का अभिमर्शण कर गड्ढे में जल एवं वायु का आधान करता है और मन्त्र (मै.सं.II.७.३) द्वारा वल्मीक वपा रखकर मूँज अथवा मन्दार की तीन फेरों वाली रस्सी से बाँधकर मिट्टी उठाता है[२५] तथा 'सजातो गर्भ०'' आदि मन्त्र (मै.सं.II.७.४) द्वारा आहरण कर 'स्थिरो भव वीड्वङ्ग०' आदि मन्त्र (मै.सं.II.७.४) का उच्चारण करके गर्दभ की पीठ पर लादता है। पूर्वक्रमानुसार सभी लोग वापस चले जाते हैं।[२६] आहवनीय के दक्षिणपूर्व में निर्मित खर में 'ओषधयः प्रतिगृभ्णीत०' मन्त्र (मै.सं.II.७.५) का उच्चारण कर कुश को बिछाता है और इन्हीं दर्भों के ऊपर गट्ठर को रखते हैं तथा 'वि पाजसेति०' मन्त्र (मै.सं.II.७.५) के द्वारा बँधी हुई गाठों को खोलकर उस पर 'आपो हिष्ठा' (मै.सं.II.७.५) आदि मन्त्र का उच्चारण कर जल का सिञ्चन करता है।[२७] तदनन्तर यजमान द्वारा उस मिट्टी में कृष्णाजिन एवं बकरे के रोयें, शर्करा एवं सिकता तथा बाँस के कोयले और अर्म कपालों को लेकर चूर्ण बनाता है और उन्हें सानता है। चूर्ण बनाते समय रोयें अलग रखे जाने का निर्देश है। सबको मिलाकर सानने के अनन्तर लोंदे बनाते हैं और उसे पत्नी को देते हैं।[२८]

---

२२. वही, २/१/१/२१ उत्तराभिर्गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्योत्तराभिस्त्रिष्टुब्भी राजन्यस्योतराभिर्जगती भिर्वैश्यस्य।

२३. वही, २/१/१/२२ सर्वत्र यजुः।

२४. वही, २/१/१/२३- यं कामयेत ऋध्नुयादिति तस्य गायत्रीभिश्च त्रिष्टुभिश्चाष्टभिश्च संभरेत्। तु० मान०श्रौ ६/१/१/२७

२५. वही, २/१/१/२४-२५ इति परिस्तृणाति। दर्भेषु सादयति।

२६. वही, २/१/१/२६/२९

२७. वही, २/१/१/३०-३३ इति परिस्तृणाति। दर्भेषु सादयति। इति विस्रँसयति---च। इति उद्भिरुपसृजति।

२८. वही, २/१/१/३४-३५ अज लोमभिः कृष्णाजिन लोमभिः अर्मकपालैः शर्कराभिः सिकताभिः वेणु अङ्गारैति लोम वर्जं चूर्ण कृतैः --- इति संसृजति। --- पत्नी करोति।

उखा-निर्माण[२९]

अब यजमान की पत्नी उखा का निर्माण करती है। एतदर्थ 'मखस्यशिरोऽसि०' (मै.सं.II.७.६) का उच्चारण कर मिट्टी के लोंदे का अध्वर्यु द्वारा अभिमर्शण किया जाता है।[३०] स०श्रौ० के अनुसार यदि यजमान की अनेक पत्नियाँ हों; तो उसकी ज्येष्ठा पत्नी द्वारा तथा यदि एक पत्नी हो तो अध्वर्यु द्वारा उखा का निर्माण किया जाता है।[३१] अध्वर्यु उखा की संरचना करते हुए ३ उद्धियाँ[३२] तथा आकार में चौकोर बनाता है।[३३] तदनन्तर उखा के तीन भाग पर चारों ओर रशना बनाता है। साथ ही साथ वह अभ्रि एवं रशना के बीच में दो स्तनों का निर्माण कर मन्त्र के द्वारा उखा का द्वार बनाता है और अभिमन्त्रण कर सिकता का विसर्जन करता है।[३४] इसी मिट्टी के द्वारा तीन रेखाओं से युक्त आषाढा नामक ईंट का निर्माण किया जाता है।[३५] अध्वर्यु सूखी हुई उखा के लिए घोड़े की लीद को गार्हपत्य अग्नि में सुलगाकर "बसवस्त्वा धूपयन्ति०" इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.६) से धुँआ दिखाता है[३६] और गार्हपत्य के अग्रभाग में उखा को पकाने के लिए गड्ढा खोदकर मन्त्र द्वारा उसमें उखा रख दिया जाता है तथा पकने के लिए चुपचाप (निर्मन्त्रक) जल से पर्युक्षण कर "धिषणा त्वा देवी०" आदि मन्त्र (मै.सं.II.७.६) द्वारा अग्नि प्रज्वलन किया जाता है।[३७] पकती हुई उखा का अध्वर्यु 'ग्नास्त्वा देवी०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.६) से अनुमन्त्रण करता है।[३८] पक जाने

---

२९. द्र० मधुसूदन-यज्ञसरस्वती, पृ० २७९-८१ श०ब्रा० ६/५/२/२१,

३०. वारा०श्रौ २/१/१/३६ इति पिण्डमभिमन्त्र्य... इति त्र्युद्धिं चतुरश्रां करोति।

३१. द्र० स०श्रौ० ११/१/४८, ४९

३२. द्र० एक्सकेवेशन ऐट कोशाम्बी, जी०आर० शर्मा, पृ० १४९। इसके तीन भाग होने चाहिए, जिससे तीनों भाग एक दूसरे के ऊपर रखे हुए दिखायी पड़ें तथा तै०सं०ब्रा० ५/१/६ सायणभाष्य।

३३. वारा०श्रौ २/१/१/३६

३४. वही, २/१/१/३७-३८

३५. वही, २/१/१/४०

३६. वही, २/१/१/४१

३७. वही, २/१/१/४२-४३

३८. वही, २/१/१/४४... इति पच्यमानामनुमन्त्रयते---।

के उपर्यन्त उखा को निकाल कर चार मन्त्रों के द्वारा बकरी के दूध से अभिषिक्त किया जाता है।[३९]

पाशुक-इष्टि

तदनन्तर पुरुष शिर का आहरण किया जाता है। एतदर्थ अध्वर्यु बाण या बिजली के द्वारा मारे गये क्षत्रिय अथवा वैश्य जाति के पुरुष का कटा हुआ शिर ले आता है[४०] और शिर के छेद पर उड़द के सात दानों को छोड़कर तीन यमगाथाओं का गान करता है।[४१] शिर के स्थान पर सात छेदों वाली वल्मीक वपा रखकर शिर रख देता है।[४२] शिर में मिट्टी का लेप कर उसे सुरक्षित स्थान में रख देता है।

अग्निचयन की प्रकृति-इष्टि ही पाशुक-इष्टि है। एतदर्थ पूर्णमासी के दिन ५ पशुओं - अश्व, बैल, धृष्णि तथा तूपर का आलभन किया जाने का विधान है।[४३] ध्यातव्य है कि प्रजापति हेतु तूपर (शृङ्गविहीन) पशु का आलभन विहितव्य है। वैश्वानर अग्नि के लिए द्वादश कपालक पशु पुरोडाश का विधान किया जाता है।[४४] उक्त पशुओं की २४ सामिधेनी ऋचाएँ हैं; जिनमें ११ ऋचाएँ प्रकृति याग की होती हैं; इन ऋचाओं में तीन अप्सुमती ऋचाओं का विनियोग करना चाहिए। शेष १० ऋचाएँ अग्निचयन की अपनी होती हैं।[४५] आघार तक के सभी कृत्य पशुबन्ध के समान करणीय हैं; तदनन्तर पुरुष शिर सहित आग्नेय आदि

---

३९. वारा.श्रौ. २/१/१/४४-४८ इति पक्वामुद्वपति।... इत्युच्छ्रयति। इत्यभिमन्त्र्य... इत्यजक्षीरेणा च्छृणत्ति चतुः। तु० मान०श्रौ० ६/१/२/२२, सश्रौ ११/१/६४-६६

४०. वही, २/१/१/४९ वैश्यस्य राजन्य बन्धोर्वा शिर आहरति ईषु हतस्याशनिहतस्य वा। तु० बौ श्रौ० १०/९, का०श्रौ० १६/१/१७

४१. वही, २/१/१/५० सप्त माषानुपन्युप्य यमगाथा गायति।

४२. वही, २/१/१/५१-५२, तु० आप०श्रौ० १६/६/२/७, स०श्रौ० १०-षष्ठी १-६७-७३

४३. वही, २/१/२/३ पौर्णमास्यां पञ्च पशूनालभतेऽश्वमृषभं वृष्णिं बस्तं प्राजापत्यं तूपरमितिमुष्करान्।

४४. वही, २/१/२/५ वैश्वानरीयो द्वादशकपालः पशुपुरोडाशः। तु० मान०श्रौ० ६/१/३/९, स०श्रौ० ११/२/१०, वैखा श्रौ० २९.५/१८.५

४५. वही, २/१/२/६-७, चतुर्विंशतिं सामिधेनीः..........। एकादशनित्याः.......... इति तिस्रः........... इति दश। तु० स०श्रौ० ११/२/२

पशुओं का पर्यग्निकरण करने का विधान है। आग्नेय पशुओं को छोड़कर उनके शिरों को कबन्धों (धड़) से अलग कर उनमें मिट्टी का लेप करके रख देना चाहिए तथा कबन्धों को जलाशय आदि में डाल देने का विधान है। प्रजापति देवतार्थ तूपर के द्वारा पशु याग करने का निर्देश है।[४६] यदि पूर्वोक्त पशुओं का आलभन करना अभीष्ट न हो तो इनके स्थान पर नियुत्वान् वायु देवता के निमित्त श्वेत तूपर अज का आलभन करने का वैकल्पिक विधान है।[४७]

दीक्षणीय-इष्टि

दीक्षणीय इष्टि के प्रारम्भिक कृत्यों का अनुष्ठान प्रकृतिवत् सम्पन्न करना चाहिए।[४८] निर्देश है कि दीक्षणीय इष्टि हेतु आग्नावैष्णव के लिए एकादश कपालक पुरोडाश सम्पन्न कर आदित्यों के लिए घृत में पकाया गया चरु का विधान करना चाहिए। वैश्वानर हेतु द्वादश कपाल पुरोडाश हवि का निर्वाप किया जाता है।[४९] तदनन्तर इस दीक्षा की ११ आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। अन्त में पूर्णाहुति का विधान होता है, किन्तु इसके पूर्व दीक्षाहुति के समय ही पाँच आध्वरिकी आहुतियाँ तथा छः अग्निचयन की आहुतियाँ प्रदान करने का भी निर्देश है।[५०]

उखा-सम्भरण

उखा सम्भरण हेतु प्रथमतः अध्वर्यु आहवनीय अग्नि के अङ्गारों पर उखा को गर्म करता है। ध्यातव्य है कि उखा को अग्नि पर रखते समय 'मासु भित्था०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.७) का विनियोग विहितव्य है।[५१] गर्म होती हुई उखा के अन्दर शीघ्र प्रज्वलनीय (मूँज या सन) वस्तु डालनी चाहिए; जिससे अग्नि पैदा हो जाय। इसके अनन्तर अध्वर्यु

---

४६. वारा.श्रौ. २/१/२/१२, पुरुष शिरसा सह पर्यग्निकृत्या... शिरांसि प्रच्छिद्य........ प्राजापत्येन तन्त्रं संस्थापयन्ति। तु० स०श्रौ० ११/२/१२-१४

४७. वाराहश्रौ० २/१/२/१३ यद्ययेतान्नालभेत वायवे नियुत्वते श्वेतं तूपरमजमालभेत।

४८. वही, २/१/२/१५ समानमन्यत्।

४९. वही, २/१/२/१६

५०. वही, २/१/२/१७-१९

५१. वही, २/१/२/२० पुरस्ताद्वाचोयमस्याहवनीय उखां प्रवृणक्ति... इति।

घी में क्रुमुक की समिधा को भिगोकर रख देता है।[५२] अग्नि के उत्पन्न हो जाने पर उसमें उदुम्बर, विकङ्कत तथा बिना फरशे से काटी गयी पाँच उदुम्बर की समिधाओं का पाँच बार आधान करना चाहिए।[५३]

अन्त में दो समिधाएँ - विकङ्कत एवं अश्वत्थ की भी डालने का विधान है। तैल्वकी समिधा का आधान करते समय शत्रु का ध्यान करना चाहिए। अन्तिम दोनों औदुम्बरी समिधाओं के आधान करते समय यजमान से मन्त्र पाठ कराया जाता है।[५४] इसके अतिरिक्त कामनाओं की अभिपूर्ति हेतु समिधाओं का आधान भी विहितव्य है, यथा:- वृष्टि की कामना करने वाले यजमान के द्वारा अश्वत्थ वृक्षीय तथा पशु की कामना करने वाले यजमान द्वारा अग्निचयन की समिधाओं का आधान करना चाहिए।[५५] इक्कीस दलों से युक्त सुवर्ण रुक्म यजमान द्वारा गले में पहनने का विधान है।[५६] उक्त सुवर्ण रुक्म के दलों को ऊपर की ओर उठा रहना चाहिए। कृष्णाजिन को उठाकर अध्वर्यु उदुम्बर की एक आसन्दी का आधान करता है, जिसके पैर प्रादेश मात्र लम्बे एवं शिर अरत्निमात्र परिमाप वाले होते हैं। तदनन्तर अध्वर्यु आसन्दी के ऊपर मूँज के द्वारा निर्मित शिक्य की स्थापना करता है।[५७] अब वह ६ रस्सियों के द्वारा उख्याग्नि को उठा कर रखता है। स्मर्तव्य है कि वह ''विश्वारूपाणि' आदि मन्त्र (मै.सं.II.७.८) का उच्चारण कर शिक्य-पाश को गले में डालता है, तथा 'नक्तोषास०' (मै.सं.II.७.८) द्वारा कृष्णाजिन धारण कर 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान०' (मै.सं.II.७.८) द्वारा उख्याग्नि को नाभि देश तक ऊपर उठाकर नीचे रखता है।[५८] यजमान विष्णुक्रम करता है। एतदर्थ उख्य अग्नि ग्रहण किये हुए प्रदक्षिण क्रम से यजमान चार डग पूर्व की ओर जाकर पुन: परिवर्तित हो जाता है। इस समय 'अक्रन्ददग्नि०' (मै.सं.II.७.८) इत्यादि मन्त्र द्वारा क्रन्दवती ऋचाओं का

---

५२. वारा.श्रौ. २/१/२/२२
५३. वही, २/१/२/२३-२५
५४. वही, २/१/२/२६-२९ इति औदुम्बर्यां यजमानं वाचयति। तु० मान०श्रौ० ६/१/३/३१
५५. वही, २/१/२/३१-३२
५६. वही, २/१/२/३४ सौवर्ण रुक्मं पाशवन्तमेकविंशति निर्बाधम्।
५७. वही, २/१/३/१/४
५८. वही, २/१/३/८- इत्युख्यमुद्गच्छन्नुपरिनाभि विपरिवर्तयति।

पाठ किया जाता है।[५९] अब पुनवर्ती ऋचाओं के द्वारा प्रदक्षिणा करता है। वह दक्षिण से घूमकर 'आत्वाहार्षम्०' (मै.सं.II.७.८) का जाप करता है।[६०]

शिक्य पाशों को गले से निकाल कर 'अग्ने बृहन्नुषसाम्०' (मै.सं.II.७.८) इत्यादि मन्त्र का उच्चारण उख्य अग्नि का अभिमन्त्रण करता है तथा 'हंसःशुचिषद्०' आदि हंसवती ऋचाओं के पाठ द्वारा शिक्य की स्थापना करता है। तीन सन्नवती ऋचाओं के द्वारा उख्य अग्नि को संस्कृत करता है।[६१] इसी समय १२ 'वात्सप्र' मन्त्रों (मै.सं.II.७.९) के द्वारा अग्नि का उपस्थान करने का विधान है, किन्तु कुछ आचार्यों के मतानुसार हंसवती ऋचाओं के द्वारा ही अग्नि का उपस्थान किया जाता है।[६२] ज्ञातव्य है कि रुक्म प्रतिमुञ्चन आदि कृत्य से लेकर वात्सप्र मन्त्रों के उच्चारणपर्यन्त सभी कृत्य यजमान ही सम्पादित करता है।[६३] ध्यातव्य है कि इसमें मुष्टिकरण आदि कार्यों का कर्ता अध्वर्यु ही होगा। प्रथम दिन विष्णुक्रम और दूसरे दिन वात्सप्र मन्त्रों का प्रयोग करके अग्निचयन के दिन विष्णुक्रम और वात्सप्र में क्रमशः उलट-फेर कर दोनों को विनियुक्त करना चाहिए।[६४]

उख्य अग्नि धारण किये रहने के समयान्तराल में प्रतिदिन करणीय कृत्य के रूप में सम्पाद्यमान कार्यों के निमित्त यजमान व्रतग्रहण करने के पूर्व 'येन देवा ज्योतिषा०' (मै.सं.II.७.१२:९१.९) इत्यादि मन्त्रविनियोग के द्वारा घृताक्त समिधा का आधान करता है।[६५] ज्ञातव्य है कि घृताक्त समिधाओं के स्थान पर यदि अनक्त समिधा प्रयोग करणीय हो तो 'समिधाऽग्निः' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.१०) का प्रयोग विहित है।[६६] इसके अतिरिक्त तीनों वर्णों के लिए समिधाधान में प्रयुक्त मन्त्रों में

---

५९. वारा.श्रौ. २/१/३/९, १० इति क्रमाणां पारे जपति। तु० मान०श्रौ० ६/१/४/११

६०. वही, २/१/३/११-१२ इत्यावृत्य जपति।

६१. वही, २/१/३/३/१६, तु० मान०श्रौ० ६/१/४/१७-१८

६२. द्र० तै०सं० ४/२/१ तथा स०श्रौ० ११/३/४०

६३. वारा०श्रौ० २/१/३/१७ रुक्म प्रतिमोचनादि वत्सप्रान्तं यजमानः करोति।

६४. वही, २/१/३/१९-२०, तु० ता०ब्रा० १२/११/२५, श०ब्रा ६/७/४/१२, स०श्रौ० ११/४/८/९, वैखाश्रौ० २९.९/१८.९

६५. वारा०श्रौ २/१/३/२१-२२ इत्यहरर्घृताक्तां समिधमादधाति... इति व्रतकालेषु आन्नाक्ताम्।

६६. वही, २/१/३/२३ इति चानक्ताम्।

भी विभिन्नता है, यथा - यदि यजमान ब्राह्मण हो तो गायत्री के द्वारा, यदि क्षत्रिय हो तो त्रिष्टुप् द्वारा तथा यदि वैश्य हो तो उसे दो गायत्री मन्त्रों से समिधाओं का आधान करने का विधान है।[६७]

वनीवाहन[६८]

स्मर्तव्य है कि यदि देवयजन के समीप जाना है; तो विहार में स्थित बल्लियों से युक्त बैलगाड़ी पर उख्य अग्नि को उठाकर रखा जाना चाहिए।[६९] हंसवती ऋचाओं के द्वारा रखने के उपर्यन्त सन्नवती ऋचाओं से अग्नि का उपस्थान कर "प्रेदग्न०" (मै.सं.II.७.१०) आदि के उच्चारणपूर्वक उसे गमन करना चाहिए।[७०] गमन काल में बैलगाड़ी के अक्षादि में आवाज आ रही हो; तो 'अक्रन्ददग्नि:०' (मै.सं.II.७.१०) इत्यादि के द्वारा उसको अभिमन्त्रित करने का विधान है।[७१] यदि भस्म से उखा भर जाय तो भस्म निकाल लेना चाहिए तथा इसका उपयोग ईंटों के बनाने में करने का विधान है।[७२] यायावर यजमान के द्वारा भस्म को जल में फेंक देने का निर्देश है। तदनन्तर उखाग्नि का बोधवती संज्ञक दो ऋचाओं से उपस्थान करने का निर्देश है। यदि ईंटों का निर्माण पहले कर लिया गया हो; तो उख्याग्नि की राख को मुट्ठी के द्वारा प्रतिदिन जल में डालना चाहिए। तदनन्तर लौटकर पुन: बोधवती ऋचाओं के द्वारा वह उख्याग्नि का उपस्थान करता है।[७३]

इष्टका-निर्माण

यजमान को दीक्षित अथवा अदीक्षित रहने के लिए दीक्षा से पूर्व

---

६७. वही, २/१/३/२४
६८. वनीवाहन हेतु द्र० मधुसूदन, यज्ञसरस्वती, पृ० २८८, वासं १२/१८/२८ तथा काश्रौ १६/५/११-२१
६९. वही, २/१/३/२५ प्रयास्यन्ननसि विहारमादधाति।
७०. वही, २/१/३/२६-२९ इत्यग्मिुद्यच्छति।... इत्यादधाति। सन्नवतीभिरुपतिष्ठते।... इति प्रयापयति।
७१. वही, २/१/३/३०, तु० तै० सं० ४/२/१/२, स०श्रौ० ११/५/४
७२. वही, २/१/३/३१ यद्युखा भस्मना प्रतिपूर्येतेष्टकासु कार्यम्। तु० मान०श्रौ० ६/१/४/३१ स०श्रौ० ११/५/१३
७३. वही, २/१/३/३३-३६ अप्सु यायावर प्रवयेत्।.........।.........।.........। इत्युपतिष्ठते।

ईंटों का निर्माण करना आवश्यक है।[७४] ध्यातव्य है कि सभी ईंटों को मिट्टी की ही बनानी चाहिए तथा इन ईंटों पर ऐसी तीन रेखाएँ खींची रहनी चाहिए; जो रेखाएँ दक्षिण से वृत्ताकार होकर बायीं ओर घुमी हुईं हों। ईंटों को चौकोर एवं सम होना चाहिए। इसके अतिरिक्त तीन मण्डलाकार ईंटों को भी बना लेने का विधान है और उन्हें निर्मन्थ्य अग्नि में तथा विकल्पस्वरूप अन्वाहार्य-पचन में पकाने का निर्देश है।[७५]

गार्हपत्य-चयन

दीक्षा की समाप्ति के अनन्तर यजमान यज्ञशाला में आकर बैठता है।[७६] अब वह गार्हपत्य चयन कृत्य का अनुष्ठान करता है। एतदर्थ आहवनीय के स्थान में गार्हपत्य का चयन किया जाता है।[७७] चिति का आयतन मण्डलाकार अथवा चौकोर बनाना चाहिए। इसका परिमाप एक व्यायाम मात्र होना चाहिए। अध्वर्यु उस स्थान पर जल सिञ्चन कर मन्त्र जपता है।[७८] प्रदक्षिणक्रम से २१ कङ्कड़ों के द्वारा गार्हपत्य चिति के आयतन को चारों ओर से घेर देता है और उसमें सिकता एवं ऊषा को डालकर एक रस कर देता है। तदनन्तर 'अयं सो अग्निः' (मै.सं.II.७.११) आदि चार मन्त्रों से चार ईंटों का चयन पूर्वभाग की ओर मध्य में किया जाता है और इसके पूर्व दो ईंटों को पुनः 'इडामग्ने अयं ते योनि ऋत्वियः०' (मै.सं.II.७.११) आदि मन्त्र के द्वारा रखना चाहिए। पश्चिम में भी मन्त्र के द्वारा दो ईंटें रखी जाती हैं।[७९] लोकम्पृणा ऋचा के द्वारा १३ वें ईंटें के रखने का विधान है।[८०] तदनन्तर 'पृष्टो दिवी०' मन्त्र (मै.सं.II.१३.११.१६१.१४) के द्वारा चात्वाल से पुरीष लाकर चिति को आच्छादित करने का निर्देश है। इस प्रकार गार्हपत्यचिति पूर्ण होती है।[८१]

---

७४. वारा.श्रौ. २/१/४/१ दीक्षितस्येष्टकाः कुर्वन्त्यदीक्षितस्य वा।

७५. वही, २/१/४/३ मृन्मयीस्त्र्यालिखिताश्चतुरश्रा दक्षिणावृतः सव्यावृत ऋजुलेखाश्च निर्मन्थ्येन लोहिनीः पचन्त्यन्वाहार्यपचनेन वा।

७६. वही, २/१/४/४/५

७७. वही, २/१/४/६ आहवनीय देशे गार्हपत्यं चिनोति।

७८. वही, २/१/४/७, ८

७९. वही, २/१/४/९, १३

८०. वही, २/१/४/१४ त्रयोदश लोकंपृणाः।

८१. वही, २/१/४/१५-१६ इति चात्वालदेशात्पुरीषमाहृत्य व्यूहति। एवं सर्वाश्चिनोति।

ध्यातव्य है कि प्रथमतः चयनकर्ता यजमान को पञ्चचितीक गार्हपत्य की संरचना करनी चाहिए तथा दूसरी बार चयन करने वाले यजमान के द्वारा त्रिचितीक एवं तीसरी बार करने वाले यजमान के द्वारा एकचितीक गार्हपत्य चयन करना चाहिए।[८२] ज्ञातव्य है कि एकचितीक गार्हपत्य का चयन सर्वत्र उपयुक्त है।[८३] गार्हपत्य चयन के अनन्तर 'समितं संकल्पेथाम्०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.११) के द्वारा उख्याग्नि को उखासे अलग कर गार्हपत्यचिति पर आहित करने का विधान है।[८४] उखा को शिक्य से 'मातेव पुत्रम्०' आदि मन्त्र के द्वारा अलग कर देना चाहिए।[८५] उखा को रिक्तावस्था में कभी भी नहीं देखना चाहिए। उसमें कुछ न कुछ अवश्यमेव रख देना चाहिए।[८६]

नैर्ऋत्य चयन[८६अ]

तदनन्तर अध्वर्यु अपने साथ यजमान एवं अन्य लोगों को लेकर नैर्ऋत्य ईंटों को रखने के लिए पश्चिम से दक्षिण की ओर जाता है।[८७] एतदर्थ जाते समय 'यदस्य पार०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.१२) के द्वारा शिक्य को उठा लेता है तथा भूसे की अग्नि में पकाये गये कृष्णवर्ण वाले तीन ईंटों की स्थापना करता है। स्थापित करते हुए 'असुन्वन्तम्०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.१२) का विनियोग करता है। वह तीनों को क्रमशः एक के बाद एक करके पूर्वाभिमुख रूप में रख देता है।[८८] ध्यातव्य है कि ईंटों की स्थापना देवताओं को उद्दिष्ट करके नहीं करनी चाहिए।[८९] तत्पश्चात् ईंटों के ऊपर ही शिक्य को रखता हुआ 'यं ते देवी०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.१२) का प्रयोग करता है और उस पर

---

८२. वारा.श्रौ. २/१/४/१७ पञ्चचितिकं प्रथमं त्रिचितिकं द्वितीयोकचितिकं तृतीयम्।
८३. वही २/१/४/१७ सर्वत्र वैकचितिकम। तु० स०श्रौ० ११/५/४०
८४. वही, २/१/४/१८ संचिते... इति उख्यंनिवपति।
८५. वही, २/१/४/१९ इति शिक्यादुखां विमुंचते।
८६. वही, २/१/४/२० न रिक्तामवेक्षते।
८६अ. द्र० मधुसूदन-यज्ञसरस्वती, पृ० १९६-९७, आपश्रौ १६/१६, तैसं०.५/२/४ शब्रा २/७/१/१
८७. वाश्रौ २/१/४/२१ प्रत्यग्दक्षिण नैर्ऋतीभिर्यन्ति। तु० मानवश्रौ ६/१/५/१५
८८. वाराहश्रौ २/१/४/२२, २३
८९. वही, २/१/४/२४ न तयादेवतं करोति।

रुक्मसूत्र एवं आसन्दी को रखकर 'यदस्य पारे रजस०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.१२) के द्वारा सब वस्तुओं के ऊपर जल छोड़ता है तथा प्रदक्षिणा करता है।[९०] अब वह 'भूत्यै नमः' इत्यादि का उच्चारण कर लौट आता है और 'शं नो देवीरभिष्टये' आदि मन्त्र से गोशाला के कुछ दूर ही मार्जन कृत्य करता है।[९१] ज्ञातव्य है कि वहाँ से वापस होते हुए पीछे की ओर बिना देखे ही आना चाहिए।[९२] तदनन्तर वापस आकर 'निवेशनः०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.१२) द्वारा गार्हपत्याग्नि का उपस्थान करता है और यजमान के द्वारा 'येन देवा ज्योतिषा०' इत्यादि मन्त्र से आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है।[९३] सोमयाग के प्रायणीय से लेकर उपसद् तक के समस्त कार्यों का संपादन प्रकृतिवत् सम्पन्न किये जाने का निर्देश है।[९४]

अग्नि-क्षेत्र संस्कार

अध्वर्यु पूर्वाह्णकाल से संबद्ध कार्यों यथा उपसद् का निर्माण, यूप का काटा जाना और वेदिकाकरण एवं अग्नि का आधान आदि सम्पन्न करके 'अग्निक्षेत्रसंस्कार' नामक अनुष्ठान सम्पादित करता है।[९५] यह कृत्य पुरुषमान के द्वारा निश्चित किया जाता है। पुरुषमान का निर्धारण किसी पुरुष के ऊपर उठाये गये हाथ के अग्रभाग से लेकर पैर तक की लम्बाई से किया जाता है।[९६] उत्तर वेदि के ऊपर ७ पुरुष के बराबर तथा पूर्व वेदि के लिए तीन पुरुष और वेदि के ऊपर तिरछे चार पुरुष के बराबर अग्नि क्षेत्र का निर्धारण किया जाता है।[९७] अग्नि के

---

९०. वारा.श्रौ. २/१/४/२५, २६ इति शिक्यमधिवपति। रुक्मसूत्रमासन्दीमिति निधाय... इत्यपः परिषिञ्चन्पर्येति।

९१. वही, २/१/४/२७ इति परोगोष्ठं मार्जयन्ते।

९२. वही, २/१/४/२८ अनपेक्षमाणाः प्रत्यायन्ति। तु० स०श्रौ० ११/६/१२-१३, मान०श्रौ ६/१/५/२३

९३. वही, २/१/४/३० इत्याहवनीयं यजमानः समिन्द्धे।

९४. वही, २/१/४/३१ प्रायणीयाप्रभृति समानमोपसद्भ्यः।

९५. वही, २/१/४/३२

९६. वही, २/१/४/३३ पुरुषमात्राणि पक्षपुच्छानि भवन्ति।

९७. वही, २/१/४/३२

विधान में ४ पुरुष की नाप का आत्मा होता है।[९८] एक पुच्छ की लम्बाई प्रादेश अथवा एक बित्ता परिमाण मात्र होती है।[९९]

अग्निक्षेत्र-कर्षण

तत्पश्चात् अध्वर्यु 'प्रजापतिष्ट्वा सादयतु'० इत्यादि मन्त्र के द्वारा अग्नि के मध्यस्थान की भूमि को स्पर्श करता है और 'सजूरब्द०' (मै. सं.II.१२.३:१४६.२) आदि मन्त्र से उत्तरवेदि के मध्य से दर्भस्तम्ब और हिरण्य रखकर अग्नि में एक आहुति देता है।[१००] तदनन्तर १२ अथवा ६ बैलों से जुते हुए हल के द्वारा अग्नि क्षेत्र की जुताई की जाती है।[१०१] एतदर्थ अध्वर्यु दो रस्सियों के द्वारा हल को बाँध कर 'पूषा युनक्ति' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.१२) से बैलों को नाथता है और लाङ्गलं पवीरवं' आदि मन्त्र (मै.सं.II.७.१२) से जोतता है।[१०२]

अध्वर्यु द्वारा हल की जुताई का क्रम इस प्रकार है, प्रथमतः पुच्छ से शिर की ओर तदनन्तर शिर से पुच्छ की ओर और पुनः पुच्छ से शिर की ओर - इस प्रकार वह तीन कूड़ों की जुताई करता है।[१०३] दक्षिण पक्ष से उत्तर पक्ष तक जुताई पूर्वोक्त नियम से करके उत्तर श्रोणि के दक्षिण अंस तक तथा दक्षिण श्रोणि के उत्तर अंस तक कुल १२ कूड़ों का निर्माण किया जाता है और 'विमुच्यध्वमघ्न्या०' इत्यादि मन्त्र के द्वारा बैलों को हल से छोड़ देता है।[१०४] इसी समय हल और बैलों को दक्षिणास्वरूप अध्वर्यु के लिए समर्पित करने का विधान है।[१०५] इसके बाद जुती हुई भूमि में सब प्रकार के अन्नों और मधुयुक्त यव का वपन किये जाने का निर्देश है। ध्यातव्य है कि वपन करते समय 'या

---

९८. वारा.श्रौ. २/१/४/३४ आत्माचतुः पुरुषो भवति।
९९. वही, २/१/४/३६ प्रादेशमात्रं पुच्छे वितस्तिं वा।
१००. वही, २/१/४/३७ इति विहितस्य मध्यं विमृश्य... इति दर्भस्तम्बे हिरण्ये च मध्येऽग्निं जुहोति।
१०१. वही, २/१/४/३८ द्वादशयुक्तेन सीरेणाग्निं कृषति षड्युक्तेन वा।
१०२. वही, २/१/५/१-३ इति युगवरत्राणि संबध्नाति।... इति युनक्ति... इति कृषति।
१०३. वही, २/१/५/४ पुच्छादधि शिरः शिरस्तः पुच्छं पुच्छतः शिरस्तिस्रः सीताः सम्पादयति।
१०४. वही, २/१/५/५-६
१०५. वही, २/१/५/७ विसृज्याध्वर्यवे वैकर्षणान्ददाति।

ओषधय'० (मै.सं.II.७.१३) आदि १४ मन्त्रों को प्रयुक्त करना चाहिए।[१०६] जिस यजमान के लिए उक्त पदार्थों का वपन न किया जा सके; उसके लिए पदार्थ का मानस ध्यान करने का विधान है।[१०७] उन पदार्थों पर इध्म आधान भी करणीय है। ज्ञातव्य है कि सभी कृत्य शिष्ट मन से सम्पन्न करना चाहिए।[१०८]

लोष्ट-चयन एवं उत्तरवेदि-संस्कार

अध्वर्यु चारों दिशाओं से मिट्टी के ४ ढेलों को वेदि के बाहर से लाकर अग्नि-क्षेत्र के मध्य में रखता है। जिस दिशा की जनता के लिए अमङ्गल की कामना करता है, उधर से ही 'ईषमूर्जम०' (मै.सं.II.७.१४) इत्यादि मन्त्र द्वारा ढेलों को ग्रहण करता है।[१०९] ढेलों को लाकर जुती हुई भूमि से अभिमर्शण करता है और वह उत्तर वेदि के मध्य में अग्नि के व्याघारण तक सभी सोम-सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करता है।[११०] पूर्व नियम के अनुसार अपरिमित कङ्कड़ों से उत्तर वेदि में अग्नि का परिश्रयण करता है।[१११]

एतदर्थ परिश्रित को मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित करके 'अग्ने तव श्रवो वय०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.१४) से परिश्रित में कङ्कड़ों का निर्वपन किया जाता है।[११२] ऊषा को रखकर 'सं ते पयांसि०' आदि मन्त्र के द्वारा उसका व्यूहन किया जाता है। अध्वर्यु उत्तर वेदि के भीतर (कूडों में) १२ कुम्भेष्टिकाओं की स्थापना करते हुए कुम्भ और कुम्भी का एक-एक जोड़ा चारों दिशाओं में रखता है। स्वयमातृण्णा ईंटों के स्थान में दोनों दिशाओं की ओर कुम्भ एवं 'समन्या अन्ति०' मन्त्र (मै. सं.II.१३.१) के द्वारा ६ कुम्भ रखने का विधान है।[११३] स्मर्तव्य है कि

---

१०६. वारा.श्रौ. २/१/५/८

१०७. वही, २/१/५/९ यस्य न वपेत्तन्मनसाध्यायेत्।

१०८. वही, २/१/५/१२ शिष्टान्मनसाध्यायेत्।

१०९. वही, २/१/५/१४ यां जनतां क्षुध्यन्तीमिच्छेतां प्रतीषमूर्जमित्युक्त्वाददीत।

११०. वही, २/१/५/१६-१७

१११. वही, २/१/५/१८, १९ अग्निरुत्तरवेदिः। एतेनधर्मेण...अपरिमिताभिः शर्कराभिरग्निं परिश्रयति।

११२. वही, २/१/५/२० इतिपरिश्रितमभिमन्त्र्य इति सिकतानिवपति।

११३. वही, २/१/५/२१-२२

प्रथमत: जलाभिपूरित १२ घड़ों की स्थापना भी करनी चाहिए।[११४] इसी अनुक्रम में दूध में पकाये गये नीवार चरु का आधान 'दिविश्रयस्व०' (मै.सं.II.१३.१) आदि मन्त्र के द्वारा करने का निर्देश है।[११५]

प्रथम-चिति

प्रवर्ग्य एवं उपसद् इष्टियों के अनुष्ठान के अनन्तर शालामुखीय (गार्हपत्य) अग्नि के सम्मुख लाल बैल के चमड़े को बिछा दिया जाता है और उसी पर प्रथम चिति में प्रयुक्त की जाने वाली सभी प्रारम्भिक ईंटों की स्थापना की जाती है।[११६] एतदर्थ अध्वर्यु होता को 'चित्यग्निभ्य०' आदि मन्त्र के उपांशु स्वर में वाचन हेतु प्रैष देता है। तदनन्तर सभी लोग पूर्व दिशा की ओर जाते हुए अश्व को आगे-आगे ले जाते हैं।[११७] अध्वर्यु सामान्य कर्मों के सम्पादन के अनन्तर सर्वप्रथम चिति पर आरोहण करने के लिए उसके उत्तर में दर्भस्तम्ब पर अश्व का दाहिना पैर रखवाता है। प्रदक्षिण क्रम से उसे चतुर्दिक् घुमाकर पुन: दर्भस्तम्ब पर चढ़ाता है। प्रथमत: स्वयमातृण्णा ईंटों पर आरोहित करके पूर्व से पश्चिम की ओर प्रदक्षिण क्रम से ले आता है।[११८] अश्व पद में पुष्करपर्ण की स्थापना कर उसके ऊपर रुक्म आहित करता है।[११९]

ज्ञातव्य है कि रुक्म का पार्श्व भाग पश्चिम की ओर तथा उसके दल ऊपर की ओर करके रखना चाहिए और रुक्म के ऊपर हिरण्यमय पुरुष का आधान किया जाता है। इसे रखते हुए अध्वर्यु 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग करके उत्तान रूप में स्थापित करता है।[१२०] 'द्रप्सश्चस्कन्द' इत्यादि मन्त्र के द्वारा अभिमंन्त्रित कर तीन सर्पनाम मन्त्रों के द्वारा रुक्म की तरह हिरण्यमय पुरुष का व्याघारण करता

---

११४. वारा.श्रौ. २/१/५/२३ प्रथमयाद्भि: पूरयित्वा... उपतिष्ठेत।

११५. वही, २/१/५/२४ इति नैवारं चरुं पयसि शृतमुपदधाति।

११६. वही, २/१/६/५ अग्रेणाहवनीयमानडुहे चर्मणि मुख्याश्चितीनामासाद्य.........।

११७. वही, २/१/६/६-७ इति प्रणयति। अश्वपूर्वायन्ति।

११८. वही, २/१/६/८-१०

११९. वही, २/१/६/११-१२ इति पदे पुष्करपर्णमुपदधात्य... च। अधस्तान्नाभिपुष्कर पर्णे रुक्मं... इति... सादयति।

१२०. वही, २/१/६/१४ इति रुक्मे सौवर्णं पुरुषमुत्तानमुपदधाति।

है।[१२१] वह घी से परिपूर्ण कार्ष्मर्य-स्रुच को इसके दक्षिण एवं दधि के उत्तर में औदुम्बरी स्रुव को रखता है।[१२२] अब अध्वर्यु हिरण्यइष्टिका, कङ्कड़ों, तथा स्वयमातृण्णा आदि अश्व को सुँघा कर 'भूर्भुवः स्वः' इत्यादि मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित करके 'ध्रुवासिधरुण०' (मै.सं.II.७. १५) मन्त्र से अविद्वान् ब्राह्मण के साथ स्वयमातृण्णा को हिरण्यमय पुरुष के ऊपर रखता है।[१२३] स्वयमातृण्ण में हिरण्य पुरुष के शिरोभाग के समान छिद्र बनाया जाता है और उसमें 'चित्तिं जुहोमि०' मन्त्र (मै.सं.II. १०.६:१३९.८) से आहुति देने का विधान है।[१२४] इस समय अध्वर्यु यजमान से मन्त्र पाठ कराता है और यजमान अविद्वान् ब्राह्मण को दान देता है एवं अविद्वान् ब्राह्मण के द्वारा वह दान अध्वर्यु को दे दिये जाने का विधान है।[१२५]

तत्पश्चात् कुलायिनी नामक ईंटों और दूब से भरे मिट्टी के ढेलों को रखा जाता है। दूब से भरे हुए ढेले को स्वयमातृण्णा के इतने सन्निकर्ष में रखना चाहिए कि जिससे ढेले की दूब उसके छिद्र में पहुँच जाय।[१२६] तदनन्तर वामभृत की स्थापना हिरण्य शकल से कुछ दूर करनी चाहिए।[१२७] इसके बाद तीन रेतः सिच ईंटों की स्थापना करने का विधान है, किन्तु तीनों की स्थापना में प्रयुक्त मन्त्र अलग-अलग हैं।[१२८]

अवधेय है कि यदि यजमान नवयुवक हो; तो उसे सभी रेत:सिच ईंटों की स्थापना प्रथम चिति में, प्रौढ हो तो तीसरी चिति में और यदि वृद्ध हो तो पाँचवीं चिति में करनी चाहिए।[१२९] तदनन्तर विश्वज्योति नामक ईंटें रखने का विधान है। अध्वर्यु दो ऋतव्या ईंटों को रखकर उस पर मधु रखता है। इसके बाद धर्मेष्टका तथा आषाढा नामक ईंटों के

---

१२१. वारा.श्रौ. २/१/६/१५ इति अभिमन्त्र्य... इति तिसृभिरनुदिशति व्याधारयति च यथारुक्मम्।

१२२. वही, २/१/६/१६ इति स्रुचं कार्ष्मर्यमयीं घृतस्य पूर्णां दक्षिणतः सादयति... इति दध्न औदुम्बरीमुत्तरतः।

१२३. वही, २/१/६/१७

१२४. वही, २/१/६/१८-२०, ... इति जुहोति।

१२५. वही, २/१/६/२१-२२

१२६. वही, २/१/६/२३-२४

१२७. वही, २/१/६/२५ इति वामभृतं हिरण्यशकलावध्यूह्य।

१२८. वही, २/१/६/२६, २८ इति रेतः सिचम्।... इति द्वितीयाम्। ... इति तृतीयाम्।

१२९. वही, २/१/६/२९, तु० सश्रौ ११/७/३६

रखने का विधान है।[१३०] इसके पश्चात् वह कूर्म, कच्छप और मछली को दधि, मधु एवं धृत में डुबोकर तीन बार जल से अभिमन्त्रित करके पूरब से पश्चिम की ओर स्थापित करता है।[१३१] अग्निक्षेत्र की चारों श्रेणियों पर औदुम्बर उलूखल एवं मुसल को स्थापित किया जाने का विधान है, जिनकी लम्बाई प्रादेशमात्र विहित है।[१३२]

अध्वर्यु धानों की कुटाई करके दक्षिण से पूरब तक स्वयमातृण्णा ईंटों को धान सहित रखता है। तदनन्तर पुरुष शिर की दोनों आँखें, नाक एवं कान के छिद्रों में छोटे-छोटे सड़क के कङ्कड़ों को दधि, मधु तथा धृत से आर्द्र कर रख दिया जाता है।[१३३] दोनों आँखों के छिद्रों में हवन किया जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु उलूखल पर्यन्त पूरब से उत्तर तक स्वयमातृण्णा ईंटों की स्थापना करता है। पुरुष शिर के छिद्रों (नाक, कान, आँख) को शहद मिश्रित दधि से अभिपूरित कर उनमें स्वर्ण खण्डों की स्थापना करता है।[१३४] पुरुष शिर को अभिमन्त्रित कर मन्त्र से उखा को उस के पश्चिम में उत्तान करके स्थापित करता है।[१३५] पुरुष शिर की आँखों के छिद्रों में पुनः दो आहुतियाँ प्रदान कर पुरुष चिति की स्थापना करता है।[१३६]

तत्पश्चात् अश्व एवं गो-शिर को विहित क्रम में आहित किये जाने का विधान है। वेदि के उत्तरी अंस और स्वयमातृण्णा के मध्य संचरण करते हए संवत्सरी ऋचाओं का पाठ किया जाता है।[१३७] अध्वर्यु सर्प-शिर रखकर पशु शीर्षोपधान की स्थापना करता है। तदनन्तर ५० प्राणभृत और ५० अपानभृत एवं ५० संयत नामक ईंटों के रखने का विधान है।[१३८]

---

१३०. वारा०श्रौ २/१/६/३०, ३५
१३१. वही, २/१/६/३६ कूर्मं कच्छपं मत्स्यं दध्ना मधुना घृतेन्............। सादयति।
१३२. वही, २/१/६/३७ औदुम्बर उलूखलमुसलं प्रादेशमात्रम्...।
१३३. वही, २/१/७/१-२
१३४. वही, २/१/७/३-५
१३५. वही, २/१/७/६
१३६. वाराहश्रौ २/१/७/७-८
१३७. वही, २/१/६/११, १४
१३८. वही, २/१/७/१८-२०

तदनन्तर 'अयं पुरोभूः' (मै.सं.II.७.१९:१०३.१५) इत्यादि मन्त्र के द्वारा १०-१० प्राणभृत ईंटों की स्थापना करते हुए कुल ५० ईंटों को रखा जाता है।[१३९] दक्षिणांश और पश्चिम एवं वाम श्रोणि में तथा दक्षिण एवं उत्तर अंस में ईंटों को रखते हुए बीच में ५ ईंटें रखने का विधान है। साथ ही प्राणभृत् ईंटों को रखते समय संयत नामक ईंटों की भी स्थापना विहितव्य है।[१४०] ऋतव्या नामक ईंटों के रखने के बाद पुनः संयानी एवं अन्त में ऋषभ नामक ईंटों को रखा जाता है और शेष रिक्त स्थानों में लोकम्पृणा नामक ईंटों की स्थापना की जाती है।[१४१] चिति में हिरण्य-खण्ड को गिराकर, काले रंग के अश्व का स्पर्श करके 'पृष्टो दिवि' इत्यादि मन्त्र से चात्वाल से पुरीष लाकर चिति को आच्छादित करता है।[१४२] तत्पश्चात् 'अग्ने कह्य०' आदि मन्त्र (मै.सं.II.१३.१२) से स्वयमातृण्णा के स्थान में पाँच अग्नि आहुतियाँ देने का विधान है।[१४३] ज्ञातव्य है कि चिति-अभिमर्शण के बाद व्रतग्रहण से लेकर संछादन तक के समस्त कृत्य प्रत्येक चिति के अन्त में करणीय हैं।[१४४]

द्वितीय चिति

प्रातः कालिक अनुष्ठानों के अनन्तर द्वितीय चिति का प्रारम्भ 'अश्विनी' संज्ञक ईंटों से किया जाता है। एतदर्थ ५ अश्विनी ईंटों को 'ध्रुवाक्षितिः' आदि से आहित किया जाता है। इसके बाद ५ ऋतव्या ईंटें 'सजूर्देवैः' इत्यादि मन्त्र के द्वारा रखी जाती हैं तथा ऋतव्या के पीछे ५ वायव्या और वायव्या के बाद अपस्या का आधान विहित है।[१४५] अपस्या के पश्चात् पूर्व की ओर ४ तथा उत्तर की ओर ५-५ तपस्या ईंटें रखी जाती हैं। शेष कृत्य पूर्व वर्णित विधियों के अनुसार विहितव्य हैं।[१४६]

---

१३९. वारा.श्रौ. २/१/७/१८

१४०. वही, २/१/७/१९, २० तु० मान०श्रौ० ६/१/८/६

१४१. वही, २/१/८/१, ७ तु० मान०श्रौ ६/१/८/१०, ११

१४२. वही, २/१/८/८, १०, तु० मान०श्रौ ६/१/८/१३, १६

१४३. वही, २/१/८/११, १२ अग्नि होमचिति होमान्जुहोति।... इति पञ्चाग्निहोमाः।

१४४. वही, २/१/८/१७, १८ व्रत प्रभृत्यभिमर्शनान्तं सर्वचितिषु।

१४५. वही, २/२/१/१-५, तु० मान०श्रौ ६/२/१/१-६, स०श्रौ० १२/१/२ तैसं० ४/३/४, आप०श्रौ १७/१/२, भा०श्रौ० ६/२/१/३

१४६. वही, २/२/१/६, व्याख्याता: सार्वचितिका:।

तृतीय चिति

द्वितीय चिति के अनन्तर ही तृतीय चिति को प्रारम्भ किया जाता है। एतदर्थ सर्वप्रथम स्वयमातृण्णा नामक ईंटों को 'इन्द्राग्नी अव्यथमानाम०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.८.३) द्वारा अभिमन्त्रित कर 'विश्वकर्मा त्वा' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.७.१६:९९.१०) से स्थापित किया जाता है।[१४७] स्मर्तव्य है कि इस समय यहाँ अविद्वान् ब्राह्मण की उपस्थिति एवं दक्षिणा निषिद्ध है।[१४८] तदनन्तर यजमान को मन्त्र पाठ कराया जाता है और हिरण्येष्टका स्थापित कर 'राज्ञ्यसि प्राची० दिग्०' इत्यादि मन्त्र (मै. सं.II.८.९:११३.५) से दिश्याभिघानी ईंटों का भी आधान किया जाता है।[१४९] इसके बाद रेत:सिच् नामक एक अथवा दो ईंटें रखने का विधान है। अब विश्वज्योति तथा मण्डला नामक इष्टकाओं का आधान किया जाता है।[१५०] १० पूर्वार्ध में और १२ दिश्या इष्टकाएँ उत्तरार्ध में पर्यायानुसार स्थापित करने का विधान है। ७ अङ्गिरा नामक इष्टकाओं को पीछे और ७ आदित्य नामक इष्टकाओं को सामने रखा जाता है।[१५१] शेष कार्य पूर्ववृत सम्पद्यमान हैं।[१५२]

चतुर्थ चिति

पूर्वाह्णिकी प्रवर्ग्य एवं उपसद के अनन्तर चतुर्थ चिति आरम्भ की जाती है।[१५३] सर्वप्रथम 'आशुस्त्रिवृद०' (मै.सं.II.८.४) इत्यादि दो अनुवाकों के द्वारा २८ अक्ष्ण्यास्तोमीया ईंटों की स्थापना की जाती है। तदनन्तर १७ सृष्टि नामक ईंटों को बीच में रखकर व्युष्टि संज्ञक पञ्चदश इष्टकाओं को रखा जाता है। तत्पश्चात् सप्तदश सृष्टि इष्टकाओं की स्थापना कर अध्वर्यु १५ व्युष्टीसंज्ञक ईंटें रखता है।[१५४] शेष कृत्य पूर्वोक्त विधि से सम्पन्न करने का निर्देश है।[१५५]

---

१४७. वारा०श्रौ २/२/१/७-८ तृतीयामुपदधाति।

१४८. वही, २/२/१/९ नात्राविद्वान्नवरदानम्। तु मान०श्रौ ६/२/१/९

१४९. वही, २/२/१/१०-११ इति यजमानं वाचयति।...

१५०. वही, २/२/१/११-१२ रेत:सिचं रेत: सिचौ वा........।.......इति मण्डलां सादयति।

१५१. वही, २/२/१/१३

१५२. वही, २/२/१/१५ व्याख्याता: सार्वचितिका:।

१५३. वही, २/२/१/१६ चतुर्थीमुपदधाति।

१५४. वही, २/२/१/१७

१५५. वही, २/२/१/१८ व्याख्याता सार्वचितिका:।

पञ्चम चिति

तदनन्तर पञ्चम चिति का आधान विहितव्य है।[१५६] विविध दिशाओं में इष्टका रखते हुए विविध मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। पुरीषवती इष्टका को मध्य में रखकर ४० विराट इष्टकाओं को प्रत्येक अप्यय पर १०-१० करके रखता है।[१५७] ३३ स्तोमभाग नामक इष्टकाओं का आधान कर अध्वर्यु प्रत्येक दिशा में ७-७ तथा मध्य में ५ ईंटें रखता है। इसके बाद वह 'राज्ञ्यसि प्राची दिग०' इत्यादि मन्त्र से ५ नाकसद संज्ञक इष्टकाओं का आधान करता है।[१५८]

अब अध्वर्यु नाकसद ईंटों पर पञ्चचूडा संज्ञक इष्टका रखता है। पूर्व में उसे उत्तान करके रखकर ५ वृष्टिसनीय ईंटों की स्थापना करता है।[१५९] ध्यातव्य है कि विविध दिशाओं में स्थापना करते हुए क्रमश: गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, बृहती तथा उष्णिक् आदि छन्दों का भी प्रयोग करना चाहिए।[१६०] इस प्रकार अध्वर्यु छन्दश्चिति संज्ञक इष्टकाओं को प्रत्येक अप्यय पर प्रत्येक बार ३-३ इष्टकाओं को लेकर रखता है।[१६१] तदनन्तर तीन गायत्री मन्त्रों से महाव्रत संज्ञक इष्टकाओं का ऊर्ध्वभाग पर आधान किया जाता है। ज्ञातव्य है कि रथन्तर इष्टका का आधान दाहिने पक्ष एवं अप्यय के मध्य में करना चाहिए। रेत:सिच की स्थापना के बाद अध्वर्यु विश्वज्योति इष्टकाओं को रखता है तथा इसके बाद मण्डला ईंटों को रखकर ऋतव्या ईंटों का आधान पाँच अनुवाक मन्त्रों से करने का निर्देश है।[१६२]

नक्षत्रेष्टका

महाव्रत संज्ञक इष्टकाओं के आधान के पश्चात् नक्षत्रेष्टका का

---

१५६. वारा.श्रौ. २/२/१/१९ पञ्चमीमुपदधाति।
१५७. वही, २/२/१/२०, २१
१५८. वही, २/२/१/२२, २३ इति पञ्च नाकसदो लोकेषु।
१५९. वही, २/२/१/२३-२५
१६०. वही, २/२१/२७-३१
१६१. वही, २/२/१/२९-३० तिस्रः गायत्रीः पुरस्तात्। तिस्रस्तिस्रोऽभित उपदधाति।
१६२. वही, २/२/२/१-१०

आधान विहितव्य है। एतदर्थ प्रथमत: पौर्णमासी संज्ञक इष्टकाओं का आधान करने के अनन्तर नक्षत्रेष्टकाओं की पूर्व से पश्चिम की ओर वह स्थापना करता है।[१६३] इसके बाद अध्वर्यु दो विशाखा संज्ञक इष्टकाओं का आधान कर भरणी संज्ञक ईंटों को अमावास्या के दिन रखता है।[१६४] ऋषभ संज्ञक इष्टकाओं को ऊपर रखकर चिति को लोकम्पृणा से पूर्ण रूपेण ढक दिया जाता है।[१६५] वह स्वयमातृण्णा एवं शर्करा अश्व को सुँघाकर अश्व का अभिमन्त्रण करता है और यजमान से मन्त्रपाठ कराता है। पुरीषकरण तक के कृत्य समान हैं।[१६६] ध्यातव्य है कि प्रथम बार गायत्री चयन घुटनों की ऊँचाई तक, दूसरी बार त्रिष्टुप्चयन नाभि की ऊँचाई तक एवं तीसरी बार जगती चयन हनु की ऊँचाई तक करना चाहिए।[१६७]

इसके बाद अग्निप्रोक्षण कृत्य करणीय है। एतदर्थ अध्वर्यु पहले से सञ्चित सहस्र स्वर्ण खण्ड के द्वारा अग्नि का प्रोक्षण करता है और 'वसवस्त्वा रुद्रैः पश्चात्पान्तु०' आदि मन्त्र के द्वारा पूर्व में पश्चिमाभिमुख खड़ा होकर घृत के द्वारा प्रोक्षण करता है।[१६८]

शतरुद्रिय होम

अग्निप्रोक्षण के अनन्तर 'इमा मे अग्ना इष्टका धेनवःसन्तु०' (मै. सं.II.८.१४:११८.१४) आदि मन्त्र से अध्वर्यु शतरुद्रिय होम करता है। एतदर्थ वह अन्त्य इष्टका पर मदार पर्ण, आजक्षीर एवं गवीधुक् सक्तु से होम करता है।[१६९] ज्ञातव्य है कि अर्कपर्ण का आधान असञ्चरण में करना चाहिए; परन्तु यजमान का यदि कोई द्वेषी व्यक्ति हो; तो उस द्वेषी के पशुसञ्चर पर अर्कपर्ण रखना चाहिए।[१७०] इस समय याचना न करने

---

१६३. वारा.श्रौ. २/२/२/१२, १३ इति पौर्णमासीम्।... इत्यनुषजेत्।
१६४. वही, २/२/२/१४
१६५. वही, २/२/२/१५
१६६. वही, २/२/२/१६-२० पुरीष प्रभृति समानम्।
१६७. वही, २/२/२/२१ जानुदघ्नं प्रथम चिन्वानश्चिन्वीत नाभिदघ्नम्।
१६८. वही, २/२/२/२४ तथा वही, २/२/३/१
१६९. वही, २/२/३/१, ३
१७०. वही, २/२/३/४-८ तु० मान०श्रौ ६/२/४/५-६

वाले ब्राह्मण को ३ धनुष् आयुध के रूप में दक्षिणा स्वरूप प्रदान किया जाता है।[१७१]

अग्नि-परिसिंचन

तदनन्तर अध्वर्यु 'अश्मन्नूर्जम्०' (मै.सं.II.१०.१:१३१.१) इत्यादि मन्त्र से उदककुम्भ के द्वारा अग्नि की ३ बार प्रदक्षिणा कर अग्नि को ३ बार सींचता है और वापस चला जाता है।[१७२]

शस्त्र

अग्निपरिसिञ्चन के बाद उद्गाता आग्नेय पवमान मन्त्रों के अनन्तर शिर; पक्ष एवं दक्षिण पक्ष पर रथन्तर-साम, उत्तर पक्ष पर बृहती-साम, तथा दक्षिण-श्रोणि पर वामदैव्य-साम एवं पुच्छ पर यज्ञायज्ञिय-साम का गान करता है। हृदयस्थल पर प्रजापति देवता हेतु साम गान का भी विधान है।[१७३] अध्वर्यु अब यजमान को 'इष्टो यज्ञो०' आदि स्तुत-दोह के मन्त्र (मै.सं.II.१२.३:१४७.३) का पाठ कराता है।[१७४]

अग्नि विकर्षण[१७५]

एक लम्बे बाँस में मेढक और एक वेतस शाखा में अवका को बाँधकर 'समुद्रस्य त्वावकय' आदि मन्त्र से अग्नि का ७ बार परिकर्षण करते हैं।[१७६]

स्मर्तव्य है कि प्राणयुक्त मेढक को घसीटने के बाद ही उत्कर में फेंकना चाहिए।[१७७] तदनन्तर प्रवर्ग्य एवं उपसद की आहुतियाँ अर्पित कर विश्राम किया जाता है।

अग्नि-आरोहण एवं प्रत्यवरोहण

अध्वर्यु कृष्णाजिन के उपानह को धारण करके 'नमस्ते हस्त०'

---

१७१. वारा०श्रौ २/२/३/१० तिसृ धन्वमयाचितो ब्राह्मणाय ददाति।
१७२. वही, २/२/३/११
१७३. वही, २//३/१५
१७४. वही, २/२/३/१६ यजमानं वाचयति।
१७५. मधुसूदन, यज्ञसरस्वती, पृ० ३२२, तैसंब्रा ५/४४
१७६. वही, २/२/३/१७
१७७. वारा०श्रौ २/२/३/१८-१९ प्राणो माण्डुको विकर्षणं संलुप्योत्करेन्यस्यति।

आदि मन्त्र से अग्नि वेदी पर पैर रखता है[१७८] और पञ्चगृहीत आज्य में पाँच हिरण्य शकलों को रखकर, स्वयमातृण्णा का व्याघारण करने के अनन्तर दधि एवं मधु के मिश्रण के द्वारा अग्नि का प्रोक्षण करता है। तत्पश्चात् ''प्राणदा०'' (मै.सं.II.१०.१) मन्त्र से अग्नि पर अवरोहण करता है। शेष कृत्य पूर्व वर्णनों पर आधारित हैं।[१७९]

वसोर्धारा होम

अग्नि अन्वारोहण के पश्चात् अपरिमित धन की कामना से वसुधारा होम किये जाने का विधान है।[१८०] एतदर्थ अध्वर्यु 'समुद्रादूर्मिः' इत्यादि सूक्त मन्त्र से घृत को अभिमन्त्रित करने के अनन्तर उसे औदुम्बरी स्रुव में ग्रहण कर अविच्छिन्न धारा के रूप में आहुति देता है।[१८१] 'अग्नाविष्णू सजोषसा०' आदि मन्त्र (मै.सं.IV.१०.१:१४२.3) के द्वारा वैश्वानर हेतु अविच्छिन्न धारा के रूप में आज्य गिराने का विधान है।[१८२] इस समय वह यजमान से ५ अनुवाक मन्त्रों का पाठ कराता है और स्रुच को अग्नि में छोड़ देता है। यदि आज्य बचा हुआ हो; तो उस आज्य के द्वारा ४ शरावों में ब्रह्मौदन पकाकर ४ ऋत्विजों को खिला देना चाहिए।[१८३] इस समय उन्हें दक्षिणास्वरूप ४ गायें देने का भी विधान है।[१८४]

वाजप्रसव्य

वसुधारा होम के बाद वाजप्रसवीय होम का विधान किया गया है।[१८५] एतदर्थ अध्वर्यु 'वाजाय स्वाहा०'--इत्यादि मन्त्र (मै.सं.I.११.३) द्वारा १३ आहुतियाँ प्रदान करता है।[१८६] ज्ञातव्य है कि उक्ताहुतियाँ ग्राम्य एवं आरण्यक ओषधियों को घी में सान कर प्रदान की जाती हैं। औदुम्बरी

---

१७८. वारा.श्रौ. २/२/३/२०
१७९. वही, २/२/३/२३, २४, २५, २६ तथा तैसं ४/६/५ तैसं ब्रा ५/४/७
१८०. वही, २/२/४/१ वसोर्धारां जुहोति।
१८१. वही, २/२/४/२
१८२. वही, २/२/४/३
१८३. वही, २/२/४/४, ७
१८४. वही, २/२/४/७ ददाति चतस्रश्च धेनूः।
१८५. वही, २/२/४/८ वाजप्रसव्यं जुहोति।
१८६. वही, २/२/४/८ इति त्रयोदशाहुतीः।

स्रुच् के द्वारा हवन करते हुए अध्वर्यु प्रत्येक आहुति के अनन्तर अध्वर्यु पात्री में अवशिष्ट संपात को अभिषेक के निमित्त रख लेता है।[१८७]

यजमान-अभिषेक

यज्ञस्थल में यजमान के स्थापन पर पहले से बिछी हुई आसन्दी के ऊपर कृष्णाजिन को बिछाकर उस पर यजमान को बैठाकर पूर्वोक्त संपातशेष से अभिषिक्त किया जाता है।[१८८] आसन्दी पर ब्रह्मवर्चस् की कामना से तथा बस्ताजिन के ऊपर पशुकामना से अभिषेक कृत्य विहित है।[१८९] किन्तु कतिपय आचार्यों ने कृष्णाजिन के ऊपर ब्राह्मण यजमान को; व्याघ्र चर्म पर क्षत्रिय यजमान का तथा भेड़ के चर्म पर वैश्य यजमान का अभिषेक करने का विधान किया है तथा साथ ही साथ प्रत्येक जाति के यजमान के अभिषेक में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग भी पृथक्-पृथक् है।[१९०]

राष्ट्रभृत-आहुति

यजमान अभिषेक के अनन्तर द्वादश गृहीत आज्य से 'ऋताषाड०' इत्यादि ६ पर्याय मन्त्रों (मै.सं.II.१२.२) द्वारा १२ राष्ट्रभृत आहुतियाँ प्रदान किये जाने का विधान है।[१९१] एतदर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य यजमान के अभिषेक हेतु अलग-अलग मन्त्रों का विनियोग किया गया है और 'स नो भुवनस्यपते०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.१२.२) से रथमुख पर १० आहुतियाँ दी जाती हैं।[१९२] रथ के शिर का प्रक्षालन कर उसे अग्नि के मध्य रखते हैं तथा शिरोभाग द्वारा आहुतियाँ प्रदान कर उसे अध्वर्यु के आवसथ्य में पहुँचाते हैं और उस रथ को यजमान दक्षिणा के समय अध्वर्यु को दे देता है।[१९३]

---

१८७. वारा.श्रौ. २/२/४/१० हुत्वा हुत्वा संपातानवनयत्यभिषेकाय।
१८८. वही, २/२/४/११
१८९. वही, २/२/४/१२
१९०. वही, २/२/४/१२, तु० सश्रौ १२/७/९/१२ तैसं ब्रा० ५/४/९
१९१. वही, २/२/४/१३
१९२. वही, २/२/४/१५ इति रथमुखे दश।
१९३. वही, २/२/४/१६-१९ एवं तु० सश्रौ १२/६/१८, १९

वातहोम

तदनन्तर 'समुद्रोऽसि नभस्वान्०' इत्यादि मन्त्रों (मै.सं.II.१२.३:१४५.१४) से तीन वात आहुतियाँ दी जाती हैं। आहुतियों को ३ पर्यायों में अञ्जलि के द्वारा प्रदान किये जाने का निर्देश है।[१९४]

धिष्ण्य-चयन

पदचिह्नों से लेकर धिष्ण्य-निवपन तक की समस्त क्रियायें सामान्य है।[१९५] इसके बाद आग्नीध्रीय, होत्रीय, ब्राह्मणाच्छंसी एवं मार्जालीय आदि धिष्ण्य की ईटों से चयन कृत्य सम्पन्न किया जाता है। आग्नीध्र-धिष्ण्य में ८ ईंटों के अतिरिक्त एक अश्म का प्रयोग नवीं ईंट के रूप में किया जाता है। २१ ईंटों का प्रयोग होत्रीय एवं ११ ईंटों का[१९६] प्रयोग ब्राह्मणाच्छंसी धिष्ण्य में करने के बाद ६ ईंटे मार्जालीय धिष्ण्य में प्रयुक्त की जाती हैं। अन्य समस्त धिष्ण्यों में ८-८ ईंटों का प्रयोग विहित है।[१९७] धिष्ण्य चयन के अनन्तर अग्नीषोमीय पशुपुरोडाश का निर्वाप कर 'अग्नये गृहपतये०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.६.१३:७२-७८) से आठ देवसू हवियों का निर्वपन किया जाता है तथा पशुपुरोडाश के बाद सर्वपृष्ठ इष्टि की दश हवियाँ प्रदान किये जाने का भी विधान है।[१९८]

अग्नि-योजन

प्रातःसवन में दूसरे दिन परिधियों का आधान करने के बाद अध्वर्यु 'अग्निं युनज्मि.' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.१२.३) से अग्नि का योजन करता है और दक्षिण पक्ष को स्पर्श करके उत्तर पक्ष एवं आत्मा का स्पर्श करता है।[१९९] पशुयाग के समय एक यूप में अथवा ११ यूपों में अलग-अलग ग्यारह पशुओं का उपाकरण विहितव्य है। ज्ञातव्य है कि

---

१९४. वारा.श्रौ. २/२/४/२०
१९५. वही, २/२/४/२१
१९६. वही, २/२/४/२३
१९७. वाराहश्रौ २/२/४/२३
१९८. वही, २/२/४/२३
१९९. वही, २/२/४/१, तु० आप श्रौ १७/२/३/१,
सश्रौ० १२/७/२, तैसं ब्रा ५/४/१०, तैसं ४/७/१३

यह कृत्य एकाह की स्थिति में ही करणीय है।[२००] दक्षिणा के समय मधुपूर्ण हिरण्य पात्र (स्थाली) को 'तच्चित्रं देवानाम्०' आदि मन्त्र से यजमान देखकर एवं अश्व को सुँघाकर उसे दानस्वरूप ब्राह्मण को दे देता है।[२०१] यज्ञायज्ञिक होम के पूर्व ही अध्वर्यु 'दिवो मूर्धासि' इत्यादि अप्सुमती ऋचाओं (मै.सं.II.१२.३:१४६.१५) से अग्नि का संमर्शण करता है तथा यजमान परिधि विमोचन के समय मन्त्रपाठ करता है। अब ५ मन्त्रों से अन्वारोह की पाँच आज्याहुतियाँ दी जाती हैं। आठवीं आहुति के समय मन्त्रोच्चारण के अन्त में अध्वर्यु अन्वाराहेण करता है। इसके पूर्व एवं वेदिनिर्माण से पहले ही 'तत्वायामि०' इत्यादि वारुण मन्त्र (मै. सं.III.४.८) से दो आहुतियाँ देने का विधान है। उदवसानीया इष्टि सम्पन्न करने के बाद यजमान मन्त्र के द्वारा अग्नि का उपस्थान करता है।[२०२]

यजमान के व्रत

अवधेय है कि अग्निचयन की समस्त चित्तियों के अनन्तर यजमान को कतिपय व्रत का पालन करना पड़ता है। साथ ही साथ प्रत्येक चिति के व्रतों में भी विभिन्नता है। प्रथम चिति के अनन्तर यजमान को रामा स्त्री के पास नहीं जाना चाहिए। द्वितीय चिति के बाद अन्य किसी भी पत्नी के समीप नहीं जाना चाहिए और तृतीय चिति के अनन्तर किसी भी स्त्री के पास नहीं जाना चाहिए। यदि कदाचित् यजमान गमन भी करता है; तो उसे प्रायश्चित्त स्वरूप मैत्रावरुण हेतु आमिक्षा से यजन करने का विधान है।[२०३] इसके अतिरिक्त भी अग्निचयन के बाद मैत्रावरुण के निमित्त आमिक्षा अथवा सौत्रामणी का अनुष्ठान करना चाहिए।[२०४] अग्निचयन के अनन्तर उसे किसी भी व्यक्ति का उठकर अभिवादन एक वर्षपर्यन्त नहीं करना चाहिए। साथ ही साथ

२००. बारा.श्रौ. २/२/५/२ एकयूप ऐकादशिनानुपाकरोति यद्येकाहो भवति।
२०१. वही, २/२/५/३-४
२०२. वही, २/२/५/५-८, तु० मान०श्रौ ६/२/६/११-२४
२०३. वही, २/२/५/९, १० अग्निं चित्वा न रामामुपेयाद् द्वितीयं चित्वा नान्यस्य भार्यां तृतीयं चित्वा न कांचन। आमिक्षया यजेत।
२०४. वही, २/२/५/११

यजमान को एक वर्ष अथवा जीवनपर्यन्त वर्षा में दौड़धूप नहीं करना चाहिए और किसी भी यात्रा से लौटने के बाद 'उप त्वाग्ने दिवे दिवे०' इत्यादि तीन ऋचाओं से दूसरों की अग्नियों को देखकर उसे उपस्थान करना चाहिए।[२०५] 'येऽग्नय: पुरीषिण आविष्टा:.......।.........जीवातपे स्रुव' इत्यादि मन्त्र से वह अपनी अग्नि की स्तुति करता है।[२०६]

पुनश्चिति

आहुतियों की समृद्धता की कामना और सन्तानप्राप्ति हेतु पुनश्चिति का विधान किया जाता है।[२०७] एतदर्थ अध्वर्यु सोमयाग के स्थान में पूर्वकालीन आहवनीय स्थल पर आहवनीय का आधान करता है।[२०८] इसके लिए मन्त्र के द्वारा आठ ईंटों का उपधान करके दूसरे दिन प्रवर्ग्य एवं उपसद इष्टियों को सम्पन्न करता है। पुन: आठ ईंटों को रखकर आठ लोकंपृणा ईंटों को रखने का विधान है। तदनन्तर 'पृष्टो दिवि' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.१३.११:१६१.१४) द्वारा चात्वाल से पुरीष ग्रहण करके उसे रखने का निर्देश है।[२०९] शेष कार्य सामान्य है।[२१०] पुनश्चिति में ३ चितियाँ होती हैं; जिनमें से प्रथम चिति में ८ ईंटों का आधान भिन्न-भिन्न मन्त्रों से किया जाता है तथा लोकंपृणा से रिक्त स्थानों की पूर्ति एवं पुरीष से चिति का आच्छादन किया जाता है।[२११]

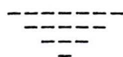
ज्ञातव्य है कि दूसरी चिति में एकादश तथा तृतीय चिति में द्वादश ईंटों का प्रयोग किया जाता है। अग्निचयन यज्ञसम्पन्न किये हुए समृद्धिकामी यजमान को सोमयाग में विविध याजुष मन्त्रों से ८ ईंटें तथा १३ लोकंपृणा ईंटों के द्वारा चिति को पूर्ण करना चाहिए।[२१२] सन्तान की कामना से तीसरी बार चयन करता हुआ व्यक्ति तीसरी-चिति में ८ ईंटे

---

२०५. वारा.श्रौ. २/२/५/१२-१४
२०६. वही, २/२/६/१४
२०७. द्र० तैब्रा० ५/४/१०/३-५
२०८. आपश्रौ० १७/२४/११, काश्रौ० १८/७/३३ स०श्रौ० १२/७/२२
२०९. वारा.श्रौ. २/२/५/१५-१८
२१०. वही, २/२/५/१९ समानमन्यत्।
२११. द्र० मान०श्रौ० ६/२/६/२८, २९
२१२. वारा०श्रौ० २/२/५/२२

तथा असंख्य लोकंपृणाएँ एवं पुरीष का आधान करता है।[२१३]

यदि दीक्षित व्यक्ति अस्वस्थ हो जाय; तो अध्वर्यु को प्रायश्चित्त स्वरूप जलयुक्त कांस्य-चमस में २१ यवों का निर्वाप करने का विधान है तथा २१ दर्भगुच्छ का आधान करके दीक्षित का नाम लेते हुए उसे मन्त्र द्वारा स्पर्श करने के अनन्तर दीक्षित व्यक्ति को सम्बोधित करना चाहिए। अन्त में आनीध्रीयधिष्ण्य पर पूर्णाहुति होम करने का विधान है।[२१४] यदि यजमान सत्रयाग के लिए दीक्षित हो; किन्तु दैवात् उसकी मृत्यु हो गयी हो; तो अध्वर्यु को सोमयाग का विभाजन करके विश्वजित् का अनुष्ठान करना चाहिए।[२१५] अग्निचयन से सम्बन्धित शेष कृत्य स्वशाखीय ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित विधि से सम्पन्न किये जाने का निर्देश है।[२१६]



२१३. द्र० तै सं० ४/७/१३

२१४. द्र० मान०श्रौ० ६/३/८/३

२१५. वही, २/२/५/२७

२१६. वही, २/२/५/२७, ब्राह्मण व्याख्याता, ब्राह्मण व्याख्याता।

अध्याय - 4

वाराहश्रौतसूत्र में वर्णित वाजपेयादि यज्ञ

1. वाजपेय[1]

सप्त सोमयज्ञों में वाजपेय एक महत्त्वपूर्ण यज्ञ है। इसके संपादन हेतु ब्राह्मण एवं क्षत्रिय यजमान ही अधिकृत हैं[2] तथा अनुष्ठान काल के रूप में शरद् ऋतु विहित है। विभिन्न श्रौताचार्यों ने आधिपत्य कामना, स्वराज्य कामना एवं समृद्धि कामना की पूर्ति हेतु भी वाजपेय यज्ञ सम्पादित करने का विधान किया है।[3] इसमें षोडशी की विधि विहित है।[4] इस याग की १७ दीक्षायें एवं तीन उपसद् दिवस होते हैं।[5] इस यज्ञ में १७ संख्या की प्रधानता होती है।[6] प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज् हविर्धान के उत्तरदक्षिणी धुरे के पश्चिम पार्श्व में एक खर का निर्माण करता है। इस याग हेतु खदिर वृक्ष से निर्मित सत्रह अरत्नि लम्बे यूप का प्रयोग विहितव्य है। इस यूप की ऊँचाई के बराबर गोधूमपिष्ट का

---

१. द्र० तैब्रा० १/३४२, तथा शां.श्रौ. १५/१/४-६, आपश्रौ, प्रश्न सं १८ सम्पूर्ण, बौ. श्रौ. प्रश्न ११ सम्पूर्ण, काश्रौ अध्याय १४, सम्पूर्ण, आश्व. श्रौ ९/९, एगलिंग से बुई ४१, पृ० २३ तथा पूना ओरिएण्टलिस्ट १९, पृ० ४०-४६। पी०वी० काणे, हि ध शा, २/२/१२०६ के अनुसार वाजपेय का शाब्दिक अर्थ है भोजन एवं पेय अर्थात् शक्ति का पान या भोजन अथवा वेग का पान।

२. वारा०श्रौ ३/१/१/१

३. द्र० औपश्रौ ९/९/१, आपश्रौ १८/१/१, मान०श्रौ ७/१/१/१

४. वारा०श्रौ ३/१/१/२ षोडशी राजक्रयणी।

५. द्र० सारस्वतीसुषमा, वर्ष २६ अंक २, पृ० १३१-३८ वाजपेययागविवेचनम्, डा० मनोहरलाल द्विवेदी का शोधलेख।

६. वाराहश्रौ ३/१/१/३ सप्तदश दीक्षास्तिस्र: उपसद:।

चषाल निर्मित किया जाने का विधान है।[७] अध्वर्यु यूप के चतुर्दिक् रस्सियों के स्थान पर सत्रह वस्त्रों को लपेटता है। दूसरे दिन वाजपेय याग का विधान किया जाता है और सवन के आरम्भ में ही अध्वर्यु द्वारा हवन किये जाने का विधान है।[८] ज्ञातव्य है कि सभी ऋत्विज् गले में सोने की सिकड़ियाँ धारण करके इस यज्ञ का संपादन करते हैं।[९]

ग्रहों एवं पात्रों का आधान

अध्वर्यु आग्रयणस्थाली को रखकर पाँच अन्य ऐन्द्र ग्रहपात्रों को स्थापित करता है तथा १७ ग्रह पात्र प्रजापति देवतार्थ ग्रहण कर उन्हें आयतन स्थान पर रखता है। ज्ञातव्य है कि प्रजापति ग्रहपात्र वायव्य पात्र से संबद्ध होते हैं।[१०] प्रतिप्रस्थाता दूसरे खर में सप्तदश मिट्टी के उपयाम, द्रोण कलश, आदि पात्रों को रखकर सुरा को पवित्र बनाता है।[११] प्रजापति ग्रहपात्रों के बाद आग्रायणस्थाली को ग्रहण कर पाँच ऐन्द्र, प्राजापत्य एवं सुराग्रह आदि अतिरिक्त ग्रहों को इन्द्र देवतार्थ ग्रहण करता है। तत्पश्चात् अध्वर्यु प्रदक्षिण क्रम से प्रजापति के लिए १७ सुराग्रहों को स्थापित करता है।[१२] ध्यातव्य है कि अध्वर्यु सोमग्रहों को सर्वप्रथम ग्रहण करता है और अक्ष के पूरब में सोमग्रहों की स्थापना करता है। प्रतिप्रस्थाता अक्ष के पीछे (पश्चिम) में सुरा-उपयामों की स्थापना करता है।[१३] प्रसङ्गतः स्मर्तव्य है कि प्रतिप्रस्थाता द्रोणकलश पर बालों को फैलाकर सुराग्रहों को पूर्ण रूपेण पवित्र करता है।[१४]

पशु-उपाकरण

तदनन्तर व्यत्यास विधि से यज्ञीय पशुओं का उपाकरण किया

---

७. वारा.श्रौ. ३/१/१/४, ७-८

८. वही, ३/१/१/१०-११ श्वोभूते वाजपेयसंस्था।... इति सवनमुखेषु जुहोति।

९. वही, ३/१/१/१२ हिरण्यस्रजऋत्विजः सोमैः प्रचरन्ति।

१०. वही, ३/१/१/१३, १४

११. वही, ३/१/१/१५

१२. वही, ३/१/१/१६

१३. वही, ३/१/१/१७-१८ पूर्वो अध्वर्युर्गृह्णाति। पुरोऽक्षमध्वर्युः सोमग्रहान्सादयति... सुरोपयामान्।

१४. वही, ३/१/१/१५ अतिपाव्यमाने द्रोणे वालं वितत्यसुरामतिपावयन्ति।

जाता है। एतदर्थ अध्वर्यु अग्निदेवतार्थ अज, ऐन्द्राग्न के लिए अज, ऐन्द्र वृष्णि, सरस्वती के लिए मेषी, सारस्वतों के लिए मेष, मरुतों के लिए पृश्नि तथा प्रजापति के लिए १७ श्यामवर्णी तूपरों को यूप के समीप ले आता है। ज्ञातव्य है कि प्रजापति देवतार्थ अजा काली, शृंगविहीन, एवं मात्र एक रंगवाली होनी चाहिए। साथ ही यह भी कि सारस्वती मेषी का दाँत गिरा न हो।[१५] इन पशुओं की वपा का प्रदक्षिणक्रम से हवन करने का विधान है। एतदर्थ आग्नेय प्रभृति चार वपा का इवन करके इसी विधि से अन्य वपा की आहुति देने का विधान है।[१६]

वार्हस्पत्य नैवार चरु

तदनन्तर बृहस्पति देवता के निमित्त १७ शरावों में क्रमशः नीवार एवं चरु का निर्वपन किया जाता है। निर्वपन के पूर्व ही माध्यन्दिन सवनीय हवियों का भी निर्वाप किया जाना चाहिए।[१७] दूध के साथ पकाये गये नीवार चरु का उदुम्बर वृक्षीय स्रुचों के द्वारा तीन बार समन्त्रक एवं चौथी बार निर्मन्त्रक अवदानों का ग्रहण कर उसे स्विष्टकृत एवं इडा के लिए चात्वाल में रखा जाता है।[१८] ज्ञातव्य है कि कतिपय आचार्यों ने इसी समय पूर्वकाल से ही ऋत्विजों द्वारा पहनी गयी सिकड़ियों को उन्हें यजमान द्वारा दक्षिणा के रूप में दे देने का विधान किया है।[१९]

रथ-योजन

अध्वर्यु प्राग्वंश के दक्षिण से १७ रथों को आहवनीय अग्नि के पूर्व में लाकर उत्तर या पूर्व की ओर उसका जुआ करके स्थापित करता है।[२०] तदनन्तर अश्वों को नहला करके जुए में नाँधता है। नाँधते हुए

---

१५. वारा०श्रौ ३/१/१/१९-२० व्यत्यासं गृह्णीतः। पशूनपाकरोति आग्नेयमजमेन्द्राग्नमजम्. .. मेषीमपन्नदतीम्।

१६. वही, ३/१/१/२१

१७. वही, ३/१/१/२२

१८. वही, ३/१/१/२३ औदुम्बर्या स्रुचा त्रिर्यजुषा तूष्णीं चतुर्थ पयसि शृतं पात्र्यामुद्धृत्य चात्वालेऽवदधाति।

१९. द्र० मान०श्रौ ७/१/२/१७

२०. वारा०श्रौ ३/१/१/२४

अश्वों के मस्तकों का परिमार्जन करता है।[२१] स्मर्तव्य है कि प्रथमतः १६ रथों में अश्वों को निर्मन्त्रक (चुपचाप) नाँध कर यजमान हेतु १७ वाँ रथयोजन समन्त्रक किया जाता है।[२२]

दक्षिणा

रथयोजन के पश्चात् यजमान रथयोजन की दक्षिणा के रूप में सत्रह हाथी, सत्रह दासियाँ, सत्रह निष्ककण्ठी, सत्रह सौ गायों तथा सत्रह रथों का दान करता है।[२३]

ब्रह्मा द्वारा रथचक्र आरोहण एवं रथधावन

अध्वर्यु योजित रथों को तीर्थस्थल में ले जाकर स्थापित करता है। तदनन्तर पुनः वहाँ से चात्वाल में रथ स्थापित कर वेदि से लगे हुए १७ ढोलकों की स्थापना करते हैं तथा रथ के धुरे को चात्वाल के मध्य में स्थापितकर रथ के अक्ष पर प्रहार करते हैं।[२४] तदुपर्यन्त उदुम्बरवृक्षीय रथचक्र को सत्रह अरों से तेजकर सत्रह ऊषपुटों को (जो कि अश्वत्थ पत्तों में आबद्ध हैं) चार बाँसों में बाँधते हैं। एतदर्थ प्रथमतः तीन बाँसों में चार-चार एवं अन्तिम में पाँच के क्रम से बाँध देते हैं।[२५] इसी समय चात्वाल एवं उत्कर के बीच में (उत्तरपूर्व की ओर) सत्रह बार तीर फेंका जाता है तथा १७ वें तीर के गिरने के स्थान पर उदुम्बरीय स्तम्भ गाड़ दिया जाता है।[२६] ज्ञातव्य है कि तीर फेंकने के कृत्य हेतु क्षत्रिय यजमान ही अधिकृत है।[२७] तत्पश्चात् स्तम्भ स्थल से ही रथ-थावन कृत्य प्रारम्भ किया जाता है। ब्रह्मा रथ की धुरी में १७ अरों वाला एक पहिया लगाकर उस पर चढ़ता है और पहिए के चलने पर ब्रह्मा वाजिसाम का पाठ करता है। अब यजमान मन्त्रोच्चारण किये जाते हुए

---

२१. वारा.श्रौ. ३/१/१/२५-२६, २७ इति अश्वान्स्रपयन्ति। इति युनक्ति। इति रराटानि प्रतिमार्ष्टि।

२२. वही, ३/१/१/२८ षष्टिवाहिनं रथं युंजन्ति तूष्णीं षोडशेतरान्

२३. वही, ३/१/१/२९

२४. वही, ३/१/१/३०-३३

२५. वही, ३/१/१/३४ सप्तदशोषपुटानश्वत्थपर्णेषू पनद्धांश्चतुरः चतुरः पञ्चैकस्मिन्।

२६. वही, ३/१/१/३५ उत्तरतः पुरस्तात् सप्तदशस्विषुक्षेपेष्वौदुम्बरीं काष्ठां निघ्नन्ति।

२७. द्र० आपश्रौ १८/३/१२, तथा काश्रौ १४/३/१/११, १६-१७।

रथ पर बैठता है। इस समय यजमान से मन्त्रोच्चारण कराने के लिए उसका सहायक व्यक्ति भी रथ में बैठ जाता है।[२८] इसी समय सभी अश्वों को नेवार चरु सुँघाया जाता है।[२९] ज्ञातव्य है कि सबसे आगे के रथ पर ही यजमान चढ़ता है। राजा का निकटतम पुत्र भी रथ की दौड़ में भाग लेता है[३०] और अध्वर्यु रथ चक्र का अभिमन्त्रण कर यजमान को एक कोड़ा प्रदान करता है। यजमान घोड़ों को दौड़ने के लिए कोड़े से पीटता है और शेष १६ रथों पर अन्य जन चढ़ते हैं। उक्त सभी जनों के साथ रथधावनकृत्य किया जाता है।[३१] तत्पश्चात् अध्वर्यु यजमान से विजय मन्त्र कहलाता है तथा सभी रथों के लक्ष्य पर पहुँचने पर यजमान का रथ उत्तर से दक्षिण की ओर घूमकर दक्षिणाभिमुख होकर खड़ा हो जाता है। यजमान के रथ के खड़े होने के स्थान पर उदुम्बर काष्ठनिर्मित स्तम्भ गाड़कर उसकी प्रदक्षिणा करके सभी रथ यज्ञस्थल में पुनः वापस आ जाते हैं।[३२] तदनन्तर अध्वर्यु अग्नि में आहुति प्रदान करता है।[३३]

रथ-विमोचनीय होम

इस समय प्रत्येक व्यक्ति को (जो रथधावकों में रहे हैं) एक एक कृष्णल के तोल के बराबर स्वर्ण खण्ड दिया जताा है और वे सब पुनः उसे यजमान को वापस कर देते हैं। वह वापस कियें जाते हुए स्वर्ण को ग्रहण करके रख लेता है।[३४] तदनन्तर ब्रह्मा को स्वर्णपात्र में रखा हुआ मधुपात्र के सहित शतमान स्वर्ण प्रदान किया जाता है।[३५] इसी समय दुन्दिभियों को भी बजाया जाता है[३६] तथा रथों से अश्वों को अलग करते समय रथविमोचनीय संज्ञक आहुतियाँ प्रदान किये जाने का[३७] विधान है।

---

२८. वारा.श्रौ. ३/१/१/३६ से क्रमशः ४१ तक।
२९. वही, ३/१/१/४२ युग्मो नैवारमवघ्रापयति।
३०. वही, ३/१/१/४४, ४५ राजभव्यः पुत्रः प्रतिहित आजिं धावति।
३१. वही, ३/१/२/१-४ तैः सहाजिं धावति।
३२. वही, ३/१/२/५-७
३३. वही, ३/१/२/८ इत्येतया तेषु जुहोति।
३४. वही, ३/१/२/९ प्रति रथं कृष्णलान्याहरन्ति
३५. वही, ३/१/२/१० हिरण्यस्थालँ शतमानस्य मधुनःपूर्णं ब्रह्मणे।
३६. वही, ३/१/२/११ इति दुन्दिभीनाघ्नन्ति।
३७. वही, ३/१/२/१२ इति रथविमोचनीयं जुहोति।

लौटे हुए दो रथयोजित घोड़ों को नीवार चरु सुँघाता है जिसकी प्रक्रिया पूर्ववत् है।[३८]

यूपारोहण

इसके बाद यजमान की पत्नी दर्भनिर्मित वस्त्रों को पहनती है तथा यजमान तार्प्य अथवा क्षौम वस्त्रों को (जो कि घृताक्त हों) धारण करता है।[३९] वस्त्रधारण के अनन्तर यजमान यूपारोहण हेतु उद्यत होने पर पत्नी से प्रत्याश्रावण करता है।[४०] मन्त्रोच्चारण पूर्वक यजमान यूप पर आरूढ होता है। तदनन्तर अध्वर्यु प्रदक्षिण क्रम से परिक्रमा कर यजमान को ऊषपुट समर्पित करता है तथा अध्वर्यु अग्नि में अन्नों की सात आहुतियाँ देता है। तत्पश्चात् यजमान मन्त्रोच्चारण के अन्त तक यूप से नीचे उतर आता है। यजमान के रथ से अवरोहण किये जाते समय मन्त्रोच्चारण किया जाता है।[४१]

यजमान का अभिषेक

यूपारोहण के अनन्तर आसन्दी में कृष्णाजिन बिछाकर अध्वर्यु वस्ताजिन फैलाता है तथा उस पर रुक्म की स्थापना करके यजमान द्वारा उस पर पैर रखवाता है। रुक्म पर पैर स्थापित कराने के अनन्तर वह बस्ताजिन पर भी पैर रखवाता है।[४२] ध्यातव्य है कि यजमान के पदाक्षेपण के समय अध्वर्यु मन्त्रों से अभिमन्त्रण करता है।[४३] पादारोहण के क्रमानुसार उसको जल द्वारा अभिषिक्त करता जाता है।[४४] अब अध्वर्यु यजमान को श्वेत छत्र प्रदान करता है। यजमान उसे ग्रहण करता है।[४५]

---

३८. वारा०श्रौ ३/१/२/१३ तेन धर्मेण युग्यौ नैवारमवघ्रापयति।
३९. वही, ३/१/२/१४ दर्भमय: वास:पत्नी परिधते तार्प्यं यजमान: क्षौमं यूषे सर्पिषि वा पर्यस्तम्।
४०. वही, ३/१/२/१५
४१. वही, ३/१/२/१६-२२
४२. वही, ३/१/२/२३
४३. वही, ३/१/२/२४ इत्यारोहन्तमनुमन्त्रयते।
४४. वही, ३/१/२/२५ तेन धर्मेण परिषिञ्चति।
४५. वही, ३/१/२/२६ अत्रैवास्य श्वेतं छत्रं धारयन्ति।

अतिग्राह्य होम

शस्त्र की समाप्ति के बाद अध्वर्यु प्रथमत: अतिरिक्त माहेन्द्र ग्रह को ग्रहण करता है[४६] और उसका अनुमन्त्रण कर उसी से अग्नि में आहुति प्रदान करता है। अतिग्रह से ही माहेन्द्र ग्रह की तरह भक्षण भी करता है। अतिग्राह्य होम के अनन्तर उपाकृत पशुओं की वपा को मन्त्रों के साथ देवताओं के लिए संस्कृत किया जाने का विधान है।[४७] उनका अभिघारण करने के बाद क्रमशः प्रजापति, सरस्वती, सारस्वतों एवं इन्द्र तथा ऐन्द्राग्न और मरुतों आदि के लिए तत्तत् पशुओं की वपा का उपाकरण कर अग्नि में हवन क़रने का विधान है।[४८] साथ ही साथ नीवार चरु की आहुति के अनन्तर पशुपुरोडाशों की आहुति देने का भी निर्देश है। इसके अनन्तर स्विष्टकृत् इडा के रूप में नीवार चरु एवं पशुपुरोडाशों का विधान किया जाता है।[४९]

सोम-सुरा होम

अतिग्राह्य होम के अनन्तर उन्नेता नामक ऋत्विज् षोड्शी चमसों के उद्वासित हो जाने के उपर्यन्त होतृचमसों को वाजपेय के लिए मुख्य रूप से भरता है।[४९क] अध्वर्यु सोमग्रह को पूर्व की ओर ले जाता है और प्रतिप्रस्थता सुराग्रह को ग्रहण कर उसे पश्चिम की ओर ले जाता है।[५०] तत्पश्चात् उन्हें हविर्धान के पश्चिम में स्थापित करते हैं तथा ग्रहों एवं चमसों से अग्नि में हवन करते हैं।[५१] जब वे चमसों से इडा का भक्षण करते हैं।[५२] तब अध्वर्यु सुरा उपयाम को समीप लाकर ग्रहों को उसके ऊपर स्थापित करता है।[५३] सारस्वत होमपर्यन्त अध्वर्यु आहुतियाँ प्रदान

---

४६. वारा.श्रौ. ३/१/२/२७
४७. वही, ३/१/२/२८
४८. वही, ३/१/२/३०
४९. वही, ३/१/२/३१
४९क. वही, ३/१/२/३४ षोडशिचमसैः प्रचर्यहोतृचमसमुख्यान्वाजपेय चमनानुन्नयति।
५०. वही, ३/१/२/३६
५१. वही, ३/१/२/३७-३८ पश्चाद्धविर्धानस्य निदधाति। ग्रहचमसैः प्रचरन्ति।
५२. वही, ३/१/२/४० भक्षयन्ति चमसान्।
५३. वही, ३/१/२/४२-४३ सहस्विष्टकृदिडं पूर्वेषां च।

करता है। स्विष्टकृत इडा के रूप में आहुति हेतु पूर्ववत् निर्देश किया गया है।[५४] हवन के अनन्तर इडा अवदानों एवं अवशिष्ट पशु अङ्गों को ऋत्विजों द्वारा ले जाने का विधान किया गया है। विशेष ध्यातव्य है कि वाजपेय यज्ञ के कर्ता यजमान को किसी भी व्यक्ति के पीछे-पीछे नहीं चलना चाहिए तथा किसी के अभिवादन हेतु उसे उठकर खड़ा नहीं होना चाहिए।[५५] यदि किसी ने अनुगमन अथवा उठकर (खड़े होकर) अभिवादन कार्य किया हो; तो उसे प्रायश्चित्त के रूप में 'बृहस्पतिसवन'[५५अ] का अनुष्ठान करना चाहिए;[५६] क्योंकि बृहस्पतिसव करने से क्षत्रियत्व की प्राप्ति होती है।[५७] आश्वलायन का मत है कि 'बृहस्पति सव' ब्राह्मण यजमान हेतु ही विहितव्य है।[५८]

ज्ञातव्य है कि वाजपेय यज्ञ करने के सम्राट् की पदवी प्राप्त होती है।[५९]

2. द्वादशाह

श्रौतसूत्रों के अन्तर्गत वर्णित द्वादशाह के दो रूप प्राप्त होते हैं, प्रथम अहीन द्वादशाह तथा द्वितीय सत्र द्वादशाह। बारह दिनों तक चलने वाला यह सत्र एवं अहीन उभयनिष्ठ होता है। सत्रात्मक द्वादशाह का अनुष्ठान ब्राह्मण ही कर सकता है।[६०] इसमें आहिताग्नि एवं अनुष्ठिताग्निष्टोम संस्था तक के सत्रह से चौबीस व्यक्ति तक अधिकारी हो सकते हैं तथा वे सब यजमान ही होते हैं। इस स्थिति में सप्तदश पक्ष में एक ही गृहपति हो सकता है और अन्य १६ यजमान ऋत्विजों का कार्य करते

---

५४. वारा.श्रौ. ३/१/२/४४ उपहतायाँ.......यान्यवदानीयानि....... तान्यृत्विग्भ्यो हरन्ति।

५५. वही, ३/१/२/४५ न वाजपेययाजी कंचन प्रत्यवरोहेन्न प्रत्युतिष्ठेत्।

५५अ. द्र० तै.ब्रा. २/७/१
यह एक प्रकार का एकाह सोमयज्ञ है; जिसका सम्पादन आधिपत्य-कामी व्यक्ति ही करता है।

५६. वारा.श्रौ. ३/१/२/४६, तु० आश्व०श्रौ ९/९/१९ (१/१/११)

५७. वही, ३/१/२/४६ इन्द्रसवनेन राजन्यः।

५८. द्र० आश्व.श्रौ ९/९/१९

५९. वारा०श्रौ ३/१/२/४७ सम्राट् इत्येनमाचक्षीरन्।

६०. वही, ३/२/१/१-२

हैं। गृहपति यजमान का कार्य सम्पन्न करता है।[६१]

अहीनात्मक द्वादशाह में एक, दो या अनेक यजमान हो सकते हैं तथा इसमें अध्वर्यु आदि ऋत्विज् ही अग्निष्टोम की भाँति कार्य सम्पादन करते हैं। इसमें दक्षिणा का भी विधान है। साथ ही सभी यजमानों को भी इस याग के समस्त फलों की प्राप्ति होती है। इस याग हेतु दुर्बल व्यक्ति अनुष्ठान करने का उपयुक्त अधिकारी स्वीकार्य है। साथ ही उसे दीक्षारहित ऋत्विजों से ही याग सम्पन्न कराना चाहिए।[६२]

सत्रात्मक द्वादशाह के अन्तर्गत दक्षिणा नहीं दी जाती है, क्योंकि इसमें सभी यज्ञकर्ता यजमान ही होते हैं। इसके प्रारम्भ में सावित्रहोम का विधान होता है। एतदर्थ सभी ऋत्विज् 'भवतं नः नमनसौ०' (मै.सं. १.२.७:१६.८) इत्यादि मन्त्रपाठ से अपनी अग्नि को गृहपति की अग्नि पर स्थापित करते हैं।[६३] इसी मन्त्र द्वारा ही अपनी-अपनी अग्नियों पर सभी ऋत्विजों के द्वारा दो सावित्र-हवन के रूप में अग्निहोत्र आहुति देने का विधान है और सभी लोगों को अपनी हवियों को सुखाने एवं पकाने के लिए गृहपति की अग्नि ही विहित है।[६४]

दीक्षा

दीक्षा के लिए चैत्रमास की शुक्ल पक्षीय सप्तमी की तिथि का निर्देश है। इस तिथि को सभी सवनकर्ताओं को प्राग्वंश में दीक्षित होना चाहिए[६५] किन्तु विकल्पस्वरूप अमावास्या की तिथि के दिन १२ दीक्षा एवं १२ उपसदों का विधान है।[६६] गृहपति के द्वारा किये जाने वाले प्रमुख कृत्यों के मध्यकाल में ही अध्वर्यु प्रमुख ऋत्विजों को दीक्षित करता है।[६७] एतदर्थ वह प्रथमतः गृहपति, प्रतिप्रस्थाता एवं उनकी पत्नियों को

---

६१. वही, ३/२/१/२ सप्तदशानां सतामेको गृहपतिः षोडश ऋत्विजो यजमानाश्चैव कर्ण्याश्च।

६२. द्र० मान०श्रौ ७/२/१/३ यजेरस्तानादीक्षिता याजयेयुः।

६३. वारा०श्रौ ३/२/१/५-६

६४. वही, ३/२/१/५-६

६५. वही, ३/२/१/१० चैत्रपक्षस्य सप्तम्यां दीक्षन्ते।

६६. वही, ३/२/१/११

६७. वही, ३/२/१/१२

दीक्षित करता है। नेष्टा एक तिहाई भाग पाने वाले प्रतिप्रस्थाता, उन्नेता एवं उनकी पत्नियों को दीक्षित करता है।[६८] ज्ञातव्य है कि उन्नेता का कार्य सम्पादन किसी भी ब्राह्मण से सम्पन्न कराया जा सकता है। यह दीक्षा १२ दिनों में समाप्त होती है।[६९] षोडशी की तरह इसमें भी सोमक्रय के अवसर पर दानस्वरूप दी जाने वाली गाय का कान कटा होना चाहिए।[७०] प्रथम उपसद के दिन अध्वर्यु समानजातीय जनों द्वारा अनुगमित होता है और सभी लोग तृण का अन्तर्धान करते हैं। तदनन्तर मन्त्र द्वारा सभी दीक्षित लोगों को बुलाते हैं। बुलाते समय नाम, गोत्र का भी प्रयोग करते हैं।[७१] प्रवरणकाल में थोड़ा सा आश्रावण करके सभी का पुनः वरण किया जाता है। आर्षेय वरण में समान रूप से नाम ग्रहण करने का विधान है। यहाँ यह भी स्मर्तव्य है कि इस याग में यजमान ही सभी कार्यों का सम्पादन करते हैं और उनके पीछे-पीछे गृहपति कार्य सम्पादन करता है। इस सम्बन्ध में यूपाञ्जन, अग्निमन्थन एवं अग्निपरिमाण-यजन आदि कार्य विशेष हैं।[७२] दीक्षित होने के अनन्तर यजमान के रूप में सभी लोग मन्त्रोच्चारण पूर्वक गमन करते हैं।

प्रायणीय अतिरात्र

तदनन्तर प्रायणीय अतिरात्र का अनुष्ठान किया जाता है। इसी दिन सोमक्रय नामक कृत्य किया जाता है। सोमक्रयण राजा के द्वारा ही किया जाता है। एतदर्थ सोम के १२ वें अंश का आहरण राजा करता है। इसके अन्तर्गत विहित षोडशी की विधि सामान्य है। राजा द्वारा लाये गये सोम का ५ भागों में विभाजन कर उसे प्राणग्रहों में रखते हैं।[७३] अतिग्रहों के प्रयोग के अनन्तर पात्रप्रयोजन करने एवं प्रातःसवन में पात्र ग्रहण के पूर्व ही माहेन्द्र होम करने का विधान है।[७४]

---

६८. वारा.श्रौ. ३/२/१/१३-१४
६९. वही, ३/२/१/११, १७
७०. द्र० मान०श्रौ ७/२/१/३०-३३
७१. वारा०श्रौ ३/२/१/१८-२०
७२. वही, ३/२/१/२१-२२
७३. वही, ३/२/१/२५-३१
७४. वही, ३/२/१/२७

प्राणग्रह, पृष्ठ्य षडह एवं त्रिवृत् अग्निष्टोम

दशवें दिन प्रायणीय और उदयनीय इष्टि में अंश, अद्भ्य और प्राणग्रहों का विनियोग किया जाता है।[७५] अहीनात्मक द्वादशाह में १२ वें दिन तक दक्षिणा का विधान किया जाता है।[७६] सत्रात्मक द्वादशाह में दो दक्षिणा होम को सम्पन्न कर दिन में ही सभी अपने-अपने कृष्णाजिन को हिलाते हुए दक्षिणापथ में गमन करते हैं।[७७] यजमान आठ इध्म शलाकाओं को ग्रहण करके अग्नीध्र से आश्रावण कराता है और पत्नीसंयाज का अनुष्ठान इसके अनन्तर ही किया जाता है। यज्ञायज्ञिय साम के पूर्व ही वसतीवरी जल के ग्रहण का भी विधान किया गया है।[७८] हरियोजनग्रह तक के शेष समस्त कृत्य सामान्य विधि से ही करणीय हैं। आश्रावण के अनन्तर आग्नीध्र प्रैष देता है। सभी लोग वाणी को नियन्त्रित करते हैं। ज्ञातव्य है कि वाग्विसर्जन वसतीवरी जल ग्रहण करने के बाद ही करने का निर्देश है।[७९] इस याग में प्रत्येक दिन पृष्ठ्य षडह का अनुष्ठान भी करणीय है।[८०] प्रथम पृष्ठ्य षडह के दिन वेदि के भीतर प्रार्थना करने का नियम है तथा अन्य दिनों में सदस के भीतर। तदनन्तर दो दर्भों के द्वारा महेन्द्र स्तोम का उपाकरण किया जाता है। प्रथमतः वसतीवरी जल आहरण के अनन्तर त्रिवृत् अग्निष्टोम एवं रथन्तर साम के साथ पृष्ठ्य षडह को आरम्भ किया जाने का निर्देश है।[८१] दूसरे दिन प्रातःकाल पञ्चदश मन्त्रों वाले उक्थ्य का संपादन बृहत्पृष्ठ साम के साथ किये जाने एवं माहेन्द्र काल में दुन्दुभिवादन किये जाने का उल्लेख है। अगले दिन सप्तदश मन्त्रों के स्तोत्र वाले उक्थ्य का अनुष्ठान वैरूप साम के साथ किया जाता है[८२] तथा माहेन्द्र स्तोत्र के

---

७५. वारा.श्रौ. ३/२/१/३२ प्रायणीयोदयनीययोर्दशमे चाहनि।
७६. वही, ३/२/१/३३
७७. वही, ३/२/१/३४
७८. वही, ३/२/१/३५-३८ पुरस्तायज्ञायज्ञियस्य वसतीवरीर्गृह्णाति।
७९. वही, ३/२/१/३९-४०
८०. वही, ३/२/१/४१ अन्वहं पृष्ठ्यं षडहमुपयन्ति।
८१. वही, ३/२/१/४२, ४३
८२. वही, ३/२/१/४४-४६

उपाकरण के समय हवा किया जाता है तथा हवा करने में प्रयुक्त पङ्खा (उपवाजन) अध्वर्यु को प्रदान किया जाता है।[८३]

एकविंश-षोडशी

अगले दिन २१ मन्त्रों के स्तोत्र और विराजसाम के साथ षोडशी का अनुष्ठान किया जाता है।[८४] एतदर्थ मन्त्र द्वारा अतिरिक्त आग्नेय ग्रह का ग्रहण कर अग्नि में आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। अरणियों से माहेन्द्र स्तोत्र का उपाकरण करने के अनन्तर वे अरणियाँ उद्गाता को प्रदान कर दी जाती हैं।[८५] इसी समय उद्गाता के जाँघों पर अवका पर अवका फैलाकर घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करते हैं और उस अग्नि को आहवनीय में आहित कर विराज-मन्त्रों के द्वारा उसी पर हवन भी किया जाता है।[८६] अंतिग्राह्य आहुतियों के अनन्तर मन्त्रों से अवशिष्ट हवि के भक्षण किये जाने का विधान है।[८७]

सप्तविंश उक्थ्य

एकविंश षोडशी के अनन्तर सप्तविंश उक्थ्य का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें २७ मन्त्रों वाले स्तोत्र एवं शक्वर साम के साथ एक उक्थ्य का अनुष्ठान किया जाता है तथा मन्त्र के द्वारा अतिरिक्त ऐन्द्रग्रह का ग्रहण किया जाता है।[८८] माहेन्द्र स्तोत्र का उपाकरण करते हुए अवका उद्गाता को प्रदान किया जाता है तथा अतिरिक्त ऐन्द्र ग्रह से आहुतियाँ देकर मन्त्र द्वारा दोनों हवियों के भक्षण का विधान है।[८९]

तैंतिस उक्थ्य

तत्पश्चात् तैंतिस मन्त्रों वाले स्तोत्र एवं रैवत साम के साथ एक

---

८३. वारा.श्रौ. ३/२/१/४७ माहेन्द्रस्य स्तोत्रमुपाकरिष्यन्विधुमुद्गात्रे प्रयच्छति
८४. वही, ३/२/१/४८ श्वोभूत एकविंशः षोडशीः वैराजपृष्ठः।
८५. वही, ३/२/१/४९-५० इत्याग्नेयमतिग्राह्यं गृह्णाति।
माहेन्द्रस्य स्तोत्रमुपाकरिष्यन्नरणिशकलमुद्गात्रे प्रयच्छति।
८६. वही, ३/२/१/५१-५२
८७. वही, ३/२/१/५३-५५
८८. वही, ३/२/१/५७-५८ श्वो भूते त्रिणव उक्थ्य शाक्वरपृष्ठः।
८९. वही, ३/२/१/५९-६०

उक्थ्य का अनुष्ठान किया जाता है।[९०] एतदर्थ मन्त्र से अतिरिक्त सौर्य ग्रह के द्वारा आहुति देते हैं और ऋतुग्रहों से आहुति देने वाले मन्त्रों का पाठ किया जाता है। इसके बाद अध्वर्यु 'यज०' आदि का उच्चारण करके यजन करता है।[९१] तदनन्तर याज्या को समूढ एवं व्यूढ द्वादशाह में अलग-अलग मन्त्रों से संबद्ध करते हैं और अन्त में स्तोत्र उपाकरण नामक कृत्य किया जाता है।[९२] तत्पश्चात् अतिरिक्त सौर्यग्रह से आहुतियाँ प्रदान करके हवि:शेष का भक्षण किया जाता है और तृतीय सवन में प्रतिगर के साथ शिल्प शस्त्र का अनुष्ठान किया जाता है।[९३] इसी समय मैत्रावरुण के द्वारा 'वाल्यखिल्य'[९३अ] मन्त्रों का विभाजन किया जाता है तथा ब्राह्मणाछंसी 'वृषाकपिं०'[९३ब] मन्त्र का पाठ करता है। अच्छावाक 'अवमा'[९३स] मन्त्रों का पाठ करता है। दिन की समाप्ति के साथ ही यजमान की वाणी का नियन्त्रण भी प्रारम्भ होता है और यह नियन्त्रण सोमरसप्राशन पर्यन्त चलता रहता है।[९४]

इसी समय षडह की समाप्ति के अवसर पर समस्त दीक्षित जनों के द्वारा मधु भक्षण किया जाता है।[९५]

उक्थ्य छन्दोग

पृष्ठ्य षडह की समाप्ति के अनन्तर तीन छन्दोम दिबसीय यागों का अनुष्ठान किया जाता है।[९६] इसमें २४, ४४ और ४८ मन्त्रों वाले स्तोत्र-उक्थ्य का प्रयोग विहित है।

---

९०. वारा०श्रौ ३/२/१/६१ श्वोभूते त्रयस्त्रिंश उक्थ्यो रैवतपृष्ठः।

९१. वही, ३/२/२/६२-६४

९२. वही, ३/२/२/१-३

९३. वही, ३/२/२/४, ५

९३अ. द्र० ऐब्रा ५/१५/१, ३४/६/२४, १/४/५/१०-११, गोब्रा २/६/९, ऐ आ ५/२/४

९३ब. द्र० ऋषवेद, १०/८६, निघण्टु ५/६ वि० १२/२७ ऐब्रा ६/२९, गोब्रा २/६/१२

९३स. द्र० ऋ वे ५/८६

९४. वही, ३/२/२/६ समाप्तेऽहनि वाचं यच्छत्या रसप्राशनात्।

९५. वही, ३/२/२/७ दीक्षिताः प्राश्नन्ति मधु।

९६. वही, ३/२/२/९-१०

चतुर्विंशति अग्निष्टोम

उक्थ्य छन्दोग के अनन्तर दशवें दिन २४ मन्त्रों वाले स्तोत्र के साथ एक अग्निष्टोम का समापन करणीय है। इसके अन्तर्गत होने वाली त्रुटियों के लिए किसी प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान नहीं है;[९७] अपितु त्रुटिकर्ताओं को शब्दों एवं ध्वनियों के माध्यम से ही प्रायश्चित्त करने का निर्देश है। उन्हें इस प्रायश्चित्त के रूप में कथित अक्षरों को होता के प्रति पुनः निवेदित करना चाहिए। होता उन ध्वनियों को परोक्ष रूप से अनुष्टुप् छन्द में कहता है[९८] तथा दिन के समाप्त होने पर पूर्व की ओर जाकर सभी लोग आहवनीय अग्नि की स्तुति करते हैं।[९९]

मानस-ग्रह

सदस् की ओर घूमकर बैठने के पश्चात् हविर्धान तक जाकर अध्वर्यु मानसग्रह का ग्रहण करता है[१००] तथा ग्रहण करके आसादन एवं भक्षण कृत्य को मानसिक रूप से प्रस्तुत करता है। तदनन्तर होता और अध्वर्यु आपस में आश्रावण प्रत्याश्रावण करते हैं तथा निर्मन्त्रक रूप से वे एक दूसरे को देखते हैं। ऋत्विजों के द्वारा याज्या पुरोनुवाक्या मन्त्रों के पाठ करने के समय यजमान को भी उन देवताओं को लक्ष्य कर याज्या, पुरोनुवाक्या मन्त्रों का पाठ करने का विधान है। अध्वर्यु होता के प्रति प्रत्याश्रावण करने के अनन्तर प्रजापति देवता के लिए १७ मन्त्रों का पाठ करता है। इस प्राजापत्य मन्त्रों के पाठ करने से यज्ञकर्ताओं का यज्ञ विफल नहीं होता है तथा वे यज्ञ के माध्यम से प्रजापति में प्रतिष्ठित होते हैं, क्योंकि सप्तदश प्रजापति यज्ञ में सदैव विद्यमान रहता है।[१०१] तदनन्तर प्रतिगर के भीतर प्रजापति के पीने से अवशिष्ट ग्रह भाग का ऋत्विज् भक्षण करते हैं। सदस का आच्छादन कर औदुम्बरी का ग्रहण करते हैं।[१०२] इसी समय से यजमान वाणी को नियन्त्रित करता है तथा जब तक सूर्य रश्मियाँ वृक्ष के ऊपरी भाग पर दृष्टिगत होती रहें तब तक

---

९७. द्र० मान०श्रौ ७/२/३/१ चतुर्विंशोऽग्निष्टोमो दशममहरधिक्याम्।

९८. वारा०श्रौ ३/२/२/१४

९९. वही, ३/२/२/१५

१००. वही, ३/२/२/१६

१०१. वही, ३/२/२, १७-२९ क्रमशः।

१०२. वही, ३/२/२/३०-३४

उसे अपनी वाणी को नियन्त्रित करने का विधान है। विकल्पस्वरूप नक्षत्र दर्शन पर्यन्त वाणी का नियन्त्रण विहित है।[१०३] इस उपानुष्ठान के अन्त में यजमान वाणी का विसर्जन कर आग्नीध्रीय धिष्ण्य की उपासना करता है।[१०४]

उदयनीय अतिरात्र

अगले दिन उदयनीय अतिरात्र का अनुष्ठान किये जाने का विधान है। इसका सम्पादन प्रायणीय की भाँति किया जाता है। जो कि एतत्पूर्व व्याख्यात है।[१०५] होता क्षौर-कृत्य के समय समस्त बाल (शिखा सहित) कटवा देता है और उदयनीय इष्टि का पृथक् रूप से सम्पन्न कराने का उपक्रम करता है। इसमें ग्रह का भी ग्रहण किया जाता है। प्रायणीय एवं उदयनीय के दिन और दशवें दिन ऐन्द्रवायव्य ग्रह का ग्रहण सर्वप्रथम ही किया जाता है।[१०६] प्रथम पृष्ठ्य के दिनों में क्रमशः ऐन्द्रवायव्य ग्रह शुक्र ग्रह और आग्रायण ग्रह का ग्रहण प्रमुख रूप में होता है।[१०७] दूसरे दिन पृष्ठ्य दिवसों और छन्दोग के दिन प्रातःसवनीय जगती मन्त्रों का तथा माध्यन्दिन में गायत्री एवं तृतीयसवन में त्रिष्टुप् छन्दों के द्वारा मन्त्रगान किया जाता है। इसके अतिरिक्त पवमान अभिमन्त्रण एवं भक्षण कृत्य में प्रयोज्य मन्त्र सामान्य रूप से निर्दिष्ट किये गये है।[१०८]

पशु याग

ग्रह-ग्रहणादि कृत्यों के अन्त में प्रथमतः एकादशिन् से संबद्ध कृष्ण सिर वाले पशुओं का आलभन किया जाता है।[१०९] सत्र समाप्ति के समय षडह के पृष्ठ्य सामों के शमन हेतु सभी को दक्षिणा प्रदान किये जाने का नियम है। इसके साथ ही अग्निष्टोम की अग्नि में आहुति दी जाती है।[११०] इस प्रकार सत्रात्मक एवं अहीनात्मक द्वादशाह के अनुष्ठान

१०३. वारा.श्रौ. ३/२/२/३५
१०४. वही, ३/२/२/३६
१०५. वही, ३/२/३६-३७
१०६. वही, ३/२/२/३८-३९
१०७. वही, ३/२/२/४०
१०८. वही, ३/२/२/४१, ४२
१०९. वही, ३/२/२/४३ पवमानभिमन्त्रणं भक्षणमिति यथा छन्दः।
११०. द्र० मान०श्रौ ७/२/४/११

की विधि परिशील्य श्रौतसूत्र में वर्णित है।[१११]

3. गवामयन

यह एक सांवत्सरिक सत्र है। गायों के माध्यम से ही अनुष्ठित होने के कारण इस सत्र की 'गवामयन' संज्ञा है।[११२] इसके सम्पादन से सन्तति, सम्पत्ति, उच्च स्थिति एवं स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है।[११३] गवामयन की दीक्षा हेतु माघ अथवा चैत्रमास की पूर्णिमा के ४ दिन पूर्व (एकादशी) की तिथि निश्चित की गयी है।[११४] यह सत्र ३० दिवसीय १२ मासों तक चलता रहता है। इसमें प्रायणीय अतिरात्र को आरम्भिक दिन में ही सम्पन्न की जाती है, जिसकी विधि सामान्य है।[११५] साथ ही साथ इसमें दो उक्थ्य एवं विकल्पस्वरूप अग्निष्टोम का भी विधान किया जाता है।[११६] तदनन्तर षडह अभिप्लव का अनुष्ठान कर एक ज्योतिष्, एक गौ दिवस एवं एक आयु दिवस उक्थ्य की तरह सम्पन्न करने का विधान है। उक्त कृत्यों के पश्चात् पुनः आयु एवं गौ-दिवसों के लिए ज्योतिष् दिवस का अनुष्ठान अग्निष्टोम की भाँति किया जाता है।[११७] षडह अभिप्लव का चार बार पर्याय क्रम से सम्पादन करके पृष्ठ्य षडह का अनुष्ठान किये जाने का निर्देश है। इस प्रकार ३० दिन का एक माह पूर्ण किया जाता है और उक्त विधि से षडहों द्वारा ४ माह पूर्ण किये जाते हैं।[११८]

उक्त कृत्य के पश्चात् तीन षडह अभिप्लव तथा एक पृष्ठ्य षडह एवं एक अभिजित् अग्निष्टोम और तीन स्वरसामों का अग्निष्टोम अथवा उक्थ्य की भाँति अनुष्ठान किया जाता है।[११९] इन्हीं दिवसों के

---

१११. वारा०श्रौ ३/२/२/४९
११२. द्र० ऐब्रा ४/३/३ तांब्रा ४/११, तैसं ७/४८
११३. द्र० आपश्रौ २१/१५/१, सश्रौ १६/५/१४
११४. वारा०श्रौ ३/२/३/२ पौर्णमास्याश्चतुरहे पुरस्तात् दीक्षन्ते।
११५. वही, ३/२/३/४ समानः प्रायणीयः।
११६. वही, ३/२/३/५
११७. वही, ३/२/३-६, ७
११८. वही, ३/२/३/८-१०
११९. वही, ३/२/३/११

अन्तर्गत एक अतिग्राह्य ग्रहण का भी विधान है और अतिरिक्त ग्रह ग्रहण आसादन और हवन करने की विधि निर्दिष्ट है।[१२०] इस प्रकार कुल ६ माह पूर्ण हो जाते हैं। इन षड्मासीय कृत्य की 'पूर्वपक्ष' संज्ञा की गयी है।[१२१]

पूर्वपक्ष के बाद विषुवान् नामक यज्ञ के अनुष्ठान किये जाने की व्यवस्था है। जो अग्निष्टोम संस्थाक है।[१२२] विषुवत् दिन के अनन्तर दिवाकीर्तीय साम के साथ अग्निष्टोम सम्पाद्य है। एतदर्थ सूर्योदय के बाद प्रातरनुवाक का उपाकरण किया जाता है[१२३] और अध्वर्यु क्रमशः आदित्य एवं विश्वकर्मा देवता के निमित्त अतिग्रह ग्रहण कर मन्त्र से उसे जलाभिपूरित करता है। दूसरे दिन इस ग्रह का ग्रहण एवं सम्भरण पर्यायक्रम में किया जाने का विधान है।[१२४] महावत में भी दोनों देवताओं के लिए ग्रह गहण किया जाता है।[१२५]

सूर्य देवता के निमित्त उज्ज्वल अज सूर्यास्त के पूर्व सवन में विहित किया जाता है, किन्तु सूर्यास्त के अनन्तर भी यदि अज न मिल सके, तो तदनन्तर 'सूर्यो देवः०' इत्यादि मन्त्र से हवन का निर्देश है।[१२६]

उत्तर-पक्ष

विषुवान् यज्ञ के अनन्तर उत्तरपक्ष को प्रारम्भ किया जाता है। उत्तरपक्ष के दिवसों की क्लृप्ति पूर्वपक्ष गत कर्मों के विपरीत क्रम में होती है। तीन स्वर सामों और विश्वजित् नामक अग्निष्टोम के अनन्तर ही तीन अभिप्लव नामक षडहों का विधानकरणीय है। इसमें मासों की अभिपूर्ति हेतु महाव्रत की भी गणना की जाती है।[१२७] उक्तानुष्ठानों का

---

१२०. वारा.श्रौ. ३/२/३/१२-१६
१२१. वही, ३/२/३/१७ स षण्मासाः। स पूर्वपक्षः।
१२२. वही, ३/२/३/१८ श्वोभूते विषुवान्दिवा कीर्त्योऽग्निष्टोमः।
१२३. वही, ३/२/३/१९
१२४. वही, ३/२/३/१०, २१
१२५. वही, ३/२/३/२२
१२६. वही, ३/२/२/२६
१२७. वही, ३/२/३/२८-३१

पूर्वक्रम में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम माह में भी सम्पादन किया जाता है और छठें माह की पूर्णता में दो अभिप्लव षडह एवं एक आयु, एक गौ दिवस तथा द्वादशाह एवं महाव्रत के सब दिन लग जाते हैं।[१२८]

अभिप्लव के समय ऐन्द्र वायव्य ग्रह तथा विषुवान् में दो शुक्र-ग्रहों की आवृत्ति करने का निर्देश है।[१२९] स्मर्तव्य है कि एकादशिन् से संबन्धित पशुओं का प्रयोग चौथे दिन से लेकर दशरात्र तक के दिनों में करना चाहिए तथा विष्णुवामन हेतु चतुर्थ दिवस एवं ऐन्द्राग्न हेतु पञ्चम दिवस विहित है। इसी प्रकार एकादशिन् से संबद्ध पशुओं का प्रयोग प्रायणीय एवं उदयनीय इष्टियों में किये जाने का विधान है। ध्यातव्य है कि महाव्रत में प्रजापंति देवतार्थ तूपर का आलभन किया जाता है। प्रथम, द्वितीय छन्दोम के दिन द्यावापृथिवी एवं वायु के लिए भी पशु का आलभन विहित है, इनके अतिरिक्त महाव्रत के दिन मैत्रावरुण हेतु वशा का विधान करने का निर्देश है।[१३०]

4. उत्सर्गिणामयन

गवामयन के प्रसङ्ग में सान्नाय्य हवि के लिए गायों का उत्सर्जन करने का नियम विहित है। गायों का उत्सर्जन दूसरे माह के प्रथम दिन में करते हुए अन्य अगले मासों के लिए विनिर्दिष्ट अनुष्ठानों के मध्य दिन में करना चाहिए।[१३१] विकल्पस्वरूप सामान्यतया पूर्णिमा या अमावस्या के दिन भी उत्सर्जन कृत्य किया जा सकता है।[१३२] उत्सर्जन के दिन इन्द्र हेतु सान्नाय्य हवि बनाने के लिए गायों से उनके बछड़ों को अलग करते हैं। इस कृत्य में 'श्व उत्स्रष्टास्मह०' इत्यादि मन्त्र का विनियोग करणीय है।[१३३] दूसरे दिन सूर्योदय के अनन्तर प्रातःकालीन आनुष्ठानिक कृत्य सम्पन्न करके प्रजापति देवताक पशु का आलभन करने का निर्देश है। तदनन्तर उसकी वपा की आहुति को देकर

---

१२८. वारा०श्रौ ३/२/३/३२-३३
१२९. वही, ३/२/३/३४-३५
१३०. वही, ३/२/३/३५-४१
१३१. वही, ३/२/४/१
१३२. वही, ३/२/४/२
१३३. वही, ३/२/४/३ इति इन्द्राय वत्सानुपाकुर्वन्ति।

आग्नेयअष्टाकपाल-पुरोडाश याग का विधान करना चाहिए। इसके साथ ही साथ सवन के लिए भी अष्टाकपाल पुरोडाश का सम्पादन वैश्वदेव, वरुण एवं इन्द्र देवता के निमित्त करना चाहिए।[१३४] ज्ञातव्य है कि माध्यन्दिन सवन के स्थान में पशुपुरोडाशों का विधान किया जाता है। एतदर्थ पशुपुरोडाशों को मरुत एवं वरुण देवतार्थ एकादशकपालों में अलग-अलग देने का निर्देश है।[१३५] तृतीय सवन में भी पशुओं का प्रयोग करने के पश्चात् १२ कपालों में वैश्वदेव को तथा १२ कपालों में अग्निमारुत हेतु चरु का भी विधान करने का निर्देश है।[१३६] तदनन्तर पृषदाज्य के द्वारा हवन कर पत्नीसंयाज नामक कृत्य करते हैं[१३७] तथा प्रातः सवन में लाये गये दूध का प्रयोग करते हैं; जो कि थोड़ा गर्म होता है। माध्यन्दिन सवन में गर्म दूध तथा तृतीय सवन में दधि का प्रयोग भी विहितव्य है। इस प्रकार वाराहमत में 'उत्सर्गियों का अयन' नामक अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है।[१३८]

5. महाव्रत[१३८क]

यह सत्र कृत्यों के अन्तर्गत अत्यन्त रमणीय अनुष्ठान के रूप में स्वीकारा जाता है। सम्भवतः प्रजापति 'महान्' के लिए व्रत किये जाने के कारण इसकी महाव्रत संज्ञा है।[१३९] महाव्रत के दिन २५ मन्त्रों के स्तोत्र वाला अग्निष्टोम का अनुष्ठान किया जाता है।[१४०] एतदर्थ सूर्योदय होने के अनन्तर प्रातरनुवाक का उपाकरण किया जाता है[१४१] तथा आलोच्य श्रौ. सू. में इस दिन ग्रहों के लिए पात्र आहित करने का भी उल्लेख है। दधिग्रह के अनन्तर ५ पात्र अर्क ग्रह के लिए तथा तीन पात्र आदित्य

---

१३४. वारा.श्रौ. ३/२/४/४-६
१३५. वही, ३/२/४/५-६
१३६. वही, ३/२/४/७
१३७. वही, ३/२/४/८ पृषदाज्येन चरित्वा पत्नीः संयाजयन्ति।
१३८. वही, ३/२/४/९
१३८क. तैब्रा, सायणभाष्य, १/२/७ .... अनेन कर्मणा इति महाव्रतम्।
१३९. द्र० ध. शा इ, भाग १, पृ० ५७२-७३
१४०. वारा.श्रौ. ३/२/४/१ अग्निष्टोमं व्रतपृष्ठं महाव्रतम्, तु० मान०श्रौ ७/२/६/१ महाव्रतं पञ्चविंशोऽग्निष्टोमः।
१४१. वही, ३३/२/४/२ उदिते प्रातरनुवाकमुपाकरोति। मान०श्रौ ७/२/६/२

ग्रह के लिए ग्रहण करके उनका आधान किया जाता है। पृष्ठ्यस्तोत्र काल में अध्वर्यु सामान्य विधि से एक पात्र सूर्य ग्रह हेतु तथा ३ पात्रों का आधान व्युत्क्रम से अदिति, वैश्वानर तथा प्रजापति के लिए करता है। वृष्टिग्रह हेतु चार स्तर वाला मिट्टी का पात्र एवं सरस्वती, विष्णु तथा वृहस्पति के ग्रह के लिए क्रमशः १६, १५, ३२ पात्रों का यथाक्रम में आधान करता है।[१४२] माहेन्द्र ग्रह के समय उदुम्बर की बनी हुई आसन्दी पर उद्गाता चढ़ता है और उच्चस्थल पर आसीन होता के द्वारा स्तोत्रपाठ किया जाता है।[१४३] अध्वर्यु इन कृत्यों के पूर्व ही अंशु एवं अदाभ्य का ग्रहण करता है। उनका आपस में स्पर्श आदि अन्य कृत्यों का संपादन कर देता है। तदनन्तर जल स्पर्श करता है; और इसी समय एक विशेष प्रकार का दान दिया जाता है; जिसके अन्तर्गत एक वस्त्र, एक अधोवस्त्र तथा चार अथवा १२ धेनु और हिरण्य प्रदान किये जाने का उल्लेख है।[१४४]

वीणा एवं दुन्दुभि

माहेन्द्र स्तोत्र के अनन्तर अध्वर्यु एक विशेष प्रकार की वीणा उद्गाता को देता है तथा इसके पूर्व ही अध्वर्यु उद्गाता को बाण, शततन्तु एवं मूँज की गाठों से युक्त एक गट्ठर भी प्रदान किये रहता है।[१४५] अब वह स्तोत्र का उपाकरण करता है।[१४६] स्तोत्र की समाप्तिपर्यन्त वीणावादन नामक अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है तथा वेदि के मध्य में ढोलकें बजायी जाती हैं।[१४७] इसी समय वेदि के दक्षिण पूर्व में रथ पर चढ़े हुए क्षत्रिय अथवा सामन्त द्वारा वेदि में आस्तृत चर्म पर बाण फेंकने का निर्देश है।

दासीगीत

वीणा एवं दुन्दुभिवादन के समय वेदि के मध्य ब्रह्मचारी स्थित

---

१४२. वारा.श्रौ. ३/२/५/१९-२२, मान०श्रौ २/६/५

१४३. वही, ३/२/५/२३ माहेन्द्रस्य स्तोत्रं आदुम्बरीमासन्दीमुद्गातारोहति।

१४४. वही, ३/२/५/३-१६

१४५. वही, ३/२/५/२५-२६

१४६. द्र० मान०श्रौ ७/२/७/५ उद्गात्रे प्रयच्छन्स्तोत्रमुपाकरोति।

१४७. वारा.श्रौ. ३/२/५/२७ वेदि स्रक्तिषु दुन्दुभीनाघ्नन्ति।

रहता है और वेदि के बाहर एक पुंश्चली (वेश्या)। वेश्या के द्वारा ब्रह्मचारी के प्रति अनार्य कर्म का कथन किया जाता है जिस पर ब्रह्मचारी उसे धिक्कारता है।[१४८] वेदि के दक्षिण श्रोणि पर एक वृषलमिथुन रहता है, जिनमें से एक वेदि के भीतर और अन्य वेदि के बाहर स्थित रहता है। इन दोनों की क्रमशः अभिगर एवं अपगर संज्ञा है। इस मिथुन में वेदि श्रोणि के दक्षिण, किन्तु बाहर मैथुन कृत्य किया जाने का निर्देश है।[१४९] तदनन्तर मार्जालीय के पास दासी स्त्रियाँ कुमारियों के साथ दो-दो करके आपस में वस्त्रों को जोड़कर गीत गाती है और मार्जालीय के सामने एक शूद्र एवं एक आर्य मण्डलाकार चर्म को अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। आर्य वेदि के भीतर और शूद्र वेदि के बाहर से खींचता है। खींचते समय मन्त्र का पाठ किया जाता है और खींचने में समर्थ (आर्य) द्वारा उस चर्म को सदस् के पास रख दिया जाता है।[१५०] इसी समय ४, ६ अथवा ८ दासी स्त्रियाँ गाती हुई नाचती हैं।[१५१] तदनन्तर सभी लोग मार्जालीय की परिक्रमा करके अपने-अपने अभीष्ट स्थल को चले जाते हैं।[१५२]

राजपुत्र के द्वारा वत्सचर्म पर प्रहार

तदनन्तर तीर्थ के उत्तर में श्वेत बछड़े के चर्म को और आगे बढ़ाते हैं।[१५३] वेदि के दक्षिण कोण के पूर्व की ओर स्थित रथ पर एक क्षत्रिय कवच सन्नद्ध हुआ धनुष् बाण लिये बिहार की तीन बार प्रदक्षिणा करता है और उसके साथ-साथ समस्त कृत्यों को पीछे-पीछे सारथि भी करता जाता है।[१५४] बछड़े के चर्म को बढ़ाते हुए उसकी गर्दन के भाग को अधिक ऊँची सीमा तक कर दिया जाता है। अब क्षत्रिय चर्म के मध्य, ग्रीवा तथा भसद् प्रदेश में तीन बार प्रहार करता है।[१५५]

---

१४८. वारा.श्रौ. ३/३/५/३०-३२
१४९. वही, ३/२/५/३३-३७ तौ मिथुनमसंभवतः।
१५०. वही, ३/२/५/३८-४०
१५१. वही, ३/२/५/४१-४२ इति पादान्निघ्नन्ति।
१५२. वही, ३/२/५/४४ परीत्य मार्जालीयं यथार्थं गच्छन्ति।
१५३. वही, ३/२/५/४५ उत्तरतस्तीर्थस्य वाशं चर्म वघायोपकल्पयति।
१५४. वही, ३/२/५/४६-४८
१५५. वही, ३/२/५/४९

द्यु-ग्रहण

चर्मप्रहार के अनन्तर औदुम्बरफलक पर अध्वर्यु आरोहण करके पूर्वी, उत्तरी, दक्षिणी एवं पश्चिमी ग्रह भागों से अवदान ग्रहण करता है।[१५६] इसके साथ ही साथ वह अदिति एवं माहेन्द्र ग्रह से अवदान लेकर आहुति प्रदान करता है और अध्वर्यु अवदान लेकर द्यु-ग्रह से अपने पात्र में डालता है।[१५७] सभी प्रकार के ग्रहों का सम्पादन कर सभी लोग अपने-अपने भागों का भक्षण करते हैं। सूर्य के अस्त होने के समय 'सूर्यो देवः' इत्यादि मन्त्र से आहुति प्रदान करने के विधान हैं। इस कृत्य की समाप्ति दिन की समाप्ति के साथ होती है।[१५८]

6. एकादशिनी

एकादशिनी के अन्तर्गत ग्यारह देवताओं के निमित्त पृथक्-पृथक् पशुओं का आलभन विहित है। एकादशिन् से संबद्ध पशु का प्रायणीय तथा उदयनीय इष्टियों में प्रयोग किया जाता है। इसमें देवताओं के अनुसार पशुओं का विधान निम्नवत् प्रयुक्त किये जाते हैं -

१. अग्नि हेतु - कृष्ण शिर वाला अज।
२. सरस्वती हेतु - मेषी।
३. सोम हेतु - भूरे रंग का अज।
४. पूषा हेतु - काला अज।
५. बृहसपति हेतु - शितिपृष्ठ वृषभ।
६. वैश्वदेव हेतु - पीले रंग का वृषभ।
७. इन्द्र हेतु - वृष्णि।
८. मरुत हेतु - कल्माष वृषभ।
९. ऐन्द्राग्नहेतु - सामान्य पशु।
१०. सविता हेतु - अधोराम पशु।
११. वरुण हेतु - पेत्व पशु।[१५९]

---

१५६. वारा.श्रौ. ३/२/५/४/५२-५३, ५४-५७
१५७. वही, ३/२/५/५७
१५८. वही, ३/२/५/५९-६० इत्यस्तमिते जुहोति।
१५९. वही, ३/२/६/३३-३४

एकादशिनी के अन्तर्गत विहित प्रत्येक पशुओं के अनुसार यूपच्छेदन करणीय है। इसमें एक ही यूपाहुति दी जाती है।[१६०] महाव्रत के दिन अदिति के लिए वशा का तथा विश्वकर्मा हेतु त्रिरूप वृषभ का संज्ञपन किया जाता है। कतिपय आचार्यों ने इक्कीस स्तोत्र के दिन पशुओं का उल्लेख नहीं किया है और वे इसी दिन एक अतिरिक्त बैल का आलभन विष्णु हेतु किये जाने का विधान भी प्रस्तुत करते हैं।[१६१] यूपों के बीच रथ के अक्षमात्र का अन्तर रखने का विधान है।[१६२] उनका अभ्यञ्जन, परिव्ययणादि अलग-अलग दो दो की संख्या में एक ही साथ रशनाप्रयुक्त करने का निर्देश है। मन्त्र के द्वारा यूप की रशना का योजन किया जाता है। यूपाग्र स्वरु के द्वारा स्थापित किये जाने की व्यवस्था है।[१६३] उपशय के लिए आरण्य पशुओं का निर्देश करने का विधान किया गया है, किन्तु विकल्पस्वरूप 'सृगलस्तेऽयं पशुः' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए।[१६४] यदि कोई यजमान से द्वेष करता हो तो उसके लिए 'असौ ते पशुरिति.' का उच्चारण करने का निर्देश है।[१६५] पशुओं के अपाकरणार्थ दो दर्भों एवं शाखा के प्रयोग का भी विधान है। वपाश्रयणी ही प्रत्येक पशु के लिए इसके अन्तर्गत शस्त्र के रूप में विहित है।[१६६] अध्वर्यु सभी पशुओं को अन्वारम्भणपूर्वक शामित्रस्थल में ले आता है और अन्वारम्भण के पश्चात् वह उन्हें वपा के उद्धरण में और वपाश्रपण में शीघ्र ही प्रस्तुत करता है। इसी समय आदित्योपस्थान और प्रव्रजन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है।[१६७] इसमें ग्यारह जुहू के द्वारा उत्पादन कृत्य किया जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु चरण के द्वारा अनुक्रमण करता है। ध्यातव्य है कि जब जुहू का प्रयोग किया जाता हो तब प्रत्येक देवता के लिए पशुओं के द्वारा प्रचरण किया जाने का भी

---

१६०. वारा.श्रौ. ३/२/६/१-३ एकादशिन्यां प्रति पशु यूपांच्छिन्दन्ति।
१६१. मान०श्रौ ७/३/८/७
१६२. वारा०श्रौ ३/२/६/१३ रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि।
१६३. वही, ३/२/६/१४-२३
१६४. वही, ३/२/६/३६
१६५. वही, ३/२/६/३८
१६६. वही, ३९-४४
१६७. तदेव ४५

निर्देश है।[१६८] एक ही अर्धर्च के द्वारा अध्वर्यु सभी याज्या एवं वसाहोम का विधान करता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि एकादशिनी की वेदि पौर्णमासेष्टि की वेदि के समान ही बनानी चाहिए।[१६९] इसमें देवताओं के नामों का निर्देश उपांशु स्वर में किये जाने का भी प्राविधान किया गया है।[१७०]

7. सौत्रामणी[१७०क]

सप्त हविर्यज्ञों में यह एक महत्त्वपूर्ण यज्ञ है। प्रधानतया यह पशुयाग है; किन्तु इसमें इष्टि एवं पशु के अतिरिक्त सुरा की भी आहुति प्रदान की जाती है। तब भी इसकी गणना सोमयागों में नहीं करणीय है। सौत्रामणी की व्युत्पत्ति 'सुत्रामन्' (एक अच्छा रक्षक) शब्द से की गयी हे, जो कि इन्द्र की एक रक्षक के रूप में उपाधि है।[१७१]

यह चरक सौत्रामणी (साधारण) और कौकिली सौत्रामणी भेद से दो प्रकार का है। कौकिली सौत्रामणी कृत्य स्वतन्त्र रूप से होता है, किन्तु सौत्रामणी कृत्य राजसूय यज्ञ के १ माह के अनन्तर एवं अग्निचयन के अन्त में करणीय है। सामान्य सौत्रामणी की विधि प्राय: निरूढपशुबन्ध के समान है[१७२] किन्तु कौकिली सौत्रामणी में इसके अतिरिक्त साममन्त्रों का भी विनियोग किया जाता है।[१७३]

अधिकारी

सौत्रामणी के अनुष्ठान के अधिकारी के रूप में त्रैवर्णिकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) के अतिरिक्त सोमवामी (जो सोमपान के अनन्तर सोमरस का वमन करता है) तथा राजसूय सम्पादन के अनन्तर

---

१६८. वारा.श्रौ. ४६-५०

१६९. तत्रैव, ५६ पौर्णमासिकी वेदि:।

१७०. मान०श्रौ ७/२/८/७

१७०क. द्र० शब्रा ५/५/४-५, १२, ७-८, कीथ, प्रस्तावना, पृ० १२२-२३ रिल०ऐण्ड फिल० भाग २, पृ० ३५२-३५४, तैब्रा १/४/२, १/८/५/६, २/६/७, तै सं १/८/२

१७१. द्र० ऋ सं १०/१३१/ ६-७, तथा शब्रा ५/५/४/१२

१७२. द्र० आपश्रौ १९/१/२ सश्रौ १३/७/३७, राजसूयेनेष्ट्वा सौत्रामण्यां यजेत।

१७३. द्र० लाश्रौ ५/४/२१

राजा के रूप में दीक्षित व्यक्ति, समृद्धकामी, अधिक दिनों से बीमार व्यक्ति और अन्य आदि खाद्यपदार्थों का इच्छुक व्यक्ति, पशुकामी एवं शत्रु पर विजयाकांक्षी व्यक्ति स्वीकृत हैं।[१७४]

देवता एवं द्रव्य

इस याग के प्रधान देवता अश्विनौ, सरस्वती और सुत्रामन् इन्द्र हैं। इन देवों के लिए दूध तथा सुरा के तीन-तीन ग्रहों का विधान उल्लिखित है।[१७५] साथ ही इनके निमित्त पशु बलि का भी विधान किया जाता है। यथा अश्विनौ के लिए अज, सरस्वती के लिए मेषी और इन्द्र के लिए ऋषभ अथव वृष्णि।[१७६] जब यह याग सोमातिपवित के लिए किया जा रहा हो; तो उसमें बृहस्पति देवता के निमित्त एक पशु का विधान चौथे देव के रूप में किया जाता है।[१७७]

इसके अतिरिक्त पशुपुरोडाश याग के प्रधान देवता के रूप में इन्द्र (सुत्रामन्) एवं वरुण हैं। इन्द्र के लिए एकादश कपाल पुरोडाश, सविता के लिए अष्टाकपालक पुरोडाश तथा वरुण देवतार्थ यवमय चरु का विधान किया जाता है।[१७८]

अनुष्ठान-विधि

सौत्रामणी के अनुष्ठान में कुल ४ दिन लगते हैं। प्रारम्भिक दिवसों में नाना पदार्थों के द्वारा सुरा निर्माण कृत्य किया जाता है और अन्तिम चौथे दिन में ही मुख्य अनुष्ठान किया जाता है। मुख्य अनुष्ठान के पूर्व क्लीब व्यक्ति द्वारा सीसा के बदले में खरीदे गये यव-शष्प को रख लिया जाता है।[१७९] प्रातःकालीन अनुष्ठान के अनन्तर ओदन पकाने के पश्चात् ब्रीहि आदि का गार्हपत्याग्नि में श्रपण किया जाता है। अवशेष हवि से गार्हपत्याग्नि पर भर्जन कर लाजा तैयार की जाती है और

---

१७४. वारा०श्रौ ३/२/७/१
१७५. वही, ३/२/७/१५, २०, काश्रौ १५/१०/१३
१७६. वही, ३/२/७/२४, अजं सरस्वतीं मेषीमेन्द्रं वृषभं वृष्णिं वा।
१७७. वही, ३/२/७/२५ बार्हपस्त्यं चतुर्थ सोमातिपवितस्य।
१७८. वही, ३/२/७/२६
१७९. वही, ३/२/७/२

'स्याद्धीं त्वा स्वादुना'० इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.३.८) से सुरा का सृजन शष्पों द्वारा किया जाता है।[१८०] यवशष्पों का मिश्रण करके उसे तीन रात्रियों के लिए अध्वर्यु रख लेता है। तीसरे दिन के बीत जाने पर चौथे दिन पशुबन्ध के समान सौत्रामणी का सम्पादन किया जाता है।[१८१]

मुख्य अननुष्ठानिक कृत्य

चौथे दिन आहवनीय के पूर्व में सौत्रामणी की वेदि बनायी जाती है। जब अध्वर्यु उत्तर वेदि का निर्माण करता है तो उसी समय वेदि के मध्य प्रतिप्रस्थाता चात्वाल से पुरीष लाकर एक खर तथा उत्तर वेदि के दक्षिणी ओर दूसरे खर का निर्माण दक्षिणाग्नि के अग्रभाग में करता है।[१८२] उत्तर वेदि पर आहवनीयाग्नि के प्रणयनकाल में ही प्रतिप्रस्थाता द्वारा दक्षिणाग्नि से अङ्गारों को रखे जाने पर अध्वर्यु प्रथम खर पर स्थापित करता है[१८३] तथा पशूपाकरण के पूर्व के कृत्यों को प्रकृतिवत् सम्पन्न करने का विधान है। सुरा को निकाल कर द्रोण में सबाल दाहपवित्र द्वारा उसे अभिपूरित एवं दान कर ब्राह्मण के शिर पर रख देते हैं।[१८४] तदनन्तर दक्षिणाग्नि के सिकता को खर में डालते हैं और उसमें पलाश, अश्वत्थ और उदुम्बर, न्यग्रोध आदि वृक्षों के पात्रों का आसादन करते हैं।[१८५]

सुराग्रह-ग्रहण

तदनन्तर सुराग्रह का ग्रहण किया जाता है। एतदर्थ आश्विन ग्रह का ग्रहण अध्वर्यु, सारस्वतग्रह का ग्रहण प्रतिप्रस्थाता तथा ऐन्द्र ग्रह का ग्रहण यजमान अथवा ब्रह्मा करते हैं। साथ ही साथ आश्विन ग्रह में कुवलसक्तु, सिंह का लोम एवं सारस्वत में कर्कन्धुसक्तु तथा व्याघ्र लोम और ऐन्द्र ग्रह में बदर-सक्तु के साथ वृक्लोम मिलाया जाता है। स्मर्तव्य

---

१८०. वारा.श्रौ. ३/२/७/३-४ इति शष्पैः सुरां संस्तृणाति।
१८१. वही, ३/२/७/५-७
१८२. द्र० शब्रा १२/७/३/७, पी०पी० काणे, हि ध शा, २, पृ० १२२७
१८३. वारा०श्रौ ३/२/७/८
१८४. वही, ३/२/७/११
१८५. वही, ३/२/७/१२

है कि इन पशुओं के लोमों के अभाव में अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता एवं यजमान को क्रमशः दो सिंहों, दो व्याघ्रों एवं दो वृकों का मन से ध्यान मात्र करने का विधान है।[१८६] तत्पश्चात् ग्रहों को परिमार्जित कर यज्ञायतन में यथास्थान स्थापित करने का निर्देश है। इसी समय अध्वर्यु इन्द्र, सविता एवं वरुण देवतार्थ पशुपुरोडाश के लिए हवि का निर्वपन कर बृहस्पति देवता के लिए भी व्रीहि का निर्वाप करता है।[१८७]

पशु-उपाकरण

पशुओं का उपाकरण करते समय प्रथमतः अश्विनों के लिए अज, सरस्वती देवताक मेषी और ऐन्द्र वृषभ अथवा वृष्णि का आलभन किया जाता है। साथ ही सोमातिपवित यजमान के लिए चतुर्थ देवता के रूप में विहित बृहस्पतिदेवताक एक अन्य पशु का भी उपाकरण करने का विधान है।[१८८]

सुराग्रह-आहुति

तदनन्तर होता को वषट्कार हेतु प्रैष दिये जाने पर आश्रावण प्रत्याश्रावण तथा याज्यानुवाक्या पाठ एवं वषट्कार करने के अनन्तर सभी लोग अपने-अपने ग्रहों से आहुति प्रदान करते हैं तथा होता के वषट्कार किये जाने पर दूसरी आहुति दी जाती है।[१८९] अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता एवं यजमान तीनों गिरते हुए भाग का अनुमन्त्रण करते हैं। आहुति के समय होता सामगान करता है अथवा दो बाद स्वाहाकर करता है।[१९०] स्वाहाकारोपर्यन्त आहवनीय में आहुति देने की प्रक्रिया राजसूय याग के समान ही है।[१९१] आहुति के बाद अध्वर्यु अपने शरीर को स्पर्श करता है। इसी समय दक्षिणा स्वरूप ३२ गायें और एक वडवा प्रदान की जाती है, जो अपने

---

१८६. वारा.श्रौ. ३/२/७/१६-२२, क्रमशः, तु० सश्रौ १३/८/२१-२३ आपश्रौ १९/२९/११, काश्रौ १५/१०/१२

१८७. वही, ३/२/७, २३-२७

१८८. वारा०श्रौ ३/२/७/२४-२५

१८९. तत्रैव २८-३०

१९०. तत्रैव, ३२ साम गायति द्विर्वा स्वाहा करोति।

१९१. वही, ३/२/७/३५ यथा राजसूये।

युवा बच्चों सहित होती है।[१९२]

तदनन्तर उक्त दोनों अग्नियों में पयोग्रहों से आहुति का विधान है।[१९३] इसके बाद सुराग्रहों में से आहुति देकर अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, और आग्नीध्र, अश्विनौ से संबन्धित अंश का स्वयमेव भक्षण करते हैं। ब्रह्मा, होता और मैत्रावरुण भाग का तथा सारस्वत एवं ऐन्द्र भाग का भक्षण स्वयं यजमान करता है।[१९४]

सुरापान

अब आहुति से अवशिष्ट सुरा के पान का विधान किया जाता है। एतदर्थ किसी ब्राह्मण का परिक्रयण होता और अध्वर्यु के द्वारा किये जाने का निर्देश है।[१९५] वह ब्राह्मण ही सुरा का पान करता है, किन्तु यदि वह पान नहीं करता अथवा ब्राह्मण सुलभ नहीं होता है; तो वल्मीकवपा में सुरा का अवनयन करना चाहिए।[१९६] विकल्प स्वरूप यजमान को स्वयं ही भक्षण हेतु अधिकार है।[१९७] साथ ही एक अन्य विकल्प के अनुसार सौ छिद्रों वाली स्थाली को शिक्य पर स्थापित कर उसे दक्षिण अग्नि के ऊपर लटकाकर पुनः इस स्थाली पर बालनिर्मित पवित्र तथा पवित्र के ऊपर रुक्म या कुण्डल तथा दो या तीन स्वर्ण निष्क या कम से कम एक शतमान स्वर्णखण्ड रखा जाता है। अध्वर्यु इस स्वर्ण खण्ड पर सुरा के अवशिष्ट भाग का समवनयन करता है। अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं होता क्रमशः पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में खड़े हुए स्थाली में स्रवित हुई सुरा का पितृमन्त सोमदेवताक मन्त्रों से उपस्थान करते हैं।[१९८] कतिपय आचार्यों के मतानुसार यदि यजमान ब्राह्मण के अतिरिक्त राजन्य या वैश्य हो; तो उसे उक्त कृत्य के स्थान पर स्वयं ही अवशिष्ट सुरा को भी

---

१९२. वारा.श्रौ. ३/२/७/३९

१९३. वही, ३/२/७/४५ इति उत्तरस्मिन्नग्नौ पयोग्रहान्जुहोति।

१९४. वही, ३/२/७/४७

१९५. वही, ३/२/७/७५

१९६. वही, ३/२/७/७६

१९७. वही, ३/२/७/७६ यजमानो वा स्वयं भक्षयेत्।

१९८. वही, ३/२/७/७७-८०, सश्रौ १३/८/३२-३५, तैसं २/६/१२, वासं १९/५२-६०

लेना चाहिए।[१९९]

पशु-पुरोडाशों के अनुष्ठान के बाद पशु अङ्गों को आहुति दी जाती है, किन्तु स्विष्टकृत् के अतिरिक्त स्विष्टकृत् में इडा का विधान करणीय है।[२००] ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त समस्त कृत्य एक ही साथ किये जाते हैं। इस अवसर पर बैल और वडवा यज्ञीय दक्षिणा हैं।[२०१]

अवभृथ

अब सभी लोग हृदयशूल, मासर (सुराफेन), एवं सुरापात्रों के साथ अवभृथ के लिए जाते हैं। यह कृत्य सौत्रामणी के संस्थित होने के अनन्तर ही करणीय है।[२०२] इसके समस्त कृत्य भी वरुणप्रघास की तरह ही सम्पन्न किये जाते हैं[२०३] किन्तु वरुणप्रघास में प्रयुक्त ऋज्ञीष् के स्थान पर इसमें मासर का प्रयोग विहित है, शेष समस्त कृत्य यथाविनिर्दिष्ट विधि से सम्पन्न कर तथा हृदयशूल को अवभृथ के जल में फेंक कर सभी लोग वापस आ जाते हैं।[२०४]

कौकिली सौत्रामणी

कौकिली सौत्रामणी की सम्पूर्ण विधि सौत्रामणी के समान ही है, किन्तु इसके कतिपय स्वतन्त्र विधान भी हैं। इसका अनुष्ठान सौत्रामणी की कामना से करणीय है तथापि उन लोगों द्वारा भी यह अनुष्ठेय है; जो तेजस् एवं बलकामी हो; तथा जिन्होंने सोम पीने के बाद उसे वमन कर दिया हो।[२०५] इसकी प्रारम्भिक तैयारी तक की विधि सामान्य है तथा सुरा संस्कारादि कृत्य सौत्रामणी की भाँति सम्पन्न किये जाते हैं। तदनन्तर

---

१९९. द्र० वैश्रौ २५.५/११.५ राजन्यवैश्यो तु सुरोच्छेष स्वमेव पिवेताम्। तथा सश्रौ १३/८/२५

२००. वारा०श्रौ ३/२/७/८२-८३, तु० सश्रौ १३/८/३६, काश्रौ १९/४/१ वैखाश्रौ २२. ६/११-६

२०१. वही, ३/२/७/८४

२०२. वही, तत्रैव ८५ संस्थिते मासरैः शूलैश्चावभृथं यन्ति।

२०३. वही, ३/२/७/८५ यथा वरुणप्रघासेषु।

२०४. वही, ३/२/७/८६-८७ हृदयशूलानुपचरन्ति। सश्रौ १३/८/३८-४२

२०५. वही, ३/२/८/१ कौकिल्यां ते कामा ये पूर्वस्यामन्ये च तेजस्कामस्य वीर्यकामस्य बलकामस्य। मान०श्रौ ५/२/११/२ ते कामाः सोमवामिनश्च।

हवियों का निर्वाप विहित ६ मन्त्रों से किये जाते हैं।[२०६] अदिति देवतार्थ चरु का भी अर्पण करणीय है।[२०७] इष्टि के संस्थित होने पर इन्द्र हेतु एक वृद्ध वृषभ का उपाकरण किया जाता है। इसी समय बछड़े एवं गाय क़ा दान दिया जानो का विधान है। ज्ञातव्य है कि दक्षिणा देते समय प्रथमतः वत्स का तदनन्तर गाय (बछड़े को भी) को देने का निर्देश है।[२०८] पशुबन्ध के लिए प्रथम अनुवाक के आप्री मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है तथा 'आ चर्षणिप्रा०' आदि ६ ऋचाओं का प्रयोग याज्यानुवाक्या के रूप में करने के बाद द्वितीय अनुवाक के आप्री मन्त्रों का प्रयोग प्रयाज एवं प्रैष के रूप में तथा तृतीय एवं चतुर्थ आप्री मन्त्रों का प्रयोग तीनों वपा एवं पुरोडाशों की आहुति के समय विनियुक्त किये जाते हैं।[२०९] उन में से प्रथम आप्री मन्त्र का उच्चारण कर द्वितीय मध्य आप्री मन्त्र का पाठ करना चाहिए। तदनन्तर अन्तिम और उसके बाद पुनः प्रथम मन्त्र से यजन करने का विधान है। यह व्युत्क्रम अवदान ग्रहणपर्यन्त चलता है।[२१०] सातवें मन्त्र से आप्री मन्त्र का प्रयोग अवदानों के ग्रहण के समय प्रयुक्त किया जाता है।[२११] बाद में ग्रहों के ग्रहण में अन्तिम ३ आप्री मन्त्रों का पाठ होता है। साथ ही याज्यानुवाक्या के ६ मन्त्र हैं।[२१२] सौत्रामणी के अनुष्ठान के संस्थित होने के पूर्व यदि यजमान की मृत्यु हो जाती है; तो हवियों से अवदान ग्रहण कर तत्संबद्ध देवताओं के नामोच्चारण पूर्वक स्वाहाकार के साथ आहुति देने तथा इसी विधि से आज्याहुति देने का निर्देश है[२१३] किन्तु कतिपय आचार्य विकल्पस्वरूप पुनराधेय या अग्न्याधेय अनुष्ठान करने का विचार प्रस्तुत करते हैं।[२१४]

२०६.॰ वारा.श्रौ. ३/२/८/२-३
२०७. वही, ३/२/८/४
२०८. वही, ३/२/८/५-६ वत्सं पूर्वस्यां ददाति मातरमुत्तरस्याम्।
२०९. वही, ३/२/८/७-९
२१०. वही, ३/२/८/१२
२११. वही, ३/२/८/१३ अवदानेषु सप्तमः।
२१२. वही, ३/२/८/१४-१५
२१३. द्र० वैश्रौ २०/२२
२१४. वही, २०/३१

8. राजसूय यज्ञ

यह दो वर्षों से भी अधिक समय तक चलने वाला यज्ञ है, इसके सम्पादन हेतु एकमात्र राज्यकामी क्षत्रिय राजा ही अधिकृत है।[२१५] आचार्य कात्यायन के अनुसार राजसूय यज्ञ उसी व्यक्ति द्वारा अनुष्ठेय है; जिसने इस यज्ञ के अनुष्ठान के पूर्व वाजपेय यज्ञ का सम्पादन न किया हो[२१६] जबकि आश्वलायन के मतानुसार वाजपेययज्ञ के अनुष्ठान के अनन्तर ही राजसूय का सम्पादन विहित है।[२१७] पूर्वोक्त मत की पुष्टि हमें शतपथ ब्राह्मण में भी मिलती है; कि राजसूय सम्पादन से व्यक्ति को राजा की उपाधि मिलती है और वाजपेय से सम्राट् की। क्योंकि राजा की उपलब्धि के अनन्तर ही सम्राट् की उपाधि मिलती है। अत: कात्यायनाचार्य का मत उचित प्रतीत होता है।[२१८]

अनुमति एवं निर्ऋति के लिए याग

स्पष्ट है कि राजसूय के सम्पादन से पूर्व अग्निष्टोम यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। तदनन्तर चैत्रमास की पूर्णिमा के सात दिन पूर्व से प्रत्येक दिन एक-एक करके ७ आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[२१९] पूर्णिमा के दिन अध्वर्यु अनुमति के लिए अष्टाकपालक पुरोडाश का निर्वाप करता है।[२२०] तदनन्तर शम्या को दृषद् के साथ रखकर चावलों का अधिवपन किया जाता है। चावल पीसते समय अध्वर्यु पश्चिमाभिमुख होकर उसे दक्षिण पश्चिम में गिराता है तथा इसी गिरे हुए पश्चिम दिशा के आटे से निर्ऋति देवता के लिए सर्वप्रथम एक कपाल पुरोडाश का विधान किया जाता है।[२२१] तदनन्तर अनुमति एवं निर्ऋति दोनों देवताओं

---

२१५. वारा०श्रौ ३/३/१/१ राज्ञो राजसूयः। तु० मान०श्रौ ९/१/१/१ ला श्रौ ९/१/१, आपश्रौ १८/८/१

२१६. द्र० काश्रौ १५/१/२ अनिष्टिनो वाजपेयेन।

२१७. द्र० आ०श्रौ ९/९/१९

२१८. द्र० शब्रा ९/३/४/८

२१९. वारा०श्रौ ३/३/१/२ अग्निष्टोमेनेष्ट्वा चैत्र्यां पौर्णमास्यां सप्तरात्रस्य पुरस्तादिष्टिं निर्वपति।

२२०. वारा०श्रौ ३/३/१/३ अनुमत्या अष्टाकपालं निर्वपति।

२२१. वही, ३/३/१/४

के पुरोडाशों को साथ-साथ गर्म करते हैं। एतदर्थ निर्ऋति देवतार्थ पुरोडाश को दक्षिणाग्नि में निर्मन्त्रक तथा अनुमति देवता के निमित्त पुरोडाशको गार्हपत्याग्नि में मन्त्र के द्वारा पकाया जाता है।[२२२] तदनन्तर गार्हपत्याग्नि में 'वीहि स्वाहाहुतिं जुषाण०' इत्यादि मन्त्र से आहुति देकर प्रदक्षिणक्रम से घूमता हुआ अध्वर्यु दक्षिण दिशा में जाकर ऊसर भूमि में पहुँचकर वहाँ पर दक्षिणाग्नि के एक अँगारे को स्थापित करके विस्रंसिका काष्ठ के एक दण्ड से अथवा अँगूठे से मन्त्र द्वारा निर्ऋति के पुरोडाश का हवन करता है।[२२३] इस समय एक कोने में फैले हुए काले वस्त्र की दक्षिणा देय है।[२२४] अब ऊसर भूमि से वापस यज्ञशाला में आकर गार्हपत्य अग्नि में 'स्वाहा नमो य इदं चकार०' इत्यादि मन्त्र से अनुमति देवता के निमित्त पुरोडाश-आहुतियाँ प्रदान करता है। ज्ञातव्य है कि अनुमति देवता के याग में धेनु की दक्षिणा विहित है।[२२५]

अनुमति एवं निर्ऋति याग के अनन्तर शम्या के उत्तर में पीसते समय गिरे हुए अन्नकणों को लेकर उत्तर दिशा में दूर तक अध्वर्यु द्वारा गमन किया जाता है और वल्मीकिवपा में छिद्र करके 'इदमहममुष्यामुष्यायणस्य क्षेत्रियमवयज०' इत्यादि मन्त्र द्वारा आहुति प्रदान करता है।[२२६] तदनन्तर आटे को ढेले से आच्छादित करता है।[२२७]

आग्रायण एवं चातुर्मास्य

दूसरे दिन आदित्य देवता के नाम से घृताक्त चरु की आहुति प्रदान की जाती है और इसी दिन आग्रायण इष्टि की जाती है। तदनन्तर चातुर्मास्य के चारों पर्वों का क्रमानुसार अनुष्ठान सम्पादित किया जाता है। इसका प्रारम्भ पूर्णिमा के दिन किया जाता है और एक वर्षपर्यन्त समाप्त किया जाता है। आग्रायण इष्टि के अन्तर्गत सरस्वती के लिए द्वादश

---

२२२. वारा.श्रौ. ३/३/१/५ उभौ सह शृतौ कुर्वन्ति।
२२३. वही, ३/३/१/७
२२४. वही, सूत्र ८ वासः कृष्णं भिन्नान्तं दक्षिणा।
२२५. वही, सूत्र ९-१० इति गार्हपत्ये हुत्वानुमतेन प्रचरन्ति। धेनुर्दक्षिणा।
२२६. वही, ३/३/१/११
२२७. वही, सूत्र १२ तेनैव लोष्टेनापिदधाति...।

कपालक पुरोडाश का विधान किया जाता है।[२२८] ज्ञातव्य है कि आचार्य वाराह ने आग्रायण इष्टि की दक्षिणा में एक जोड़ी गाय देने का विधान किया है।[२२९]

इन्द्रतुरीय याग

आलोच्य श्रौतसूत्र में विहित विधि से चातुर्मास्य के समस्त पर्वों के अनुष्ठान के अनन्तर इन्द्रतुरीय याग का सम्पादन किया जाता है।[२३०] एतदर्थ अग्नि के लिए अष्टाकपालक पुरोडाश, वरुण के लिए यवनिर्मित चरु तथा रुद्र के निमित्त गवीधुकनिर्मित चरु और इन्द्र के लिए दधि का विधान करणीय है।[२३१] इसमें अन्तिम हवि इन्द्रदेवता के निमित्त प्रदान की जाती है। इसी कारण इस याग की 'इन्द्रतुरीय' संज्ञा है।

पञ्चेध्मीय याग

इन्द्रतुरीय याग के अनन्तर सायंकाल पञ्चेध्मीय याग किया जाता है।[२३२] इस याग हेतु अध्वर्यु चतुर्धा विभक्त आहवनीय अग्नि को चारों दिशाओं में स्थापित कर मध्य में पाँचवें भाग के रूप में भी रखता है।[२३३] अध्वर्यु 'ये देवाः पुरः सद०' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.६.३) द्वारा पर्यायक्रम में चारों दिशाओं की अग्नियों पर आहुति देने के अनन्तर पाँचवीं आहुति मध्य में स्थापित अग्नि पर देता है।[२३४] अन्त में पाँचों भागों को एकत्र करके उस पर प्रदक्षिण क्रम से एक आहुति प्रदान करता है।[२३५] इस याग की दक्षिणा में पाँच बैल या घोड़ों से वहनीय रथ प्रदान करने का निर्देश है।[२३६]

---

२२८. वारा.श्रौ. ३.३.१.१३-१५
२२९. वही, ३/३/१/१४ मिथुनौ गावौ दक्षिणा।
२३०. वही, ३/३/१/१५ इन्द्रतुरीयेण यजेत।
२३१. द्र० तै सं० १/८/७, काश्रौ १५/१/२२, मान०श्रौ ९/१/१/२१
२३२. वारा०श्रौ ३/३/१/१६ सायं पञ्चेध्मीयेन।
२३३. वही, सूत्र २१ आहवनीयं चतुर्धा प्रतिदिशं व्यूहति मध्ये पञ्चमम्।
२३४. वही, ३/३/१/२२ इति पर्यायैर्जुहोति मध्ये पञ्चमेन।
२३५. वही, ३/३/१/२३
२३६. वही, ३/३/१/२४ रथः पञ्चवाही दक्षिणा।

अपामार्ग होम

पञ्चेध्मीय याग के अनन्तर जल बहने वाले स्थल से अपामार्ग का आहरण किया जाता है तथा उसे सुखाकर उसका सक्तू बनाया जाता है। अध्वर्यु प्रदक्षिणक्रम में यज्ञमण्डप से दक्षिण दिशा में जाकर ऊसर भूमि पर एक अङ्गार स्थापित कर पलाश-निर्मित स्रुवा से उस पर आहुति देता है।[२३७] तदनन्तर अग्नियों पर उपस्थान किया जाने का विधान है। इस याग की दक्षिणा वस्त्र है।[२३८]

देवियों की हवि

इसके बाद निम्नस्तरीय ५ देवियों के लिए यजन करने का विधान है।[२३९] एतदर्थ धातृ को द्वादशकपालक पुरोडाश एवं अनुमति, राका, सिनीवाली तथा कुहू को चरु अर्पित किये जाने का निर्देश है। धातृ को द्वादशकपलाक पुरोडाश का विधान मध्य अथवा अन्त में ही करना चाहिए।[२४०]

त्रिषंयुक्त होम

तदनन्तर अगले दिन त्रिषंयुक्त होम किया जाता है। इसके अन्तर्गत अग्नीषोमीय एकादश कपालक पुरोडाश अथवा इन्द्रासोमीय एकादश कपालक पुरोडाश एवं सोमदेवता के निमित्त चरु कां विधान किया जाता है।[२४१] इस याग में दक्षिणास्वरूप भूरा बैल प्रदान किये जाने का निर्देश है।[२४२] इस याग के पश्चात् अग्निवैश्वानर एवं वरुण के लिए याग किया जाता है। एतदर्थ अगले दिन वैश्वानर के लिए द्वादश कपालक पुरोडाश एवं वरुण हेतु यव-निर्मित चरु का अर्पण विहितव्य है।[२४३] इस याग के अनन्तर दक्षिणा के रूप में हिरण्य और अश्व प्रदान किये जाने का विधान है।[२४४]

---

२३७. वारा०श्रौ ३/३/१/१७-१८ अपां न्ययनादपामार्गानाहरन्ति।...
२३८. वही, सूत्र १९-२० वासो दक्षिणा।
२३९. वही, सूत्र २५
२४०. वही, ३/३/१/२६
२४१. वही, ३/३/१/२८-३०
२४२. वही, ३/३/९/३० बभ्रुर्दक्षिणा इति...।
२४३. वही, ३/३/१/३१
२४४. वही, ३/३/१/३२ हिरण्यमश्वश्च दक्षिणा।

रत्नी होम

बारह दिनों तक चलने वाली एवं प्रत्येक दिन एक-एक करके प्रदान की जाने वाली आहुतियों की 'रत्निनां हवींषि' संज्ञा है। ये आहुतियाँ रत्नों के घरों में दी जाती हैं।[२४४अ] रत्नों की संख्या भी १२ है, यथा - यजमान, सेनापति, पुरोहित, महारानी, सूत, ग्रामणी; क्षता, संग्रहीता, अक्षावाप, गोविकर्ता, दूत या पालागल एवं परिवृक्ती आदि।[२४५] इन १२ रत्नों के घरों में क्रमशः इन्द्र, अनीकवान् अग्नि, बृहस्पति, अदिति, वरुण, मरुत, सविता, अश्विनौ, रुद्र, अग्नि, निर्ऋति आदि को हवियों का अर्पण किया जाता है।[२४६] प्रत्येक देवता के नाम से प्रदान की गयी आहुतियों के अनन्तर इस अनुष्ठान की दक्षिणा प्रदान किये जाने का क्रम आता है। जिन रत्नों के घरों में आहुतियाँ दी जाती हैं; वे सब राजा के समर्थक एवं अनुयायी बना लिये जाते हैं। उक्ताहुतियों के पश्चात् पुनः राजा के यहाँ इन्द्र देवता को एकादश कपालक पुरोडाश अर्पित किया जाता है।[२४७]

अहोमुक् इन्द्र के लिए याग

इस याग में अच्छे संरक्षण हेतु इन्द्रदेवता को एकादश कपालक पुरोडाश अर्पित किया जाता है। अर्पण में विनियुक्त मन्त्र 'इन्द्रायाँ होमुच्०' (मै.सं.II.६.६:६६.१४) इत्यादि है। एकादश कपालक पुरोडाश के अतिरिक्त प्रतिदिन उक्त मन्त्र द्वारा यजन का भी विकल्प प्रस्तुत है। इस प्रकार इस अनुष्ठान में अहोमुक् इन्द्र हेतु दो प्रकार से यजन करणीय है।[२४८]

मित्र एवं बृहस्पति के लिए याग

रत्नी हवियों के अनन्तर मित्र एवं बृहस्पति देवता के निमित्त याग का सम्पादन होता है। ज्ञातव्य है कि यह याग अभिषेचनीय पर्व के लिए

२४४अ. द्र० मैक्डानल, वै० इ०, द्वितीय भाग, पृ० २००

२४५. द्र० काश्रौ १५/३/१-२

२४६. द्र० तै.सं १/८/९

२४७. द्र० मान०श्रौ ९/१/१/३८

२४८. वारा०श्रौ ३/३/१/४० इति द्विविधे।

दीक्षणीय है।[२४९] इस याग में अभिषेचनीय दीक्षा की भाँति मित्र और बृहस्पति के लिए चावल से बनी चरु का अर्पण किया जाता है। एतदर्थ रुग्ण होकर स्वत: गिरे हुए अश्वत्थ वृक्ष की शाखा से चरु का पात्र बनाया जाता है।[२५०] श्वेत वत्स वाली श्वेत गौ का दूध दुहा जाता है तथा यह दूध स्वत: मथित होकर आज्य बन जाता है।[२५१] आधी यज्ञीय बर्हि का कर्तन करता है। शेष आधी स्वत: कट जाती है। इसी प्रकार वह आधी वेदि की स्वयमेव रचना करता है, किन्तु आधी वेदि स्वत: तैयार हो जाती है।[२५२] वह आधे इध्मों को काटता है और आधे इध्म स्वयं कट जाते हैं।[२५३] इसके बाद अब अध्वर्यु 'मित्राय जुष्टं बृहस्पतये जुष्टम्' इत्यादि मन्त्र के द्वारा मित्र एवं बृहस्पति देवता के निमित्त चरु का निर्वाप करता है। एतदर्थ वह यज्ञीय पात्रों का ग्रहण एवं उनमें आज्य का लेपन करके प्रथमत: छोटे छोटे दानों वाले तण्डुलों को गर्म करता है। तदनन्तर यथविष्ठ तण्डुलों का मित्रदेवतार्थ निर्वपन करके दोनों प्रकार के चरुओं को एक ही साथ गर्म किया जाता है।[२५४]

अध्वर्यु आहुतियाँ प्रदान करते समय सर्वप्रथम मित्रदेवता के चरु से और तदनन्तर बृहस्पति देवता के चरु से आहुतियाँ प्रदान करता है।[२५५] आहुति प्रदान के समय दक्षिणा का भी विधान है। यथा, मित्र चरु के समय एक अश्व तथा बृहस्पति चरु के निमित्त श्वेत पृष्ठ वाला बछड़ा सुनिश्चित है, किन्तु विकल्प स्वरूप उक्त दोनों दक्षिणाओं के स्थान पर श्वेत बछड़े से युक्त श्वेत गौ की दक्षिणा का विधान है।[२५६]

---

२४९. वारा.श्रौ. ३/३/१/४१ मैत्राबार्हपस्पत्यमभिषेचनीयस्य दीक्षणीया:।
२५०. वही, ३/३/१/४२ स्वयँरुग्णाया अश्वत्थशाखाया: पात्रं भवति।
२५१. वही, ३/३/१/४३-४६
२५२. वही, ३/३/१/४७-४८ अर्धं वेद्या: कुर्वन्त्यर्धं स्वयंकृतम्। अर्धं बर्हिषो दात्यर्धं स्वयं दिनम्। तु० मान०श्रौ ९/१/२/७
२५३. वही, ३/३/१/४९ अर्धं इध्मस्य छिनत्यर्धं स्वयमावपनम्।
२५४. वही, ३/३/१/५०-५३ उभौ सह श्रृतौकुर्वन्ति। तु० ९/१/२/७
२५५. वही, ३/३/१/५४, ५५ मैत्रेण पूर्वेण प्रचरन्ति।
२५६. वही, ३/३/२/५६ वा श्वेता श्वेतवत्सा।

देवसुओं की हवियाँ

शक्ति की प्राप्ति के लिए यजमान के द्वारा देवसुओं की हवियाँ प्रदान की जाती है, क्योंकि देवसु हवियों के देवता शक्ति प्रदान करने वाले होते हैं। इसीलिए वे देवस्य हैं। एतदर्थ अग्नीषोमीय पुरोडश के निर्वाप के पश्चात् 'अग्नये गृहपतये०'[२५७] इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.६.६) से देवसुओं की कुल आठ आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[२५८] इसके अन्तर्गत बृहस्पति अग्नि के लिए अष्टाकपालक पुरोडाश, बृहस्पति सोम के चरु, इन्द्र के लिए लाल चावल निर्मित एकादश कपालक पुरोडाश, मित्र हेतु चरु, वरुण के लिए जौ का चरु, रुद्र के लिए गवीधुक् चरु। स्विष्टकृत् आहुतिपर्यन्त समस्त आनुष्ठानिक विधियाँ सामान्य रूप से ही सम्पन्न की जाती है।[२५९]

तदनन्तर यजमान का आश्रावण किया जाता है। स्मरणीय है कि यह कृत्य स्विष्टकृत याग के पूर्व ही सम्पन्न कर लिया जाता है। यजमान इसके अन्तर्गत अपने गोत्र तथा प्रजा और पुत्रादि का परिचय देता है। जिससे ज्ञात होता है; कि वह संप्रभुता सम्पन्न होने की अभिलाषा रखता है।[२६०]

देवसुओं की आहुतियों तथा यजमान के आश्रावण के अनन्तर अभिषेचनीय इष्टि की जाती है। साथ ही साथ इस कृत्य के पश्चात् माध्यन्दिन सवनीय हवियाँ भी प्रदान की जाती हैं। इसके बाद मरुत देवता के निमित्त एकविंशति कपालों का आधान किया जाता है।[२६१] आधान कार्य का सम्पादन करते हुए अध्वर्यु के द्वारा मन्त्र से पर्याय क्रम में पात्रों का प्रयोग किया जाता है। इसी समय दक्षिणा का भी विधान है; जो कि अपरिमित रूप में दी जाती है।[२६२] उक्त आहुति के पश्चात् ही मरुत को पयस्या की भी आहुति प्रदान की जाती है।

---

२५७. वारा.श्रौ. ३/३/१/६०
२५८. वही, ३/३/१/६०
२५९. द्र० मान०श्रौ ९/१/२/२०
२६०. वारा०श्रौ ३/३/२/१-२
२६१. वही, ३/३/२/४ तु मान०श्रौ ९/१/२/२८
२६२. वही, ३/३/२/५-६, तु० मान०श्रौ ९/१/२/३०

अभिषेचनीय जल

तत्पश्चात् अध्वर्यु यजमान के अभिषेक के लिए जलग्रहण करता है। एतदर्थ वह एक स्वर्ण तश्तरी को दर्भ युक्त करता है और उसी के द्वारा ग्रहण किये गये जल को पवित्र करता है। तदनन्तर उत्पवन करके वह पलाश, अश्वत्थ, उदुम्बर तथा न्यग्रोध की लकड़ी से बने हुए चमसों को जलाभिपूरित करता है तथा शेष जल की आग्नीध्रीय धिष्ण्य में आहुति करता है। अब यजमान का वह अनुमन्त्रण करता है।[२६३] इस प्रकार श्रौतसूत्रविहित १७ प्रकार के जलों के द्वारा यजमान का अभिषेक किया जाता है। शतपथब्राह्मण के अनुसार जल किसी न किसी शक्ति का प्रतीक ही है। अत: सब प्रकार के जलों का ग्रहण करना, शक्ति का एकीकरण करना है।[२६४] अनेकविध जलों का आहरण क्रमशः नदी का, बहती नदी का, किसी व्यक्ति या पशु के प्रवेश से विह्वलित जलराशि से, बहती नदी के उलटे रूप में बहते हुए जल का, सामुद्रिक जल का तथा समुद्र की लहरों, एवं भ्रमरोत्पन्न जल का वर्षा, झील, कूप, जल और तुषार आदि जलों का ग्रहण करणीय है।[२६५]

वस्त्र

यजमान को उसके दीक्षित वस्त्र के ऊपर ही तार्प्य एवं क्षौम वस्त्र पहनाया जाता है। वस्त्रों के पहनने के बाद वह पगड़ी बाँधता है।[२६६] ५० दर्भों से यजमान के दाहिने नेत्र एवं ५१ दर्भों से वाम नेत्र का अभ्यञ्जन किया जाता है।[२६७]

राज-आवेदन

---

२६३. वारा०श्रौ ३/३/२/२७-२९, तु० सश्रौ १३/५/१०-१४, काश्रौ १५/४/२१-३६, आपश्रौ १८/१३/१/१८

२६४. द्र० श.ब्रा. ५/३/४/१

२६५. वारा०श्रौ ३/३/२/८/२६, तु० आपश्रौ १८/१३/१-१८ काश्रौ १५/४/२१-४२

२६६. वही, ३/३/२/३० इति तार्प्यं यजमानः परिधते.........इति क्षौमं संशुद्धं... इत्युष्णीषम् तु० मान०श्रौ ८/१/३/८

२६७. वही, ३/३/२/३१ पञ्चाशता दक्षिणमक्ष्याङ्क्त एकपञ्चाशता वामम्। तु० मान०श्रौ ९/१/३/१०

एतदर्थ अध्वर्यु यजमान से आवेदन कराता है। इसी समय उससे मन्त्रों का पाठ भी कराया जाता है, जो कि उपांशु स्वर में उच्चरित होता है। तत्पश्चात् अध्वर्यु यजमान को धनुष् एवं बाण धारण कराता है। यजमान अपने दाहिने हाथ को ऊपर उठाता है। तदनन्तर मन्त्र द्वारा पुनः वाम हस्त ऊपर करता है।[२६८] इस प्रकार ऊपर हाथ उठाये हुए यजमान का खड़े होकर अभिमन्त्रण किया जाता है।[२६९]

व्याघ्र चर्मावरोहण

इसके बाद अध्वर्यु व्याघ्र चर्म का आस्तरण करता है। एतदर्थ वह व्याघ्र चर्म को सदस् में पूरब की ओर उसकी ग्रीवा करके बिछाता है।[२७०] बिछे हुए चर्म के ऊपर यजमान चढ़कर मन्त्र पाठ करता है तथा काँच के एक टुकड़े को पैर से नपुंसक की ओर फेंकता है। तदनन्तर 'अवेष्टा दन्दशूका०' (मै.सं.II.६.१०) इत्यादि मन्त्र के द्वारा ताम्रखण्ड को भी केशवपन करने वाले व्यक्ति (नाई) की ओर फेंकता है। पुनः 'मृत्योः पाहि०' आदि मन्त्र के द्वारा अध्वर्यु यजमान के पैर. के नीचे चाँदी एवं स्वर्ण के टुकड़ों का आधान करता है तथा हीरा एवं स्वर्ण का टुकड़ा ग्रहण कर उसके ऊपर स्थापित करता है।[२७१] ज्ञातव्य है कि इस कृत्य से यजमान को अमरत्व की संप्राप्ति होती है, ऐसी धारणा रही है।

अभिषेक

चर्म आरोहण कर्म के पश्चात् चतुर्दिक् रूप से यजमान का अभिषेचन कृत्य किया जाता है, किन्तु इस कृत्य के पूर्व ही अध्वर्यु के द्वारा 'अग्नये स्वाहा' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.६.११) के द्वारा पर्याय क्रम से द्वादश पार्थाहुतियों का विधान किया जाता है।[२७२] यजमान अभिषेक के समय बाहु ऊपर उठाकर बैठा रहता है। इस प्रकार बैठे हुए यजमान को ब्राह्मण पलाश-निर्मित चषक से और वैश्य अश्वत्थनिर्मित चषक से तथा

---

२६८. वारा०श्रौ ३/३/२/३२-४०
२६९. वही, सूत्र ४१ इति उद्यतबाहुं तिष्ठन्तमभिमन्त्रयते तु० मान०श्रौ ९/१/३/१६
२७०. वही, ३/३/२/४२-४३
२७१. वही, ३/३/२/४४-४६
२७२. वही, ३/३/२/४७

सजातीय बन्धु उदुम्बर के चषक से और उसका मित्र न्यग्रोध चषक द्वारा उसे सींचता है।[२७३] अध्वर्यु बचे हुए जल को पलाश के चषक में गिराकर उसे आग्नीध्र शाला में स्थापित करता है तथा काले मृग के सींग को अभिमन्त्रित करता है।[२७४] इसी क्रम में यजमान के नाभि के ऊर्ध्व अंश को तीन बार अभिषिक्त किया जाता है।

रथारोहण

अध्वर्यु रथ को 'इन्द्रस्य वज्रोऽसि' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.६.११) के द्वारा चात्वाल के अन्दर से आ कर उसे योजित है और उसके चक्र पर यजमान चढ़ते हुए 'विष्णोः क्रमोऽसि' आदि मन्त्र (मै.सं.II.६.११) का पाठ करता है।[२७५] पूर्ण रूपेण रथ पर आरूढ होने के अनन्तर वह 'मरुतां प्रसवे जय०' इत्यादि का जाप करता है।[२७६] तदनन्तर ब्रह्मा उसका त्रिष्टुप् मन्त्र के द्वारा अनुगमन करता है।[२७७]

विजयप्राप्ति

अब यजमान विजय हेतु प्रस्थान करता है और वह क्षत्रिय पर विजय प्राप्त करना चाहता है। एतदर्थ यजमान क्षत्रिय पर तीर चलाता है।[२७८] विजय प्राप्त करने के बाद वह मन्त्र पाठ करता हुआ वापस लौटता है तथा अपनी पत्नी को अपना धनुष् प्रदान कर देता है। पत्नी उसे सँभाल कर रख लेती है। इस प्रकार विजय की प्राप्ति होती है।[२७९] तत्पश्चात् अध्वर्यु चाँदी एवं रुक्म का अभिमर्शण करता है। यजमान अपनी दायीं एवं बायीं बाहु को समेटता है और उन्हें आमिक्षापर्यन्त झुकाकर सुअर के चर्म से बने हुए जूते को पहनता है।[२८०]

आसन्द्यावरोहण

अध्वर्यु आसन्दी का ग्रहण करके उसे आहवनीय से प्रारम्भ कर

---

२७३. वारा.श्रौ. सूत्र ४८, पलाशेन ब्राह्मण आश्वत्थेन वैश्य औदुम्बरेण... नैयग्रोधेन।
२७४. वही, ३/३/२/५०
२७५. वही, ३/३/२/५१-५४
२७६. वही, ३/३/२/५५ इति आरुह्य जपति।
२७७. वही, ३/३/३/१ इतित्रिष्टुभा ब्रह्मान्वेति।
२७८. वही, ३/३/३/२-३ सृत्वा राजन्यं जिनाति तस्मै तामिषुमस्यति।
२७९. वही, ३/३/३/४-७ इति उपदधाति।
२८०. वही, सूत्र ८-११, वाराही उपानहा अभ्यवरोहति।

उत्तर तक बिछाता है। यजमान 'विष्णो क्रामन्तमसि' इत्यादि का पाठ करता हुआ आसन्दी पर आरूढ होता है। इस समय यजमान के चढ़ते हुए अध्वर्यु उसका अनुमन्त्रण करता है तथा 'अग्नये स्वाहा' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.II.६.१२) के द्वारा रथविमोचनीय आहुति प्रदान करता है[२८१] और सारथि समेत रथ को लाकर रखता है।[२८२] यजमान को आसन्दी से उतारा जाता है। उतर कर यजमान अध्वर्यु का आमन्त्रण करने के अनन्तर पर्यायक्रम से ब्रह्मा होता एवं उद्गाता का क्रमशः आमन्त्रण करता है।[२८३]

अक्षक्रीडा

तदनन्तर 'एष वज्र०' इत्यादि मन्त्र के द्वारा ब्रह्मा स्फ्य ग्रहण कर उसे राजा को प्रदान करता है। राजा इसे लेकर प्रतिहित को, प्रतिहित सेनानी को, सेनानी संग्रहीता को, संग्रहीता सूत को और सूत ग्रामणी को तथा ग्रामणी अक्षावाप को प्रदान करता है।[२८४] इस प्रकार आदान-प्रदान के अनन्तर उसी स्फ्य के द्वारा अधिदेवन कृत्य किया जाता है। अक्षभूमि को बनाकर पाशों को फेंका जाता है और षष्ठवर्षीय गाय को जीत लेने के लिए क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र आदि अक्षक्रीडा प्रारम्भ करते हैं।[२८५] पराजितों के द्वारा विजयी को षष्ठवर्षीय गाय दी जाती है। ब्राह्मण के द्वारा राजा को चार सौ अक्षपाशों को विपरीत दिशा में खींचकर दिया जाता है और उसे राजा स्वीकार कर चुनता है। तदनन्तर ब्राह्मण ५ अक्षों को देकर राजा से प्रश्न करता है। दक्षिणास्वरूप यजमान ब्रह्मा को भूभाग प्रदान करता है और वरों का वरण करता है। इसी समय अध्वर्यु माङ्गलिक नामों का आह्वान करता है।[२८६]

शुनःशेप गाथा

तदनन्तर हिरण्यकूर्च पर बैठा हुआ होता ऋचा एवं शुनः शेप की

---

२८१. वारा.श्रौ. सूत्र १२-१६
२८२. वही, ३/३/३/१८ सह सारथिना रथमादधाति।
२८३. वही, ३/३/३/१९-२०
२८४. वही, ३/३/३/२१-२२
२८५. वही, ३/३/३/२३-२५
२८६. वही, ३/३/३/२५-३१

गाथा का आख्यान सुनाता है।[२८७] अध्वर्यु हिरण्यकूर्च पर बैठा हुआ होता से आश्रावण प्रत्याश्रावण करता है। तब मैत्रावरुण देवता के निमित्त आमिक्षा प्रदान की जाती है। इसी समय ही रुक्म की दक्षिणा प्रदान की जाती है।[२८८]

अदभृथ

स्नान हेतु सभी लोग अपने-अपने वस्त्र, वाराह चर्म निर्मित जूतों एवं अपने अभिषेक पात्रों को ग्रहण करके अवमृथ के सन्निकट पहुँचते हैं। प्रथमतः यजमान जलाशय में प्रवेश करता है।[२८९] तदनन्तर जल और आहवनीय अग्नि में अध्वर्यु आहुतियाँ प्रदान करता है। दर्भस्तम्ब और वल्मीकि वपा पर भी आहुतियाँ देता है।[२९०]

अनुबन्ध्य गो एवं संसृप

तदनन्तर नीवारों एवं पशुपुरोडाशों का निर्वपन कर इन्द्र हेतु अनुबन्ध्या गौ का विधान किया जाता है।[२९१] संसृप आहुतियाँ प्रदान करते हुए अध्वर्यु एकादश कपालक पुरोडाश का सविता के निमित्त विधान करता है। तत्पश्चात् सरस्वती को चरु, पूषा एवं बृहस्पति के लिए एकादश कपालक पुरोडाश, इन्द्र के निमित्त एकादश कपालक, अग्नि के लिए अष्टाकपालक, त्वष्टा हेतु अष्टाकपालक पुरोडाश और सोम हेतु चरु तथा विष्णु हेतु त्रिकपालक पुरोडाश का निर्वाप किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से कुल सात आहुतियाँ प्रदान करणीय है।[२९२] उक्ताहुतियाँ क्रमानुसार अनुदिन पूर्व की ओर अग्रेषित होते हुए आहवनीय में प्रदान करनी चाहिए। ज्ञातव्य है कि त्वष्टा के लिए आहुति का विधान प्राग्वंश के मध्य में ही करना चाहिए।[२९३]

---

२८७. वारा०श्रौ ३/३/३/३२ ऋचो गाथांश्च होता शंसति हिरण्यकूर्च आसीनः।
२८८. वही, ३/३/३/३६ अत्रैव रुक्मौ ददाति।
२८९. वही, ३/३/३/३७-३८
२९०. वही, ३/३/४/१
२९१. वही, ३/३/४/२-३
२९२. वही, ३/३/४/४-८
२९३. वही, ३/३/४/९

दशपेय

संसृप होम के संस्थित हो जाने के अनन्तर यजमान दशपेय याग के लिए दीक्षित होता है।[२९४] स्मर्तव्य है कि दीक्षा के समय वह अपने शिर के केश एवं दाढ़ी-मूँछ का वपन नहीं करवाता है।[२९५] अध्वर्यु सोमक्रयण के निमित्त बछड़ों को हाँकता है; जिनकी निर्धारित संख्या १० है। इन्हीं बछड़ों से सोम राजा खरीदे जाते हैं।[२९६] यजमान द्वादश पुण्डरीक की माला को धारण करता है, जो उसकी दीक्षा का जल रूप होता है।[२९७] उपसद् के पूर्व ही आग्नेय अष्टाकपालक पुरोडाश याग का विधान करने के पश्चात् सोम तथा विष्णु देवतार्थ याग का निर्वाप करणीय है। अग्निष्टोम की भाँति ही दशपेय में भी रथन्तर पृष्ठ साम का प्रयोग किया जाता है। भक्षण के पश्चात् ऐसे १०० ब्राह्मणों के द्वारा सोम का पान किया जाता है। जो सभी ब्राह्मण अपेन कुलोत्पन्न १० सोमपायी पूर्वजों को क्रमशः जानते हैं। सोम पीते हुए १०-१० ब्राह्मण एक ही चमस् का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार कुल १० चमसों का प्रयोग किया जाता है।[२९८] इसीलिए इस कृत्य की 'दशपेय' संज्ञा है।[२९९] सोमपान के ही समय क्रमशः उनसे प्रश्न किया जाता है; कि 'आपके पितामह कौन हैं ?' इसी प्रकार पूर्वजों की स्त्रियों को भी पूछा जाता है। सोमपान के बाद होता, उद्गाता, अध्वर्यु आदि को दक्षिणा प्रदान की जाती है।[३००]

दशपेय कृत्य के अनन्तर केशवपनादि कृत्यों का सम्पादन करने के बाद दिशाओं की प्रसन्नता हेतु यागों का विधान किया जाता है। इसके साथ ही आग्नेय अष्टाकपालक पुरोडाश आदि के रूप में पञ्च हवियों का विधान किया जाता है। इसमें पाँच छिद्र भी होते हैं, अतः इसी कारण

---

२९४. वारा.श्रौ. ३/३/४/९ दशपेयाय दीक्षते।
२९५. वही, सूत्र १० न केशश्मश्रु वपति।
२९६. वही, ३/३/४/११-१३
२९७. वही, ३/३/५/११
२९८. वही, ३/३/४/१४-१६
२९९. द्र० शब्रा ५/४/५/२
३००. वारा०श्रौ ३/३/४/१७-२१

इन्हें पञ्चबिल की संज्ञा से भी जाना जाता है। पूर्णिमा के दिन की प्रात:कालीन सन्ध्या के समय प्रयुज संज्ञक छ: आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[३०१] इसके अन्तर्गत अग्नि, सोम, सविता एवं बृहस्पति तथा अग्निवैश्वानर के लिए हवियों के अर्पण के अनन्तर त्वष्टा हेतु अष्टाकपालक पुरोडाश का विधान किया जाता है। इस याग की दक्षिणा में रथ खींचने वाले बायें अश्व को प्रदान किया जाता है।[३०२] तदनन्तर अग्निहोत्र का अनुष्ठान सम्पादन प्रारम्भ किया जाता है; जो एक वर्षपर्यन्त चलता रहता है।

केशवपनीय कृत्य

एक वर्ष के अग्निहोत्र करते रहने के अनन्तर यजमान केशवपनीय कृत्य हेतु दीक्षित होता है। एतदर्थ यजमान अतिरात्र यज्ञ की विधि का अनुसरण करता है। अभिषेचनीय इष्टि के १ वर्ष के बाद वह अपना केशश्मश्रु बनवाता है। इसमें षोडशी सोमयाग का भी विधान किया जाता है।[३०३] केशवपन के समय यजमान दक्षिणी वेदि की श्रोणि के अन्दर आस्तृत आसन्दी पर आसीन होकर 'ये केशिन: प्रथमे सत्त्रमासते०' इत्यादि मन्त्र का पाठ करता है।[३०४]

पशुबन्ध

उक्त कृत्य के पूर्ण हो जाने के उपर्यन्त पशुबन्ध याग के द्वारा यजन किया जाता है। इसके अन्तर्गत मरुत को षष्ठ वर्षीय गर्भिणी एवं चितकबरी गौ और अदिति को भी गर्भिणी गाय का विधान किया जाता है। इस प्रकार पशु इष्टि की समाप्ति की जाती है।[३०५]

सत्यदूतों की हवियाँ

पशुबन्ध यज्ञ के अनन्तर सत्य सन्देष्टा के लिए 'सावित्रे प्रसवित्र' इत्यादि मन्त्र के द्वारा तीन आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं; जिसमें सविता

---

३०१. वारा.श्रौ. ३/३/४/३५-३७

३०२. वही, ३/३/४/३८ सव्यो रथवाहनवाहो दक्षिणा।

३०३. वही, ३/३/४/३९-४१

३०४. वही, ३/३/४/४२

३०५. वही, ३/३/४/४३, ४४

हेतु अष्टाकपालक पुरोडाश तथा अश्विनौ और पूषा के लिए एकादश कपालक पुरोडाश और सरस्वती के लिए चरु का विधान किया जाता है।[३०६] इसकी दक्षिणा के रूप में एक दण्ड, एक जोड़े जूते और एक चमड़े का बना हुआ झोला दूत को प्रदान किया जाता है।[३०७]

अन्य आहुतियाँ

तदनन्तर द्विरात्र के सम्पादन के द्वारा व्युष्टि का यजन किया जाता है। इसमें प्रथम दिन अग्निष्टोम और दूसरे दिन अतिरात्र के समान अनुष्ठान किये जाते हैं।[३०८] इसके अनन्तर क्षत्रधृति हेतु दीक्षित होता है। इस कृत्य के द्वारा शक्ति की प्राप्ति होती है। इसकी भी अनुष्ठेय विधि अग्निष्टोम के समान ही है। इसके अनन्तर देवियों के लिए हवन किया जाता है और पुनः देवसु के लिए आहुति एवं सौत्रामणी याग का विधान करणीय है। इसमें वैश्वानर अग्नि एवं वरुण के लिए एक-एक आहुति प्रदान की जाती है। इसके साथ ही साथ त्रैधातवीया आदि इष्टियों का भी सम्पादन किया जा सकता है।[३०९] ऐसी विकल्प व्यवस्था विहित की गयी है।

9. अश्वमेध-यज्ञ

प्राचीनतम यज्ञों में अश्वमेध यज्ञ का अतिशायी महत्त्व है। इस याग में बहुत से सवनीय पशुओं के होने पर भी अश्व की प्रधानता होने के कारण इसकी अश्वमेध संज्ञा है। अश्वमेध की राष्ट्र या राज्य संज्ञा भी है।[३१०] इसके अनुष्ठान हेतु विजयाकाङ्क्षी राजा अधिकृत है।[३११] कात्यायन ने भी इस यज्ञ की 'राजयज्ञ' संज्ञा करते हुए अनुष्ठान कर्ता के रूप में सर्वकामी राजा को अधिकार प्रदान किया है।[३१२] इस यज्ञ को यदि अबल व्यक्ति सम्पादित करते हुए हार जाता है और विजयी शत्रु के

---

३०६. वारा०श्रौ ३/३/४/४५
३०७. वही, ३/३/४/४६
३०८. वही, ३/३/४/४७-४९
३०९. वही, ३/३/४/५०
३१०. द्र० तैब्रा० ३/८/९ राष्ट्रं वा अश्वमेधः।
३११. वारा०श्रौ ३/४/१/१ राजा विजित्याश्वमेधेन यजेत।
३१२. द्र० काश्रौ २०/१/१ राजयज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य।

द्वारा उसका अश्व पकड़ लिया जाता है; तो अश्व के पकड़ लिये जाने पर यज्ञ के विनष्ट हो जाने का वर्णन है।[३१३]

इस यज्ञ का प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ल पक्ष की अष्टमी या नवमी की तिथि को अथवा ज्येष्ठ मास की इन्हीं तिथियों में किया जाने का निर्देश है।[३१४] इसके साथ ही साथ आचार्यों के एक वर्ग के मत में ब्रह्मौदन अमावास्याकी तिथि को पकाये जाने का भी विधान है।[३१५] तदनन्तर दूसरे दिन (उपवसथ के दिन) यजमान अग्नि का पर्यग्निकरण कर शिर के केश एवं दाढ़ी-मूँछ बनवा कर, स्नान करके नवीन एवं विना फटे हुए वस्त्र को पहनकर वेतसकट को आहवनीय के समीप रखता है।[३१६] वह उस पर नमस्कार करके बैठता है। इध्मों का आधान कर 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि मन्त्र द्वारा आठ आहुतियाँ पूर्णाहुति होम के रूप में अर्पित वाणी को नियन्त्रित करता है।[३१७] वाणी का नियमन रात्रि भर किये रहने का विधान है।[३१८]

इस यज्ञ में प्रजापति देवता के लिए तूपर बैल का आलभन विहित है।[३१९] ब्रह्मौदन को पकाने के लिए चारों दिशाओं से जल ले आया जाता है और उसी जल में दक्षिणाग्नि पर ब्रह्मौदन पकाया जाता है[३२०] तथा उसका भक्षण ४ महर्त्विजों (चारों प्रमुख ऋत्विजों)[३२०क] द्वारा किया जाता है। इस समय यजमान महर्त्विजों को शतमान दक्षिणा के रूप में प्रदान करता है।[३२१] यजमान रात्रिभर वाणी का नियन्त्रण किये रहता है।[३२२] प्रातःकालीन अग्निहोत्र के अनन्तर अध्वर्यु मूँज अथवा दर्भ की बनी हुई १२ या १३ अरत्नि मात्र लम्बी रस्सी अश्व को बाँधने के

---

३१३. द्र० तै ब्रा ३/८/९, योऽबलोश्वमेधेन यजते। ... हन्येतास्य यज्ञः।

३१४. द्र० काश्रौ २०/१/२/३ अष्टम्यां नवम्यां वा फाल्गुनी शुक्लस्या.........।

३१५. वही, २०.१.२.३ ग्रीष्म एके।

३१६. वारा०श्रौ ३/४/१/७ उत्तरस्यां पर्यग्निकृत्वा केशश्मश्रुः ...।

३१७. वही, ३/४/१/७, ८ इत्यष्टौ पूर्णाहुतीर्हुत्वा... वाचं यच्छति।

३१८. वही, ३/४/१/९ रात्रीं वाग्यतो भवति।

३१९. वही, ३/४/१/३-४ ऋषभस्तूपरः सर्वरूपः। तेन प्रजापत्येन।

३२०. वही, ३/४/१/११ चतुष्टयीष्वप्सु ब्रह्मौदनं श्रपयति।

३२०क. महर्त्विजों हेतु द्र०-ऋत्विजों में ब्रह्मा २००२-डॉ. रामहित त्रिपाठी मङ्गलम् प्रकाशन, इलाहाबाद

३२१. वही, ३/४/१/१२-१३ तं महर्त्विजः प्राश्नन्ति। तेभ्यः शतमानं ददाति।

३२२. वही, ३/४/१/९ रात्रीं वाग्यतो भवति।

निमित्त ग्रहण कर उसे ब्रह्मौदन में भिगोता है।[३२३] अश्वाभिधानी ग्रहण कर त्रिवर्षीय, सोमपायी कृष्ण अथवा पिशंग रंग वाले अश्व को बाँधते हैं।[३२४] यजमान का फुफेरा भाई अश्व के आगे-आगे चलता हुआ उसे जलाशय में ले जाता है[३२५] और उसका अनुगमन करते हुए मौसेरा भाई भी जाता है। सिन्ध्रक काष्ठ से बने हुए मुसल को लेकर पुंश्चली पुत्र अनुगमन करता है।[३२६] अश्व को जल में नहलाकर चारों दिशाओं में क्रमशः अध्वर्यु पूर्व की ओर से, ब्रह्मा दक्षिण की ओर से, उद्गाता उत्तर की ओर से और होता पश्चिम की ओर से खड़े रहते हैं तथा इसी समय अध्वर्यु आदि क्रमशः एक सौ राजकुमारों एवं राजा, क्षत्र एवं संगृहीता तथा सूत एवं ग्रामीण एक साथ खड़े रहते हैं। सभी लोग अश्व का प्रोक्षण करते हैं।[३२७] तदनन्तर चार आँखों (दो प्राकृत एवं दोनों आँखों के ऊपर चिह्नित आँख या गड्ढे से युक्त) वाले कुत्ते को ले आते हैं।[३२८] जल के भीतर पैर के बराबर जलस्तर तक अश्व लाकर खड़ा करते हैं[३२९] और मुसल प्रहार से पुंश्चली के पुत्र द्वारा श्वान का हनन किया जाता है।[३३०] ज्ञातव्य है कि श्वान हनन के समय मन्त्रोच्चारण का कार्य भी कियां जाता है।[३३१]

श्वानहनन के बाद अश्व के पेट के नीचे से उसका शव खींच कर जल में तैराया जाता है।[३३२] तदनन्तर अश्व को अग्नि के समीप

---

३२३. वही, ३/४/१/१४ द्वादशारत्निं रशनां त्रयोदशारत्निं वा मौंजीं दर्भमयीं वा ब्रह्मौदने पर्यस्ताम्...।

३२४. वारा०श्रौ ३/४/१/१४ इति अश्वाभिधानीमादाय... इत्यश्वमभिनिदधाति कृष्णपिशङ्गं त्रिहायणं सोमपं सोमपयोः पुत्रम्।

३२५. वही, ३/४/१/२० यः पितुरनुजायाः पुत्रः स पुरस्तादश्वं तीर्थाय नयति मातुरनुजायाः पुत्रः सपश्चादन्वेति।

३२६. वही, ३/४/१/२१ सैध्रकं मुसलमादाय पौंश्चलेयः पश्चादन्वेति।

३२७. वही, ३/४/१/१७, १८

३२८. वही, ३/४/१/२२ अनुनयन्ति श्वानं चतुरक्षम्।

३२९. वही, ३/४/१/२३ तीर्थान्ते पदतोऽभ्यश्वस्यनयति।

३३०. वही, ३/४/१/२४ इति पौंश्चलेयो मुसलेन श्वानं हन्ति।

३३१. वही, ३/४/१/२५

३३२. वही, ३/४/१/२५ इति श्वानमश्वस्याधस्पदमपप्लावयति।

लाकर अग्नि में आहुतियाँ प्रदान करने का विधान है। ध्यातव्य है कि उक्त आहुतियाँ अश्व की शरीर से टपकने वाली जल की बूँदों के अन्त तक प्रदान करनी चाहिए।[३३३]

तदनन्तर अध्वर्यु बँधी हुई अश्व की रस्सी को खोलकर पूर्वोक्त दर्भ अथवा मूँज की मेखला पहनाता है[३३४] और उसे शत तल्प्य एवं कवचधारी राजपुत्रों को देकर देश-विदेश में भ्रमण हेतु छोड़ दिया जाता है।[३३५] उसकी रक्षा हेतु साथ जाने वाले ४०० व्यक्ति शस्त्रादि से सुसज्जित रहते हैं।[३३६] अश्व साल भर स्वतः आगे-आगे बढ़ता चला जाता है और वह न तो वापस होने पाता है और न जल में प्रवेश करने पाता है। अश्व-रक्षक जन ब्राह्मणों से भोजन माँग कर खाते हैं और रथकारों के घरों में निवास करते हैं।[३३७]

सावित्र्येष्टि

यजमान एक वर्ष तक अश्व के वापस आने की प्रतीक्षा करता हुआ (अश्व के बाहर रहने तक) प्रतिदिन सायं, प्रातः एवं मध्याह्न कालीन सावित्र्येष्टि का अनुष्ठान करता है। एतदर्थ सविता को प्रातःकाल अष्टाकपाल, सायंकाल द्वादशकपाल एवं माध्यन्दिनकाल में एकादश कपाल पुरोडाश अर्पित करने का विधान है।[३३८] स्मर्तव्य है कि पूजित सविता की क्रमशः प्रातः, सायं एवं माध्यन्दिन काल में सविता, आसविता एवं प्रसविता की संज्ञा दी गयी है।[३३९]

सावित्र्येष्टि के अनन्तर होता स्वर्णफलक (आसन) पर बैठ कर 'परिप्लव' नामक उपाख्यान सुनाता है। यह उपाख्यान राजा अपने मन्त्रियों एवं पुत्रों सहित सुनता है।[३४०] इसी प्रकार अन्य पुरोहितों द्वारा

---

३३३. वारा.श्रौ. ३/४/१/२८
३३४. वही, ३/४/१/२९ इत्यश्वमवसृजति।
३३५. वही, ३/४/१/३१
३३६. द्र० तै सं० ७/१/१२/१ तथा द्र० तै ब्रा ३/८/९
३३७. द्र० काश्रौ २२/२/१२-१३ तथा आपश्रौ २०/५/१५/१८, २०/२/१५-१६
३३८. वारा०श्रौ ३/४/१/३४
३३९. वही, ३/४/१/३४
३४०. वही, सूत्र ३५ संस्थितासु परिप्लवमाचष्टे होता हिरण्यफलक आसीनः।

राजा के पूर्वजों एवं राजा के कार्यों आदि की स्तुति की जाती है और भाँति-भाँति की गाथाएँ गायी जाती हैं। इष्टि की समाप्तिपर्यन्त प्रतिदिन स्वरचित तीन-तीन गाथाओं द्वारा क्रमशः दिन एवं रात में राजा की स्तुति की जाती है।[३४१] यह क्रम १०-१० दिनों के चक्र में सम्पूर्ण वर्षपर्यन्त चलता रहता है। स्विष्टकृत से पूर्व 'हिंकाराय स्वाहा०' आदि मन्त्र (मै. सं.III.१२.३) के उच्चारण द्वारा अश्वगमन के समय आहुतियाँ दी जाती हैं, जिन्हें 'धृतिहोम' कहा जाता है। विजयी अश्व के लौटने पर ग्यारहवें मास की अमावास्या को उखासम्भरण करना चाहिए।[३४२]

वीणा-गाथा के अनन्तर वीणा-गायकों को यजमान दक्षिणास्वरूप एक बैलगाड़ी, एक सौ गायें तथा योजित रथ प्रदान करता है।[३४३] सातवें दिन पशु-इष्टि एवं आठवें दिन त्रैधातवीया इष्टि और दीक्षणीया इष्टि का विधान किया जाने का निर्देश है।[३४४] दीक्षा एवं आहुतियों की विधि समान है।[३४५] सातवें दिन ५ अध्वर आहुतियाँ देकर अग्नि के लिए ६ आहुतियाँ प्रदान किये जाने का भी निर्देश है।[३४६] दीक्षा १ वर्ष के बाद समाप्त होती है। प्रथम दीक्षा का दिन पौर्णमासी का दिन है और इस यज्ञ में १२ दीक्षाओं, १२ उपसदों एवं ३ सुत्या दिवसों का विधान करणीय है।[३४७]

इस याग की वेदी सामान्य वेदियों के परिमाप से तीन गुनी अधिक होती है।[३४८] इसमें २१ यूपों का प्रयोग होता है; जो २१ अरत्नि लम्बे होते हैं। मध्य भाग का यूप रज्जुदाल की लकड़ी का बना होता है, इसके पार्श्वों में देवदारु के दो यूप होते हैं; जिनके पार्श्व में भी ६ यूप खदिरकाष्ठनिर्मित, ६ यूप बिल्वकाष्ठीय एवं ६ यूप पलाशकाष्ठीय होते

---

३४१. वारा.श्रौ. ३/१/३७-४१ इष्टिप्रभृति गाथाश्च।

३४२. वही, ३/४/१/४२ एकादशे मासि सावित्रं प्रत्युखा सम्भरणं क्रियेतामावास्यायाः संवत्सरः।

३४३. वाराहश्रौ ३/४/१/४४ वीणागाथिभ्यां शते ददात्यनसी च युक्ते।

३४४. वही, ३/४/१/४५-४६ सप्तभ्यां पंच पशुनेष्ट्वा षष्ठयां दीक्षते। त्रैधातव्यानि त्रिरात्रस्य दीक्षणीया।

३४५. वही, ३/४/१/४७ समानमा दीक्षाहुतिभ्यो........।

३४६. वही, ३/४/१/४८-४९

३४७. वही, ३/४/१/५१-५२ पौर्णमासी प्रथमादीक्षाणाम्।

३४८. वही, ३/१/१/५३ त्रिस्तावा वेदिः।

हैं।[३४९] इन्हीं यूपों में सवनीय पशु बाँधे जाते हैं। अग्नीषोमीय पशु पुरोडाशों के अनन्तर सर्वपृष्ठा इष्टि का विधान किया जाता है। एतदर्थ 'अग्नये गायत्राय' इत्यादि मन्त्र (मै.सं.III.१५.१०:१८०-७) के उच्चारण द्वारा दश आहुतियों का विधान किया जाता है।[३५०]

प्रथम सुत्या दिवस के कृत्य

अश्वमेध में तीन सुत्या दिवस होते हैं। प्रथम सुत्यादिवस चार स्तोम एवं रथन्तर पृष्ठवाला अग्निष्टोम होता है।[३५१] अग्निष्टोम का सम्पादन प्रकृतिवत् किया जाता है। यह इष्टि पत्नीसंयाज के साथ ही समाप्त हो जाती है।[३५२] अध्वर्यु सूर्यास्त के अनन्तर अन्न की आहुतियाँ देता है।[३५३] इसी तरह महर्त्विजों के द्वारा कुसुमसर्पि, दूध, गुड़ और मधु एवं जल की मिश्रित आहुतियाँ, खदिर वृक्ष के द्वारा बने हुए स्रुव से प्रदान की जाती हैं तथा अन्त में सभी लोगों द्वारा आज्य आहुतियाँ दी जाती हैं। रात्रि में भी आहुतियाँ दी जाने का विधान है।[३५४] स्मरणीय है कि हवन के अनन्तर अवशिष्ट अतिरिक्त अन्नों को अश्व के खाने के लिए रख दिया जाने का निर्देश है।[३५५]

द्वितीय सुत्या दिवस

तीनों सुत्या दिवसों के मध्य का दिन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दिन होता है। इस दिन शाक्वर पृष्ठ (२१ मन्त्रों वाला) उक्थ्य होता है।[३५६] अध्वर्यु उपांशु और अन्तर्याम का प्रयोग कर स्वर्ण एवं रजत निर्मित दो बड़े पात्रों में सोमरस को भरता है।[३५७] आग्रायणस्थाली का प्रयोग कर प्रजापति

---

३४९. वारा.श्रौ. ३/४/१/५४-५५
३५०. वही, ३/४/१/५६ सर्वपृष्ठां... इति दश हविषम्।
३५१. द्र० मान०श्रौ ९/२/२/२७
३५२. वारा०श्रौ ३/४/२/२ अग्निष्टोमः प्रथमा संस्था। पत्नी संयाजान्ते संस्थिते...।
३५३. वही, ३/४/२/२ अस्तमितेऽन्नानि प्रजुह्वति।
३५४. वही, ३/४/२/३-१०
३५५. वही, ३/४/२/११ इत्यन्तो हुत्वा अतिरिक्तमन्नमश्वाय निदधाति।
३५६. वाराहश्रौ ३/४/२/१२ उक्थ्यः शाक्वरपृष्ठो मध्यमहः।
३५७. वही, ३/४/२/१३ उपांशु अन्तर्यामयोः पात्रे प्रयुज्य महिम्नोः पात्रे प्रयुनक्ति सौवर्ण राजते।

देवता के निमित्त पात्रों का प्रयोग करता है। उपांशु, अन्तर्याम तथा दोनों बड़े पात्रों को मन्त्र के द्वारा दो-दो करके ग्रहण करता है।[३५८] अश्व की ग्रीवा में रुक्म पहनाकर अश्व की पूँछ से प्रारम्भ कर बहिष्पवमान के लिए प्रस्थान करते हैं।[३५९] एतदर्थ यजमान उद्गाता का आह्वान करता है तथा इसी समय घोड़ी को देखकर अश्व हिनहिनाता है।[३६०] यही हिनहिनाने की ध्वनि ही बहिष्पवमान है। इसके अनन्तर उद्गाता को दक्षिणा के रूप में शतमान स्वर्ण प्रदान किया जाता है।[३६१]

पशु-उपाकरण कृत्य हेतु सर्वप्रथम अध्वर्यु दो एकादशिनी ग्रहण कर यूप में बाँधता है। मध्य में स्थित राज्जुदाल यूप में अश्व, तूपर एवं गोमृग को बाँधता है।[३६२] तत्पश्चात् अश्व के अङ्गों में पशु बाँधे जाते हैं। काली ग्रीवा एवं आग्नेय ललाट आदि अङ्गों, जिन्हें पर्यङ्गय कहते हैं, में पशुओं को बाँधा जाता है।[३६३]

अश्व के सम्पूर्ण शरीर पर रस्सी लपेट कर उन्हीं स्थानों में पशु बाँधे जाते हैं। कपिञ्जल आदि जंगली पशुओं को यूप के समीप ले आते हैं। एतदर्थ जलीय जीवों को घड़ों एवं नावों में, पक्षियों को घोसलों में, हाथियों को जंजीरों में तथा नख एवं दन्तधारियों को पिंजड़ों में उपन्यस्त करते हैं।[३६४] ग्राम्य पशुओं को यूप में बाँध कर समस्त यूपों के बीच में आरण्यक पशुओं को बाँधता है।[३६५] इसमें सम्पूर्ण पशुओं की संख्या पचास होती है। ज्ञातव्य है कि प्रजापति देवता के निमित्त पशुओं का उपकारण वेतस शाखा से किया जाता है और अन्य पशुओं का उपाकरण पलाश की शाखा से।[३६६]

---

३५८. वारा.श्रौ. ३/४/२/१४-१५

३५९. वही, ३/४/२/१ इत्यश्वस्य ग्रीवासु रुक्मं प्रतिमुच्य... इति पवमानानु मन्त्रणेनाश्वस्य पुच्छमन्वारभन्ते।

३६०. वही, ३/४/३/५/७

३६१. वही, ३/४/३-१० स्तुते शतमानमुद्गात्रे ददाति।

३६२. वही, ३/४/३/११-१२

३६३. वही, ३/४/३/१३ कृष्णग्रीव आग्नेयो ललाट इत्यश्वे पर्यङ्ग्याः।

३६४. वही, ३/४/३/२१-२२

३६५. वही, ३/४/३/२३ यूपेषु ग्राम्यान्पशून्नियुनक्त्यन्तरालेष्वारण्यान्धारयन्ति।

३६६. वही, ३/४/३/२४ वेतस शाखया प्राजापत्यानुपाकराति प्लक्षशाखाग्रेणेतरान्।

यज्ञीय अश्व की रथ में योजित कर अन्य तीन रथों को भी साथ-साथ जोतते हैं। उस पर पताका फहराते हैं तथा धनुष् लेकर उस पर बाण चढ़ाते हैं। सारथि के साथ अध्वर्यु एवं यजमान रथ पर बैठकर जलाशय की ओर चलते हैं। सारथि रथ पर चढ़कर कोड़े के द्वारा घोड़ों पर प्रहार करता है। इस समय दुन्दुभियाँ बजायी जाती हैं। अश्व को पानी में प्रवेश कराकर स्नान कराते हैं।[३६७]

अश्व को नहलाकर वापस आ जाने पर रथ से छोड़कर अलग कर देते हैं। इस समय राजा की पत्नियाँ अश्व का अभ्यञ्जन करती हैं। एतदर्थ अश्व के यज्ञस्थल में आ जाने पर महिषी अश्व के अग्रभाग में, बावाता मध्य भाग में तथा परिवृक्ती पृष्ट भाग में घृत लगाती हैं। तदनन्तर 'भूः भुवःस्वः०' के उच्चारण द्वारा अश्व के शिर, अयाल एवं पूँछ पर सभी रानियाँ तीन हजार स्वर्णखण्ड बाँधती हैं।[३६८] महिषी रानी के साथ सौ राजकुमारियाँ, बावाता के साथ सौ क्षत्रिय कुमारियाँ तथा परिवृक्ती रानी के साथ सूत एवं ग्रामीणों की सौ कुमारियाँ क्रमशः स्थित रहती हैं।[३६९]

अब होता एवं ब्रह्मा दोनों ब्रह्मौद्य वचन सम्पादन हेतु आहवनीय अग्नि के क्रमशः उत्तर एवं दक्षिण ओर खड़े होकर उत्तर-प्रत्युत्तर करते हैं।[३७०] अश्व की स्तुति कर पर्यग्निकरण कृत्य समाप्त किया जाता है। पर्यग्निकरण के अनन्तर आरण्यक एवं ग्राम्य पशुओं को विमुक्त कर दिया जाता है।[३७१]

हनन हेतु अश्व को ले आते समय आगे-आगे पूषा के लिए विहित अज को ले जाने का विधान है।[३७२] इसी समय घास पर एक वस्त्रखण्ड बिछाकर उसी पर एक अन्य चद्दर एवं उस पर हिरण्य

---

३६७. वारा.श्रौ. ३/४/३/२५-४१

३६८. वही, ३/४/३/४२-४५ त्रिसहस्रं मणीन्लोमस्ववयवेषु ग्रथ्नन्ति।

३६९. वही, ३/४/३/४६-४८

३७०. वही, ३/४/३/५० होता च ब्रह्मा च ब्रह्मौद्यं वदतो दक्षिणत आहवनीयस्य ब्रह्मोत्तरतो होता।...........इति पृच्छति... इति प्रत्याह।

३७१. वही, ३/४/४/१-६ पर्यग्निकृतानुत्सृजन्त्यारण्यान्ग्रामाँश्च पुरुषाँश्च।

३७२. वही, ३/४/४/७ शामित्रायाश्वस्य नीयमानस्य पौष्णमजमग्रतो नयन्ति।

खण्ड प्रक्षिप्त कर तार्प्य अथवा श्यामूल नामक हथियार के द्वारा अश्वहनन किया जाता है। अन्य पशुओं का संज्ञपन गला प्रवेष्टन की प्रक्रिया से किया जाता है।[३७३] अश्व संज्ञपन के समय 'प्राणाय स्वाहा०' (मै.सं.III.१२.२०) इत्यादि मन्त्र द्वारा आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[३७४] रानियाँ दायें से बायें जाती हुई अश्व की परिक्रमा करती हैं तथा मृत अश्व पर अपने वस्त्रों से हवा करती हैं और अपने केशों को दायीं ओर बाँधती एवं बायीं ओर खोलती हैं। तदनन्तर अनुचरियों के साथ आयी हुई महिषी रानी मृत अश्व के पार्श्व में शयन कर पैर फैलाती है। अध्वर्यु शिर से पैर तक रानी एवं अश्व को एक अहत वस्त्र (जो फटा न हो) से ढक देता है।[३७५] इस प्रकार मृत अश्व से रानी द्वारा सम्मिलन किये जाते समय यजमान अनुमन्त्रण करता है।[३७६] तदनन्तर महिषी को पत्नियों द्वारा अश्वपार्श्व से उठाकर अलग किया जाता है।[३७७] कतिपय श्रौत आचार्यों के अनुसार इसी समय वेदि के बाहर होता पटरानी को अश्लील भाषा में गालियाँ देता है। जिसका उत्तर महिषी द्वारा अपनी एक सौ दासी राजकुमारियों के साथ अश्लील भाषा में दिये जाने का उल्लेख है। इसी तरह ब्रह्मा एवं वावाता में तथा चारों प्रमुख ऋत्विजों एवं क्षत्रों में भी अश्लील व्यवहार किये जाने का वर्णन है।[३७८]

तदनन्तर अश्व के शरीर में महिषी, वावाता तथा परिवृक्ती क्रमशः सोने, चाँदी एवं लोहे की बनी हुई सूइयों के द्वारा तलवार प्रवेश के लिए रास्ता बनाती हैं।[३७९] प्रजापति देवतार्थ वपा की आहुति देकर अन्य देवों के लिए वपा प्रचरण कृत्य किया जाता है।[३८०] ज्ञातव्य है कि अश्व के पास वपा नहीं होती है और उसके मेद की चन्द्र संज्ञा

---

३७३. वारा०श्रौ ३/४/४/८-१०

३७४. वही, ३/४/४/११ इति संज्ञाप्यमानेषु जुहोति।

३७५. वही, ३/४/४/१२-१५

३७६. वही, ३/४/४/१५ इति संहितप्रजननयोः पत्नीं यजमानोऽनुमन्त्रयते।

३७७. वही, ३/४/४/१६ इति महिषीं पत्न्य उदानयन्ति।

३७८. द्र० आश्व० श्रौ. १०/८/१०-१३, काश्रौ २०/६/१८, वाज. सं० २३/२२/३१, माशब्रा० १३/२/९, ला श्रौ ९/१०३/१

३७९. वारा०श्रौ ३/४/४/१७

३८०. वही, सूत्र १८ वपाभिः प्रचरन्ति सह प्राजापत्यानाँ सहेतरेषाम्।

है।[३८१] अतएव चन्द्र को ही वपा के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है। चन्द्र को अश्व के शरीर से बाहर निकाला जाता है। चन्द्र को पकाकर आहवनीय अग्नि में तीन शृतपिण्डों को स्थापित करके अवदान ग्रहण किया जाता है।[३८२] तदनन्तर अज एवं उसकी वपा से भी आहुति दी जाती है तथा अन्त में अन्य पशुओं की वपा आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। वपा होम से पहले ही दो महिमानों की आहुतियाँ दी जाने का विधान है।[३८३] तत्पश्चात् अश्व के विविध अङ्गों को काटकर हवन किया जाता है तथा उसके खून को पकाया जाता है।[३८४]

दक्षिणा

इसके उपरान्त दक्षिणा प्रदान करने का विधानं है। एतदर्थ कामनाओं की अभिपूर्ति के अनुसार ही दक्षिणा देने का निर्देश है।[३८५] यदि कामनाओं की पूर्ति हो गयी हो; तो राज्य की अब्राह्मण जनता को अन्न दान एवं विजय-कामनाओं की पूर्ति होने पर विजित प्रदेश की पूर्वी भाग की सम्पत्ति अध्वर्यु हो, दक्षिण भाग की सम्पत्ति ब्रह्मा को तथा पश्चिम भाग की सम्पत्ति होता को एवं उत्तर दिशा की सम्पत्ति उद्गाता नामक ऋत्विज् को प्रदान करने का विधान है।[३८६]

मृत अश्व के अङ्गों से अवदान ग्रहण कर उसे सिंह के चर्म पर अभिषिक्त कर बैल के चर्म पर धारण करते हैं; तथा तृण के ऊपर शत-कृष्णल रुक्म स्थापित कर मन्त्र के द्वारा महीनों के नाम से आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[३८७]

अब जगती छन्दों के प्रयोग के अनन्तर यजमान विष्णुक्रम करता है।[३८८] अध्वर्यु प्रजापति देवता के लिए चरु के अवशिष्ट अंश को

---

३८१. वारा.श्रौ. ३/४/४/१९-२० नाश्वस्य वपा भवति। चन्द्र नाम भेदः।
३८२. वही, ३/४/४/२१ तदस्य वपा स्थाने...।
३८३. वही, ३/४/४/२२-२३ इतीतरेषाम्। अभितो वपा महिमानौ जुहोति।
३८४. वही, ३/४/४/२४-२५
३८५. वही, सूत्र २६
३८६. वही, ३/४/४/२७
३८७. वही, ३/४/५/५
३८८. वही, ३/४/५/६ जागतान् विष्णु क्रमान्क्रामति।

पलाशपर्णों पर रखकर जल से पवित्र करता है। मन्त्र के द्वारा यजमान अपना मुख प्रक्षालन करता है।[३८९] अध्वर्यु अश्व के विभिन्न अवदानों को आहवनीय के उत्तर में बिछी हुई वेतस कट पर तथा अन्य पशुओं के अवदानों को दक्षिण में तैजन कट पर स्थापित करता है।[३९०] आहवनीय के पूर्व में वेतस-कट बिछाकर उसी पर प्रजापति हेतु पशुओं को रखता है। पूर्व में अश्व एवं अश्व के पूर्व में तूपर तथा पश्चिम की ओर गोमृगों की स्थापना करता है।[३९१] तदनन्तर राजकुमारों के समूह के साथ वह अन्य आरण्यक पशुओं की आहुतियाँ प्रदान करता है।[३९२]

तृतीय सुत्या दिवस

तृतीय सुत्या के दिन सर्वस्तोम सहित अतिरात्र इष्टि का विधान विहित है।[३९३] एकादशिन् पशुओं (गोमृगादि) के आलभन आदि की विधि एवं अवभृथ आदि के कृत्य समान ही है।[३९४] सूर्य देवता के अर्पण के लिए ९ श्वेत अनुवन्ध्या गायों का विधान किया जाता है।[३९५] ज्ञातव्य है कि उक्त गायों की वपा के हवन के समय अध्वर्यु पाप करने वालों को हवा की प्रतिकूल दिशा में खड़े रहने पर पापों से मुक्ति प्रदान कर देता है।[३९६] तत्पश्चात् विहित पशुओं का उपाकरण किया जाता है और उदवसनीय इष्टि के विधान के अनन्तर पशुबन्ध याग के द्वारा यजन किये जाने का निर्देश है।[३९७]

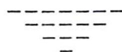
पशु-पुरोडाशों के हवन के अनन्तर मृगारेष्टि की हवियों के निर्वाप किये जाने का उल्लेख है।[३९८] स्विष्टकृत् याग के संस्थित हो जाने पर

---

३८९. वारा.श्रौ. ३/४/५/७-८ इति मुखँ विमृष्टे।
३९०. वही, ३/४/५/९
३९१. वही, ३/४/५/१० पुरस्तादाहवनीये वेतसं कटमास्तीर्य तस्मिन्प्राजापत्यान् संचिनोति प्राच्यं अश्वं प्राञ्चं तूपरं प्रत्यंचँ गोमृगामिति।
३९२. वही, ३/४/५/११ इत्येतस्य पुरस्ताद् आरण्ये ऽनुवाक्येन गणेन जुहोति।
३९३. वही, ३/४/५/१४ सर्वस्तोमो ऽतिरात्र उत्तमहः।
३९४. वही, ३/४/५/१५-१६ ऐकादशिनानालभते। समानमावमृथात्।
३९५. वही, ३/४/५/१८ नव सौरीर्वशा श्वेता अनुबन्ध्याः।
३९६. वही, सूत्र १९ तासाँ वपासु हूयमानासु प्रतिवातं... अध्वर्युः पापान्मुच्यते।
३९७. वही, २/४/५/२१ सोदवसनीये संस्थिते पशुबन्धेन यजते।
३९८. वही, ३/४/५/२६ पशूनांपुरोडाशमनु मृगारेष्टिं निर्वपति।

१२ दिनों तक ब्रह्मौदन पकाया जाता है और उसे महर्त्विजों को खिलाया जाता है।[३९९] उन प्रधान ऋत्विजों को दक्षिणास्वरूप १२-१२ हिरण्य रुक्म प्रदान किये जाने का विधान उपन्यस्त है।[४००]

इस कृत्य के साथ ही अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति हो जाती है।[४०१] जो व्यक्ति निम्नस्तरीय देवियों की आहुतियों के साथ अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करता है, निश्चित ही वह मृत्यु, पाप एवं ब्रह्महत्या जैसे महान् पापों से मुक्ति प्राप्त करता है।[४०२]



३९९. वारा.श्रौ. ३/४/५/२८-२९

४००. वही, ३/४/५/३० तेभ्यो द्वादश द्वादश रुक्मान्ददाति।

४०१. वही, ३/४/५/३१ संस्थिते ऽश्वमेधः।

४०२. वही, ३/४/५/३२ तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽवमेधेन यजते यश्चैव देविका प्रभृतिभिरिष्टिभिर्यजते यजते।

अध्याय - 5

वाराहश्रौतसूत्र की कतिपय प्रमुख श्रौतसूत्रों से तुलना

प्रथम अध्याय में ही यह स्पष्ट किया गया है; कि श्रौतसूत्रों का प्रमुख प्रतिपाद्य श्रौताग्नियों में अनुष्ठेय यागों के विधि विधानों का संक्षिप्त, क्रमबद्ध तथा सूत्रात्मक शैलो में विवेचन प्रस्तुत करना है। सूत्र साहित्य के पहले याज्ञिक प्रक्रियाओं को ब्राह्मणादि ग्रन्थों के माध्यम से ही जाना जाता था, किन्तु यह वर्णन अतिव्यापक, दुरुह एवं रहस्यमय होने के कारण याज्ञिकों के लिए दुग्राह्र्य था। इसी समस्या के समाधान हेतु तत्कालीन आर्य मनीषियों ने सूत्र-साहित्य का सृजन किया। श्रौतयागों के संपादन में मुख्य रूप से होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा नामक इन चार प्रधान ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। चारों ऋत्विज् क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद से संबद्ध होते हैं। ब्रह्मा नामक ऋत्विज् मुख्य रूप में अथर्ववेद से संबद्ध होता है; किन्तु उसे चारों वेदों का ज्ञान रखना आवश्यक है, क्योंकि वह यज्ञ का प्रधान अधीक्षक होता है। सभी ऋत्विज् अपने-अपने वेदों के अनुसार यज्ञस्थल में कार्य सम्पादन करते हैं।[१] सूत्र साहित्य का सृजन वेदों की सभी शाखाओं एवं उपशाखाओं में हुआ, जिसके कारण प्रत्येक वेद से संबद्ध श्रौतसूत्र का प्रणयन हुआ। प्रत्येक श्रौतसूत्र में अपने वेद से संबद्ध ऋत्विज् के कार्यों का प्रधान रूप में विवेचन के साथ-साथ यज्ञों का निरूपण किया गया है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत प्रत्येक वेद की शाखा, प्रतिशाखा से संबन्धित श्रौतसूत्रों का विवेचन किया जा चुका है, जिससे स्पष्ट है; कि

१. वारा०श्रौ १/१/१/६ अध्वर्युर्यजुवेदेन करोत्यृग्वेदेन होता सामवेदेनोद्गाता सर्वै र्ब्रह्मा। तथा सश्रौ १/१/४७ जयन्त भट्ट, न्यायमंजरी, पृ० २१९

सबसे अधिक श्रौतसूत्रों की रचना मात्र यजुर्वेद के सम्बन्ध में की गयी। इसका कारण संभवत: यही है; कि अन्य वेदों की अपेक्षा यजुर्वेद का यज्ञों से अधिक घनिष्ठ संबन्ध होना है। समस्त वेदों से अनुबन्धित श्रौतसूत्रों में याज्ञिक विधियों एवं कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों के विधान में मौलिक अन्तर सम्भाव्य है। अत: प्रत्येक श्रौतसूत्र में देश, काल एवं सूत्रकारों की स्वोपज्ञता गत वर्णन-विभेदों का निरूपण वाराहश्रौतसूत्र के साथ किया जा रहा है। इससे वाराहश्रौतसूत्र का अन्य श्रौतसूत्रों के मध्य स्थान एवं उसकी उपयोगिता का ख्यापन हो जायेगा, साथ ही यह भी स्पष्ट होगा कि श्रौत यागों के विवेचन में वाराहश्रौतसूत्र कहाँ तक सफल रहा है।

वाराहश्रौतसूत्र तथा आपस्तम्बश्रौतसूत्र

आपस्तम्बश्रौतसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से संबद्ध श्रौतसूत्रों में महत्त्वपूर्ण श्रौतसूत्र है। इस श्रौतसूत्र में कुल २४ प्रश्न हैं। प्रश्नों का विभाजन कण्डिकाओं में तथा कण्डिकाओं का विभाजन सूत्रों में किया गया है। इसकी संक्षिप्त विषयसूची द्रष्टव्य है -

प्रथम से चतुर्थ प्रश्न तक	- दर्शपौणमास और याजमान।
पञ्चम प्रश्न	- अग्न्याधान और पुनराधान।
षष्ठ प्रश्न	- अग्निहोत्र और अग्न्युपस्थान।
सप्तम प्रश्न	- निरूढपशुबन्ध।
अष्टम प्रश्न	- चातुर्मास्य।
नवम प्रश्न	- प्रायश्चित्त।
दशम से त्रयोदश	- अग्निष्टोम।
चतुर्दश प्रश्न	- उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अप्तोर्याम, एकादशिन्, सोमप्रायश्चित्त।
पञ्चदश प्रश्न	- प्रवर्ग्य।
षोडश, सप्तदश	- अग्निचयन।
अष्टादश प्रश्न	- वाजपेय, राजसूय।
एकोनविंश प्रश्न	- सौत्रामणी, सावित्र, नाचिकेत,

		चतुर्होत्र, वैश्वराज तथा काम्येष्टि।
विंशति प्रश्न	–	अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध।
एकविंशति प्रश्न	–	द्वादशाह, गवामयन, उत्सर्गिणामयन
द्वाविंशति प्रश्न	–	एकाह, अहीन, सत्र।
त्रयोविंशति प्रश्न	–	सत्र।
चतुर्विंशति प्रश्न	–	सामान्य परिभाषा, प्रवर, होत्र।

इस प्रकार विषयानुक्रम की सूची से ज्ञात होता है कि आपस्तम्ब ने परिभाषा प्रकरण को अन्त में प्रस्तुत किया है; जबकि वाराहश्रौतसूत्र में परिभाषा, याजमान एवं ब्रह्मत्वम् का प्रथमत: उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार आप.श्रौ.सू. में यजमान के कर्तव्यों को दर्शपूर्णमास याग के विधान के पश्चात् विवेचित किया गया है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में दर्शपूर्णमास याग के पूर्व ही याजमानम् का विधान किया गया है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र के चौबीसवें प्रश्न में यज्ञीय प्रक्रियाओं के सामान्य तथ्यों का भी उद्घाटन किया गया है। दोनों श्रौतसूत्रों में विवेचित हविर्यागों के क्रमों में पूर्णत: समानता है। यथा–वाराहश्रौतसूत्र में सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास और तत्पश्चात् अग्न्याधान, पुनराधान, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान, पशुबन्ध, चातुर्मास्य का वर्णन किया गया है। यही क्रम आपस्तम्ब के प्रथम प्रश्न से लेकर अष्टम प्रश्न तक व्यवस्थित किया गया है। साथ ही साथ हम देखते हैं; कि आचार्य वाराह ने सौत्रामणी नामक याग को हविर्यागों के मध्य न विवेचित कर सोमयागों के मध्य वर्णित किया है, जो कि उचित नहीं है। यही स्थिति आपस्तम्ब की भी रही है। निरूढपशुबन्ध का उल्लेख हविर्यागों के मध्य नहीं होना चाहिए था, किन्तु दोनों श्रौतसूत्रों ने चातुर्मास्य को पशुबन्ध के बाद विहित किया है, जो कि सर्वथा भ्रान्तिमूलक है। उक्त वर्णनक्रम के अनुकरण को आधार माना जाय; तो नि:सन्देह कहा जा सकता है; कि परवर्ती काल की रचना होने के कारण वाराहश्रौतसूत्र ने आपस्तम्ब का अनुसरण किया है। आपस्तम्ब ने वाजपेय एवं राजसूय नामक दोनों यज्ञों का वर्णन एक ही प्रश्न में उपस्थित किया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में दोनों यागों को दो पृथक् अध्यायों में विहित किया है। दोनों श्रौतसूत्रों ने पिण्डपितृयज्ञ को दर्शेष्टि का अङ्ग माना है और इसका वर्णन दर्शेष्टि प्रसङ्ग में ही किया

गया है। दोनों श्रौतसूत्रों के अनुसार दर्शपूर्णमास याग का अनुष्ठान करने के अनन्तर उसका तीस वर्ष का अथवा यावज्जीवन संपादन करना चाहिए।[२] दोनों ने वत्सापकरण में ६ वत्सों का समन्त्रक अपाकरण किये जाने का विधान किया है।[३] दोनों श्रौतसूत्रों में वेद-निर्माण हेतु विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के अनुसार विविध आकृतियों का विधान समान रूप से किया गया है।[४] दोनों में ही हवि-पेषण कृत्य का सम्पादन यजमान की पत्नी अथवा दासी के द्वारा किये जाने का विधान है।[५] आपस्तम्ब एवं वाराहश्रौतसूत्रों में समान रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं रथकार को अग्न्याधान हेतु अधिकार प्रदान किया है[६] तथा दोनों ने समान रूप में सोमयाग में प्रवृत्त व्यक्ति के लिए ऋतु एवं नक्षत्रों की कोई भी सीमा नहीं रखी है।[७] क्रम की दृष्टि से समुचित होने का ध्यान रखते हुए दोनों में अग्न्याधान के तुरन्त बाद पुनराधान का विधान किया गया है। दोनों श्रौतसूत्रों में यूपनिर्माण हेतु पलाश, खदिर, बिल्व, रोहितक उदुम्बर आदि वृक्षों का उल्लेख किया गया है।[८] वरुणप्रघास के अनुष्ठान के संबन्ध में आपस्तम्ब के मतानुसार वैकल्पिक व्यवस्था विहित है जबकि वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा कोई विधान नहीं किया गया है। दोनों के अनुसार वरुणप्रघास में दो वेदियाँ होती हैं, जिसमें उत्तर वेदि की देखरेख अध्वर्यु करता है और दक्षिण वेदि का प्रतिप्रस्थाता।[९] शुनासीर पर्व का अनुष्ठान विविध कामनाओं की पूर्ति हेतु किये जाने के संबन्ध में दोनों श्रौतसूत्र एकमत हैं।[१०] नित्य चातुर्मास्य के अनन्तर आपस्तम्ब ने काम्य एवं पाशुक

---

२. वारा०श्रौ १/१/१/८४, आप.श्रौ. १/१/१/७

३. आपश्रौ १/१/२/२, वारा०श्रौ १/२/१/५ षड्वत्सानपाकरोति।

४. आपश्रौ १/२/६/५ वत्सज्ञुं पशुकामस्य भूतिकायमन्नाद्यकामस्य त्रिवृत् शिरसं ब्रह्मवर्चसकामस्य। वारा०श्रौ १/२/२/१

५. वारा०श्रौ १/२/४/६९ दासी पिनष्टि पत्नी वा।

६. आप श्रौ ५/१/३/१७, वारा०श्रौ १/४/१/१

७. आपश्रौ ५/१/३, वारा०श्रौ १/४/१/४ सर्वत्र सोमेन यक्ष्यमाणः।

८. आपश्रौ ७/१/१/१०, वारा०श्रौ १/६/१/५

९. वारा०श्रौ १/७/२/६-११

१०. आपश्रौ ८/२०/५, शुनासीरेण ग्रामकामः...। प्रजाकामः पशुकामः पुष्टिकामो ब्रह्मवर्चसकामो वा। वाराश्रौ १/७/५/६

चातुर्मास्य का उल्लेख किया है; जबकि वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा कोई विधान नहीं है। इसी तरह यजमान के कुछ कर्तव्यों का भी चातुर्मास्य एवं पशुबन्ध के प्रसङ्ग में आपस्तम्ब ने विवेचन किया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा कोई विधान नहीं है, अपितु यह यथास्थान प्रारम्भ में ही किया गया है। दोनों श्रौतसूत्रों में स्वशाखीय मन्त्रों को प्रतीक रूप में और शाखेतर मन्त्रों को पूर्ण रूपेण उद्धृत किया गया है। यथा -

सा या प्राच्युदीची प्रागुदीची वा भवति 'इषे त्वोर्जे त्वा इति तामाच्छिनत्ति।[११]

यजमानस्य पशून्पाहीत्याग्निष्ठेऽनस्याग्न्यागारे वा पुरस्तात्प्रतीचीं शाखामुपगृह्णाति। पश्चात्प्राचीं वा।[१२]

आदित्याः स्कम्भोऽसीति शम्यामुपकर्षति।[१३]

आपस्तम्बश्रौतसूत्र के अन्तर्गत 'इति विज्ञायते'[१४] 'यथा ब्राह्मणम्' 'यथा समाम्नातम्' आदि वाक्यांशों द्वारा अपने अन्य शाखीय ब्राह्मण ग्रन्थों तथा आरण्यक आदि ग्रन्थों को उद्धृत किया गया है, परन्तु वाराह श्रौ०स० में मात्र 'इति ब्राह्मणव्याख्यातम्' का ही प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार आपस्तम्बश्रौतसूत्र में पदार्थों के प्रामाण्य हेतु 'वाजसनेयकम्'[१५] आदि ग्रन्थों एवं शाखाओं को उद्धृत किया है, किन्तु वाराह श्रौतसूत्र में ऐसा विधान नहीं है। आपस्तम्ब एवं वाराहश्रौतसूत्रों में पूर्वाचार्यों के नामों का उल्लेख पाया जाता है।[१६] यथा:- आपस्तम्ब ने आश्मरथ्य एवं आलेखन को उद्धृत किया है और वाराहश्रौ सू में 'और्वोगौतमो भारद्वाज इति' का उल्लेख किया गया है।[१७] इसी प्रकार पैंग्यब्राह्मणम्' शाट्यायिनिब्राह्मणम्' 'बह्वृचब्राह्मणम्' 'ताण्डकम्' 'भाल्विकम्' आदि अनेक ग्रन्थों का भी उल्लेख किया गया है[१८], किन्तु ऐसी कोई भी

---

११. आप श्री १/१/१०, तै सं १/१/१
१२. आप श्री १/२/१०, तै सं० १/१/१
१३. वारा०श्री १/२/४/६३, मैसं० १/१/६
१४. आप श्री ३/१/६/७ प्रहरतीति विज्ञायते।
१५. आप श्री २/९/८
१६. आप श्री ६/१२ देवताग्निहोत्रं स्यादित्याश्मरथ्यः अन्यांपुनर्होतव्यमित्यालेखनः।
१७. वारा०श्री १/२/२/३९, और्वोगौतमोभारद्वाज इति महेन्द्रं यजेरन्गतश्रियश्च।
१८. आप श्री ५/२३/३

अभिव्यक्ति वाराहश्रौतसूत्र में नहीं की गयी है। इसके अतिरिक्त आपस्तम्ब ने यत्र-तत्र मतान्तरों को उद्धृत करते हुए 'एके' तथा 'एके समामनन्ति' आदि शब्दों द्वारा अनेक मतों का प्रतिपादन भी किया है;[१९] किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में स्वमत का ही प्राधान्य है। अस्तु वाराहश्रौतसूत्र एवं आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में विषयक्रम में समानता होते हुए भी अपनी-अपनी विषयव्यापकता में न्यूनाधिक्य संबन्ध दिखायी देता है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का प्रणयन पूर्वकाल में ही होने से आचार्य वाराह ने उनका अनुकरण एवं अनुसरण अवश्य किया है।

दोनों श्रौतसूत्रों के सूत्रों में भी उनकी शैली एवं भाषादि के संबन्ध में अधिक साम्य है, परन्तु तुलनात्मक अध्ययन से कहा जा सकता है कि आपस्तम्ब श्रौतसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के श्रौतसूत्रों में अतिशायी महत्त्व रखता है। वह वर्ण्यविषयादि दृष्टि से वाराहश्रौतसूत्र से बढ़कर है। आ.श्रौ.सू. वाराहश्रौतसूत्र का पूर्ववर्ती है, जिसका स्पष्ट प्रभाव वाराहश्रौतसूत्र के अन्तर्गत याज्ञिक प्रक्रियाओं के वर्णनक्रम से द्योतित होता है। अस्तु वाराहश्रौतसूत्र आपस्तम्बश्रौतसूत्र का ऋणी कहा जा सकता है।

आश्वलायन एवं वाराहश्रौतसूत्र

आश्वालायन श्रौतसूत्र ऋग्वेद से संबद्ध है। एतदर्थ यह होता नामक ऋत्विज् एवं उसके सहायकों के कार्यों, याज्या, पुरोनुवाक्या तथा शस्त्रपाठ आदि को विशेष रूप में उद्धृत करते हुए विभिन्न यागों का वर्णन प्रस्तुत करता है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से संबन्धित होने के कारण आध्वर्यव कर्मों का ही प्रधानतया विधान प्रस्तुत करता है। आश्वालयन श्रौतसूत्र में ऐतरेयब्राह्मण में विवेचित यज्ञों को आधार मानकर उनका का विवेचन किया गया है, किन्तु पूर्णतया नहीं, क्योंकि ऐतरेयब्राह्मण में सोमयागों का ही विधान प्रस्तुत है; जबकि आश्वलायन श्रौतसूत्र में निम्नांकित वर्ण्यविषयों का समावेश किया गया है -

प्रथम अध्याय - परिभाषा एवं दर्शपूर्णमास।

---

१९. आपश्रौ १/४/४ तेषां प्रस्तरोऽयुगर्थ इत्येके। तथा १/१/६ व्याहृतिभिरन्वाधानमेके समामनन्ति।

द्वितीय अध्याय	-	अग्न्याधान, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान, पिण्डपितृयज्ञ, अन्वारम्भणीय, आग्रायण, काम्येष्टि, दाक्षायण एवं चातुर्मास्य।
तृतीय अध्याय	-	निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी एवं प्रायश्चित्तेष्टि।
चतुर्थ एवं पञ्चम अध्याय	-	अग्निष्टोम।
षष्ठ अध्याय	-	उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, प्रायश्चित्त, मृत्यु एवं रोगसंबन्धी कृत्य तथा अग्निष्टोम के समापनीय कृत्य।
सप्तम अध्याय	-	सामान्य निरीक्षण तथा गवामयन के चतुर्विंश, अभिप्लव, षडह, पृष्ठ्य षडह।
अष्टम अध्याय	-	होतृ से संबद्ध शस्त्र, अभिजित् स्वरसाम, विश्वजित् स्वर साम, छन्दोम आदि।
नवम अध्याय	-	राजसूय, एकाह और वाजपेय।
दशम अध्याय	-	अहीन, द्वादशाह एवं अश्वमेध।
एकादश अध्याय	-	रात्रि सत्र एवं गवामयन आदि सत्रयाग।
द्वादश अध्याय	-	दीर्घ सत्र एवं प्रवर।

इस प्रकार सम्पूर्ण आश्वलायन श्रौतसूत्र का विषयविस्तार वाराहश्रौतसूत्र की अपेक्षा कृत अधिक है। इसमें पुरोनुवाक्या[२०], याज्या[२१] एवं उनके शस्त्रों के अनुष्ठान प्रकार; देश, काल एवं कर्ता आदि का विधान उपन्यस्त करते हुए स्वर, प्रतिगर[२२], न्यूङ्ख[२३], प्रायश्चित्त आदि विधानों का भी विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण श्रौतसूत्र षट्कों में आधे-आधे भाग के रूप में विभक्त है। यह श्रौतसूत्र अति प्राचीन है। इसकी प्राचीनता की गणना बृहद्देवता में प्राप्त निर्देश के आधार पर की जा सकती है।[२४] इस उल्लेख के अनुसार यह प्रथम चरण की रचना के रूप

---

२०. द्र० श्रौ प नि, पृ० २८, प० २२८
२१. वही, २८, २३३
२२. द्र० श्रौ प नि, २९०, २५७
२३. कौ ब्रा २२/६/८ तथा ऐब्रा ५/३
२४. बृहद्देवता, शौनक, ४/१३९

में स्वीकार्य है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र चतुर्थ चरण के श्रौतसूत्रों में प्रमुख है। कीथ के अनुमान में आश्वलायनश्रौतसूत्रकार ऐतरेय आरण्यक के लेखक के रूप में स्वीकार्य है, जिसका आधार उन्होंने ऐतरेय आरण्यक में आश्वलायनश्रौतसूत्र के सन्दर्भ को ग्रहण किया है।[२५]

आश्वलायनश्रौतसूत्र का वर्ण्यविषय वाराह श्रौ.सू. की अपेक्षा अधिक है यथा–दाक्षायण यज्ञ, काम्येष्टियाँ, सत्रयाग, एकाह, अहीन, रात्रिसत्र, दीर्घसत्र एवं प्रवर, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, प्रायश्चित्त, अग्निष्टोम एवं इसके समापनीय कृत्य आदि। वाराहश्रौतसूत्र की अपेक्षा आश्वलायनश्रौतसूत्र में यज्ञों के क्रमों में अधिक असमानताएँ हैं, क्योंकि आश्वलायनश्रौतसूत्र में एकाह, अहीन द्वादशाह और सत्रयागों का क्रमशः विवेचन नहीं किया है, अपितु राजसूय, एकाह, वाजपेय, अहीन, अश्वमेध, रात्रिसत्र, गवामयन, दीर्घसत्र आदि का क्रम अपनाया है; जो सर्वथा अनुचित है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में क्रम उचित रूप में व्यवस्थित है। दोनों श्रौतसूत्रों में यज्ञों का वर्णन दर्शपूर्णमासेष्टि से ही किया गया है, जो सभी इष्टियों की प्रकृति है। यह वर्णन उपयुक्त है। तदनन्तर दोनों श्रौतसूत्रों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान आदि यज्ञों का निरूपण किया है, किन्तु ज्ञातव्य है कि आश्वलायनश्रौतसूत्र में पुनराधान की 'द्वितीयाधान' संज्ञा दी गयी है, तथा पशुयाग हेतु निरूढपशुबन्ध न करके 'पशु' शब्द से ही उसे अभिधान किया गया है, जबकि बाराहश्रौतसूत्र में उक्त गुणों के आधार पर ही नामकरण किया गया है।[२६] आश्वलायन श्रौतसूत्र के छठें अध्याय में मृत्यु एवं अस्वस्थता से संबद्ध गृह्यकृत्यों की विवेचना प्रस्तुत की गयी है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा कोई भी गृह्यसूत्रीय विषय का विधान नहीं किया गया है। पदों की परिभाषा का विधान प्रस्तुत करना आश्वलायन की अपनी अनुपम विशेषता है।[२७] वाराहश्रौतसूत्र में भी ऐसे विधानों की न्यूनता नहीं है, यथा–'घृत आज्य शब्देन प्रतीयते। हिरण्यं जातरूपम्। चन्द्रं नाम मेदः।[२८]

---

२५. ऐ ब्रा, ३/२, आश्व० श्रौ० १/५/१७ तथा कीथ, ऐतरेय आरण्यक की भूमिका, पृ०२१
२६. आश्व श्रौ २/१,३/१, वारा०श्रौ ५/१, ६/१-७
२७. आश्व श्रौ १/१/७ मन्त्राश्च कर्मकरणा।
२८. वारा०श्रौ क्रमशः १/१/१/१९-२०, ३/४/४/२०

आश्वलायनश्रौतसूत्र में स्वर तथा व्याकरणसम्बन्धी नियमों का भी यत्रतत्र उल्लेख मिलता है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में इसका विधान नहीं मिलता।[२९] आश्वालयन ने वेदि-माप, हविर्ग्रहण, पुरोडाशपाक आदि का उल्लेख नहीं किया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में उक्त प्रसङ्गों की विधिवत चर्चा की गयी है। वाराहश्रौतसूत्र के अनुसार वैश्य को शरद् ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिए और रथकार को वर्षा में, किन्तु आश्वलायन के मतानुसार वर्षा ऋतु में वैश्य को अग्न्याधान करना चाहिए।[३०] आश्वलायन ने आपात्कालीन अग्न्याधान का भी विधान किया है, जबकि वाराहश्रौत में इस प्रकार की व्यवस्था का अभाव है।[३१] दोनों सूत्रकारों ने सोमयज्ञ करने वाले के लिए ऋतुनक्षत्रादि की सीमा का निर्धारण नहीं किया है, अर्थात् सोमयाग में प्रवृत्त व्यक्ति हेतु ऋतु, नक्षत्र का ध्यान रखना आवश्यक नहीं है।[३२] आश्वलायन ने नित्य अग्निहोत्र याग का अनुष्ठान मात्र पय के द्वारा करने का निर्देश किया है।[३३] जबकि वाराहश्रौतसूत्र में एतदर्थ पयस् एवं यवागू के द्वारा अनुष्ठान करने का विधान है।[३४] इसी प्रकार राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध आदि यज्ञों के वर्णन में वाराहश्रौतसूत्र काश्वलायन श्रौतसूत्र की अपेक्षा विशद वर्णन प्रस्तुत करता है। अस्तु, भिन्न-भिन्न वेदों से सम्बद्ध होने पर भी दोनों श्रौतसूत्रों में पर्याप्त समानता है, तथापि आश्वलायन श्रौत सूत्र विषयव्यापकता की दृष्टि से वाराहश्रौतसूत्र से अधिक उत्तम रचना है और यह वाराहश्रौतसूत्र की अपेक्षा अधिक प्राचीन भी है।

वाराहश्रौतसूत्र तथा कात्यायनश्रौतसूत्र

कात्यायनश्रौतसूत्र शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयिशाखा का श्रौत सूत्र है। माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण में शुक्लयजुर्वेद में वर्णित यज्ञों का क्रमबद्ध निरूपण किया गया है। कात्यायनश्रौतसूत्र माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण पर

२९. आश्वश्रौ १/२/१० ता एकश्रुति संततमनुब्रूयात्, तथा १/३/१२ रेफेष्मस्वनुस्वारम्।
३०. वारा०श्रौ १/४/१/१ शरदि वैश्यो वर्षासु रथकारः। आश्व० २/१
३१. आश्व०श्रौ० २/१ यस्मिन्कस्मिंश्चिदृतावादधीत।
३२. आश्व०श्रौ २/१, वारा०श्रौ १/४/१/४
३३. वही, २/२ पयसा नित्यहोमः।
३४. वारा०श्रौ १/५/३/३ नित्यं पयो यवागुश्च।

आधारित है, क्योंकि इनके अन्तर्गत माध्यन्दिन शाखा के मन्त्रों को प्रतीक रूप में स्वीकारा गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता से संबद्ध है। दोनों श्रौतसूत्रों का विवेच्य आध्वर्यव कर्म ही हैं। डॉ० रामगोपाल के अनुसार दोनों श्रौतसूत्रों के रचनाकाल में पर्याप्त अन्तर है। कात्यायनश्रौतसूत्र सूत्रकाल के द्वितीय चरण की रचना है और वाराहश्रौतसूत्र चतुर्थ चरण की।[३५] कात्यायनश्रौतसूत्र कुल २६ अध्यायों में विभक्त है। इसके अध्यायों का उपविभाजन कण्डिकाओं एवं सूत्रों में किया गया है जबकि वाराहश्रौतसूत्र कुल ३ भागों में विभक्त है। प्रथम भाग की प्राक्सौमिक, द्वितीय भाग की अग्निचयनम् और तृतीय भाग की वाजपेयिक संज्ञा दी गयी है। ये भाग अध्यायों एवं खण्डों में विभाजित हैं। कात्यायनश्रौतसूत्र का आरम्भ श्रौत परिभाषाओं के वर्णन के साथ होता है; जो श्रौतसूत्रों में यह कात्यायनश्रौतसूत्र की अपनी मौलिक विशेषता है। यही क्रम वाराहश्रौतसूत्र में भी अपनाया गया है। इस श्रौतसूत्र का प्रारम्भ परिभाषा से होता है और परिभाषा प्रकरण के बाद ही 'याजमानम्' तथा 'ब्रह्मत्वम्' का विवेचन है। जिसमें यजमान के कर्तव्यों का विवरण दिया गया है, किन्तु कात्यायनश्रौतसूत्र में पदार्थ का निरूपण करते समय प्रसङ्गतः 'यजमानो वा'[३६] द्वारा यजमान के कर्तव्यों का कथन किया गया है। कहीं-कहीं तो यजमान का पूरा-पूरा उल्लेख तक कर दिया है -

> 'केशश्मश्रु वपते वाऽशिरसम्। अपराह्णे व्रतोपायमनीयमश्नीत:सर्पिषा सहितौ।[३७]

कात्यायन ने यजमान को दाढ़ी केश बनवाने में इच्छाधीन अधिकार दिया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र अनिवार्यतः विधान करता है।[३८]

कात्यायनश्रौतसूत्र में अग्निष्टोम का विवेचन है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में अग्निष्टोम का निरूपण ही नहीं किया गया है। कात्यायनश्रौतसूत्र में

---

३५. डा० रामगोपाल, इ०वै०क०सू०, पृ० ८४-८५
३६. काश्रौ २/३/७
३७. काश्रौ २/१/९/१०
३८. वारा०श्रौ १/१/२/२ केशश्मश्रु वापयित्वा।

शाखान्तरीय मतों का भी उल्लेख किया गया है, जिसे 'एके'[३९] और 'एकेषाम्'[४०] आदि शब्दों से प्रतिपादित किया गया है। उन मतों का खण्डन भी प्रस्तुत किया गया है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा कोई विधान नहीं है। मात्र कुछ विद्वानों का नामोल्लेख उनके मतों के साथ एक बार प्रस्तुत किया गया है।[४१] कात्यायनश्रौतसूत्र की शैली वाराहश्रौतसूत्र की ही भाँति सूत्रात्मक है। सूत्र अतिसंक्षिप्त हैं, साथ ही साथ वे विषय स्पष्ट करने में भी पूर्ण क्षम हैं। एक सूत्र प्राय: एक ही वाक्य से लघुरूप बना है, उदाहरणार्थ :-

का.श्रौ.	**वाराहश्रौतसूत्र**
अग्न्यागारे कुर्वन्ति।	अथ पशुमन्ति।
उदग्वंशं नाऽपरम्।	उत्तमेन प्रयाजेन प्रचरति।
दक्षिणपूर्वे द्वारे।	वपाया: संप्रेषा:।
पौर्णमासवद्वपनम्।	समानमुभयो: कर्म।
क्षौमे वस्तेऽहते।	एका मनोता।
पत्नी च।	समानेडा।[४२]
संस्थितेऽध्वर्यवे देये।[४३]	

इसके अतिरिक्त कात्यायन एवं वाराहश्रौतसूत्र में दर्शपूर्णमास याग का विवेचन प्रारम्भ में किया गया है। वाराहश्रौतसूत्र में याजमान एवं ब्रह्मत्व का उल्लेख है, जबकि कात्यायनश्रौतसूत्र में 'याजमान' नामक कोई पृथक् अध्याय नहीं है। कात्यायन श्रौतसूत्र में वर्णित अग्न्याधान के प्रसङ्ग में सप्त वानस्पत्य एवं सप्त भौमिक संभारों के आहरण एवं आहवनीयादि अग्नियों के आयतनों में उनके रखे जाने से संबद्ध मन्त्रों का विनियोग नहीं किया गया है। इसका एकमात्र कारण शु०य० में इन अनुष्ठानों के वर्णनों का अभाव रहा है, जबकि वाराह श्रौतसूत्र उक्त दोनों प्रकार के संभारों के ले आने एवं उन्हें आयतनों में रखने के समय मन्त्रों

---

३९. काश्रौ ६/५/१३ निर्मन्त्रमेके।
४०. वही, ४/१/३/७ एकेषामुपवसथे।
४१. वारा०श्रौ १/२/२/३९ और्वो गौतमो भारद्वाज इति महेन्द्रं यजेरन्गतश्रियश्च।
४२. वारा०श्रौ १/७/५/१०, १५, २०, ३०, ३१, ३४
४३. काश्रौ ४/७/८-१३

का समुचित विनियोग किया गया है।[४४] कात्यायनश्रौतसूत्र में चातुर्मास्य के अनन्तर निरूढपशुबन्ध का विधान किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में पशुबन्ध के अनन्तर चातुर्मास्य का निरूपण है। वाराहश्रौतसूत्र में आग्रायणेष्टि के अनुष्ठान हेतु क्षुधापीडित् व्यक्ति द्वारा श्यामाकहवि का प्रयोग विहित है तथा इसकी दक्षिणा हेतु भूरा अथवा पीला रंग वाला बछड़ा तथा वसन देने का विधान है[४५], जबकि कात्यायनश्रौतसूत्र में ग्रीष्म में वेणु से आग्रयणेष्टि को सम्पादित करते हुए पुनः संस्कृत रथ, क्षौम, मधुपर्क और वर्षा ऋतु में यजमान द्वारा धारण किया गया वस्त्र दक्षिणा स्वरूप देने का विधान किया गया है।[४६] जहाँ एक ओर दोनों श्रौत सूत्र ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के लिए अग्न्याधान हेतु क्रमशः वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतु का विधान करते हुए एकमत दीख पड़ते हैं। वहीं दूसरी ओर दोनों सूत्रकारों के मतभेद भी स्पष्ट दिखायी देते हैं। वाराहश्रौसूत्र में वैश्य एवं रथकार के लिए क्रमशः शरद एवं वर्षा ऋतु के विधान के साथ ही सभी वर्णों के लिए विकल्पस्वरूप शिशिर ऋतु का भी निर्देश किया गया है तथा पूर्णिमा एवं अमावास्या तिथि का विधान भी विकल्पस्वरूप है।[४७] कात्यायनश्रौतसूत्र वैश्य एवं रथकार दोनों के लिए एक मात्र वर्षा ऋतु और केवल अमावास्या तिथि का ही विधान करता है,[४८] जो कि वस्तुतः उचित है। कात्यायनश्रौतसूत्र में राज्य एवं यश कामनाओं की पूर्ति हेतु भी पुनराधान का विधान किया जाना वर्णित है;[४९] किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा विधान नहीं है। पुनराधान की दक्षिणा में पुनः सिला गयावस्त्र, पुनः नवीनीकृत, रथ, पुनर्विमुक्त बैल और शतमान स्वर्ण देने का विधान किया गया है।[५०] जबकि कात्यायन ने केवल बैल एवं स्वर्ण का दान ही

---

४४. वारा०श्रौ १/४/१-२

४५. वही, १/५/५/१, २ श्यामाकान्बुभुक्षमाणः।
बभ्रुः पिङ्गो दक्षिणा वसनं वा।

४६. काश्रौ ४/६/१९ पुनः संस्कृते रथो दक्षिणा क्षौमं मधुपर्को वर्षाधृतं वा वासः।

४७. वारा०श्रौ १/४/१/१/२, पौर्णमास्याममावास्यायां वा... शरदि वैश्योवर्षासु रथकारः।
सार्ववर्णिकं शिशिरम्।

४८. काश्रौ ४/७/७ वर्षाः ... वैश्यरथकृताम्। तथा ४/७/१ अमावास्यायामग्न्याधेयम्।

४९. वही, ४/११/२

५०. वारा०श्रौ १/५/१/१८

विहित किया है। अग्निहोत्र के प्रसङ्ग में दोनों श्रौतसूत्रों के अनुसार गतश्री को आहवनीयाग्नि सदा बनाये रखनी चाहिए।[५१] दोनों श्रौतसूत्रों में समान रूप से कामनाओं के अनुसार विविध द्रव्यों द्वारा अग्निहोत्र करने का विधान है। उदाहरणार्थ –

का.श्रौ.सू.	वाराहश्रौ.सू.
पयसा स्वर्गकामो पशुकामो वा। यवाग्वा ग्रामकामः। तण्डुलैर्बलकामः। दध्नेन्द्रियकामः। घृतेन तेजस्कामः।[५२]	पयसा जुहुयात्पशुकामस्य यवाग्वा ग्रामकामस्याज्येन तेजस्कामस्य दध्नेन्द्रियकामस्य तण्डुलैर्बलकामस्य।[५३]

दोनों श्रौतसूत्रों के अनुसार पशुबन्ध समस्त पशुयागों की प्रकृति है तथा इसका अनुष्ठान दो बार करना चाहिए।[५४] कात्यायन के अनुसार यूप का ग्रहण पलाश वृक्ष से ही किया जाय, किन्तु पलाश के अभाव में खदिर, बिल्व, रोहितक, का प्रयोग किया जा सकता है।[५५] जबकि वाराहश्रौतसूत्र ने बिल्व, पलाश, खदिर, रोहीतक, उदुम्बर वृक्षों में से किसी एक के द्वारा यूप ग्रहण का विधान करते हुए प्रह्मबर्बस् की कामना की अभिपूर्ति हेतु बिल्ववृक्ष के यूप का विकल्प विधान प्रस्तुत किया है।[५६]

चातुर्मास्य के प्रसङ्ग में ही कात्यायन ने पाशुक चातुर्मास्य का भी वर्णन किया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा विधान नहीं है। शुनासीर पर्व का वर्णन कात्यायन में वाराहश्रौतसूत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप में चित्रित है। दोनों श्रौतसूत्रों में वाजपेय याग का अनुष्ठान शरद् ऋतु में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय द्वारा ही करने का विधान किया गया है।[५७] दोनों ने ही राजसूय याग के सम्पादन हेतु क्षत्रिय को अधिकार दिया है[५८],

---

५१. काश्रौ ५/१/१३/५, वारा०श्रौ १/५/२-६
५२: काश्रौ ४/१५/२०-२५
५३. वारा०श्रौ १/५/३/१
५४. काश्रौ ६/१/१, वारा०श्रौ १/६/१/१
५५. काश्रौ ६/१/८/९, पलाशं। अभावे खदिरबिल्वरौहितकान्।
५६. वारा०श्रौ १/६/१/५-६
५७. काश्रौ १४/१/१, वारा०श्रौ २/१/१/१ ब्राह्मणो राजन्यो वा शरदि वाजपेयेन यजेत।
५८. वही, १५/१/१ राज्ञो राजसूयः। वारा०श्रौ ३/३/१/१ राज्ञो राजसूयः।

लेकिन कात्यायन के मत में राजसूय याग का अनुष्ठान फाल्गुन मास की पूर्णिमा तथा वाराह श्रौतसूत्र के अनुसार चैत्रमास की पूर्णिमा के दिन करने का विधान है।[५९] कात्यायन ने अश्वमेध यज्ञ की 'राजयज्ञ' संज्ञा की है तथा इसके सम्पादन हेतु सर्वकामी व्यक्ति को अधिकार दिया है।[६०] जबकि वाराहश्रौतसूत्र ने विजय करने के अनन्तर (सर्वलोकविजयाकांक्षी) राजा द्वारा अश्वमेध याग करने का विधान किया है।[६१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कात्यायन एवं वाराहश्रौतसूत्रों के रचना-काल में पर्याप्त अन्तर होते हुए भी अनेकशः ऐक्य है। वाराह श्रौतसूत्र कात्यायनश्रौतसूत्र की अपेक्षा अर्वाचीन रचना है। कहीं-कहीं कात्यायन आदि पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करता हुआ दीख पड़ता है। कात्यायनश्रौतसूत्र में यत्र-यत्र पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा कहीं भी विधान उपन्यस्त नहीं है। कात्यायन ने सूत्रात्मक शैली का प्रयोग अत्यन्त पटुता से प्रस्तुत किया है। श्रौतसूत्र में आद्योपान्त सूत्रों का आकार अत्यन्त संक्षिप्त होने के साथ ही वे गूढार्थ वाले भी हैं। सूत्रों की संक्षिप्तता अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाती है। उदाहरणार्थ-

गत्वेतराः।
सारस्वतीः।
शीघ्रम्।
साहस्रम्।
ललाम्।
कृतिकाजिं वा।[६२]

अस्तु, वाराहश्रौतसूत्र कात्यायनश्रौतसूत्र की अपेक्षा विषयवस्तु की दृष्टि से मौलिक नहीं है।

---

५९. वही, १५/१/१७, वारा०श्रौ ३/३/१/२ चैत्र्यां पौर्णमास्यां...।
६०. काश्रौ २०/१/१ राजयज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य।
६१. वारा०श्रौ ३/४/१/१ राजा विजित्याश्वमेधेन यजेत।
६२. काश्रौ १५/३/२३, २०/१/२८, ३०, ३१, ३२

वाराहश्रौतसूत्र एवं वैखानसश्रौतसूत्र

वैखानसश्रौतूसत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा से संबद्ध सभी श्रौतसूत्रों में अर्वाचीन श्रौतसूत्र है। दोनों श्रौतसूत्रों के रचनाकाल में न्यूनतम अन्तर है, दोनों श्रौतसूत्र सूत्रकालीन साहित्य की नवीनतम कृतियाँ हैं। महादेव ने वैखानस श्रौतसूत्र को परवर्ती रचना बताया है और इस मत की पुष्टि में भाषा एवं शैली के आधार पर प्रो० कैलेण्ड ने भी अपना मत व्यक्त किया है।[६३]

वैखानसश्रौतसूत्र कुल २१ प्रश्नों में विभक्त है, जिसका विवरण निम्नलिखित है -

प्रश्न १	-	अग्न्याधान, पुनराधान।
प्रश्न २	-	अग्निहोत्र।
प्रश्न ३-७	-	दर्शपौर्णमास।
प्रश्न ९-१०	-	आग्रयण और चातुर्मास्य।
प्रश्न १०	-	निरूढपशुबन्ध।
प्रश्न ११	-	सौत्रामणी एवं परिभाषा।
प्रश्न १२-१६	-	अग्निष्टोम, प्रवर्ग्य।
प्रश्न १७	-	उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय।
प्रश्न १८-१९	-	अग्निचयन।
प्रश्न २०	-	इष्टियों का प्रायश्चित्त।
प्रश्न २१	-	सोमयज्ञ का प्रायश्चित्त।

वैखानसश्रौतसूत्र के अन्तर्गत विवेच्य विषयों पर तुलनात्मक दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि इसकी विषय सामग्री का चयन बौधायन, आपस्तम्ब एवं सत्याषाढ आदि कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रों से किया गया है। पूर्ववर्ती आचार्यों की उपजीव्यता के होने पर भी इस श्रौतसूत्र में अपनी मौलिकता एवं विशेषताएँ सन्निहित हैं। प्रथमतः, यजुर्वेदीयश्रौतसूत्रों की परम्परा के विपरीत इस श्रौतसूत्र का आरम्भ

६३. सश्रौ का महादेवकृत भाष्य, भाग १, पृ० २ वैखानसगृह्यसूत्र का अनुवाद, कैलेण्ड, भूमिका, पृ० २३-२५

दर्शपौर्णमास से न करके अग्न्याधान से किया गया है। प्राचीन कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रों में यजमान के कृत्यों का पृथक् अध्याय में विवेचन किया गया है। इससे यजमान के अनुष्ठानों का क्रम समझने में असुविधाएँ स्वाभाविक हैं। ऐसी असुविधा के अतिरिक्त यजमान के अध्याय को पृथकता से पढ़ना पड़ता है, किन्तु इस असुविधा के ही निराकरणार्थ आचार्य विखनस ने यज्ञविशेष के सन्दर्भ में यजमान के कृत्यों का वर्णन किया है जो सर्वथा मौलिक कर्म हैं।

वैखानसश्रौतसूत्र में अग्निष्टोम के साथ ही साथ प्रवर्ग्य का भी विवेचन किया गया है, जबकि अन्य श्रौतसूत्रों में प्रवर्ग्य को स्वतन्त्र स्वीकार कर पृथक् रूप में निरूपण किया गया है। साथ ही साथ हमें अग्निचयन के प्रसङ्ग में भी वैखानसश्रौतसूत्र की मौलिकता देखने को मिलती है। वैखानस एवं वाराहश्रौतसूत्र को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है; कि कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्र होने के कारण दोनों श्रौतसूत्रों में विशेष रूप में अध्वर्यु एवं उसके सहायक ऋत्विजों के कार्यों का प्रतिपादन करते हुए यज्ञों का वर्णन करते हैं, किन्तु दोनों में शाखा गत भेद है। वैखानसश्रौतसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध रखता है और वाराहश्रौतसूत्र मैत्रायणी शाखा से। जहाँ एक ओर वाराहश्रौत सूत्र में कुछ ऐसे विषयों का समावेश किया गया है, जो वैखानसश्रौतसूत्र में अलभ्य हैं। उदाहरणार्थ, द्वादशाह, गवामयन, उत्सर्गिणामयन, महाव्रत, राजसूय, अश्वमेध आदि।[६४] वहीं दूसरी ओर वैखानसश्रौतसूत्र में भी कुछ ऐसे विषय प्रतिपादित हैं, जो वाराहश्रौतसूत्र में विवेचित नहीं है, यथा अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अप्तोर्याम, इष्टिप्रायश्चित्त तथा सोमप्रायश्चित्त आदि।[६५] वाराह श्रौतसूत्र में सर्वप्रथम परिभाषा प्रकरण दिया गया है। तदनन्तर यजमान एवं ब्रह्मा के अनुष्ठेय कर्तव्यों का उद्घाटन किया गया है, जबकि वैखानसश्रौतसूत्र में परिभाषाप्रकरण ग्रन्थ के मध्य भाग (सप्तम खण्ड) में विवेचित है, जिसमें विशेषतः याज्ञिक

---

६४. वाराहश्रौतसूत्र, ३/२/, ३/३/, ३/४

६५. वैखा०श्रौ १२/१६, १७/१-१८, २०-२१

उपकरणों एवं पात्रों का विवरण विहित है। यजमान एवं ब्रह्मत्व नाम से किसी पृथक् अध्याय का उल्लेख नहीं किया गया है। वाराहश्रौतसूत्र में दर्शपूर्णमास के अनन्तर अग्न्याधान, पुनराधान एवं तृतीयाधान का विधान किया गया है जबकि वैखानसश्रौतसूत्र में अग्न्याधान एवं अग्निहोत्र का सर्वप्रथम विवेचन किया गया है, तदनन्तर दर्शपूर्णमास का। यह विधान पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित हविर्यज्ञों के वर्णन क्रम को आधार बनाकर किया गया है। वैखानसश्रौतसूत्र की अपेक्षा वाराहश्रौतसूत्र में यागक्रमों का ध्यान नहीं रखा गया है, क्योंकि चातुर्मास्य का विधान (जो कि हविर्यज्ञों में प्रमुख है) पशुबन्ध याग के अनन्तर किया है, जो सर्वथा अनुपयुक्त है एवं न्याय संगत नहीं है। इसी प्रकार सौत्रामणी का भी विधान पशुबन्ध के अनन्तर न करके सोमयानों में विवेचित है, जो उचित नहीं है। वैखानसश्रौतसूत्र में इस क्रम का पालन कठोरतम ढंग से किया गया है, जो उसकी अपनी मौलिकता है। वाराहश्रौतसूत्र में अन्य आचार्यों का अल्पतम उल्लेख उनके नामोल्लेख द्वारा किया गया है, लेकिन वैखानसश्रौतसूत्र में स्थान-स्थान पर इत्येके 'इत्येकेषाम्' 'एके समामनन्ति' द्वारा अन्य आचार्यों के मतों को भी उद्घाटित किया गया है।[६६] वाराहश्रौतसूत्र में तृतीयाधान का विधान किया गया है,[६७] जो सर्वथा मौलिक है। वैखानस श्रौतसूत्र में भी इसका विधान है। वाराहश्रौतसूत्र की भाषा एवं शैली वैखानसश्रौतसूत्र की भाषा एवं शैली की अपेक्षा कृत अधिक वैज्ञानिक सुगम तथा स्पष्ट है, वैखानसश्रौतसूत्र की शैली ब्राह्मण ग्रन्थों से प्रभावित है। इसमें सूत्रों का आकार बहुत लम्बा है। सूत्र लम्बे-लम्बे वाक्यों में निर्मित हैं, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में छोटे-छोटे वाक्यों में सूत्र हैं जो इसकी अपनी मौलिकता है। इसकी शैली सूत्रात्मक हैं सूत्र सरल एवं बोधगम्य हैं। उनमें अर्थ की स्पष्टता विद्यमान है, किन्तु वैखानस श्रौतसूत्र में इसका सर्वथा अभाव है।[६८] परिमाप की दृष्टि से वाराहश्रौतसूत्र वैखानसश्रौतसूत्र की अपेक्षा संक्षिप्त है। वाराहश्रौतसूत्र में

---

६६. वैखाश्रौ ४/५, १/१, २/४
६७. वारा०श्रौ १/५/१/२०
६८. वैखाश्रौ ४/३-४, २/२, १२/१०

अनुष्ठानों के विवेचन में सूक्ष्मता एवं सूत्रात्मकता है। इसमें अनावश्यक शब्दों को स्थान नहीं दिया गया है। साथ ही साथ काल, नक्षत्र एवं ऋतुओं का निर्देश वैखानस की अपेक्षा गहनता एवं सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया गया है, उदाहरणार्थ -

वैखानसश्रौतसूत्र	वाराहश्रौतसूत्र
अग्न्याधेयं व्याख्यास्यामो। ब्राह्मणो वसन्ते; राजन्यो ग्रीष्मे; वैश्यः शरदिरथकारो वर्षासु। सर्वे शिशिर इत्येके। रोहिणी कृतिका मृगशिरा पुनर्वसूत्तरामनुराधा श्रवणहस्तविशा-खास्वेकस्मिन्नक्षत्रेऽमावास्यायां पौर्णमास्यायां वा आदधीत।[६९]	पौर्णमास्याममावस्यायां वसन्ते ब्राह्मण आदधीत। ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यो वर्षासु रथकारः सार्ववर्णिकं शिशिरम्। ऋतुनक्षत्र पर्वसन्निपात आदधीत। सर्व सोमेन यक्ष्यमाणः।[७०]

इससे ज्ञात होता है कि वैखानसश्रौतसूत्र की शैली ब्राह्मण-शैली है। इसके सूत्रों का अर्थबोध भी कठिनता से होता है। जबकि वाराहश्रौतसूत्र की शैली शुद्ध सूत्रात्मक शैली है। इसके सूत्र छोटे-छोटे हैं। इनसे अर्थबोध भी सुगमता के होता है, अतः कहा जा सकता है; कि वाराहश्रौतसूत्र वैखानसश्रौतसूत्र की अपेक्षा श्रौतसाहित्य में उच्च स्थान का अधिकारी है। इसमें आदर्श श्रौतसूत्र की सभी विशेषताएँ समाविष्ट की गयी हैं, जबकि वैखानसश्रौतसूत्र में उक्त गुणों का अभाव है। ऐसा होने पर भी दोनों श्रौतसूत्रों में बहुत अधिक वर्णन साम्य है। जैसे :- दोनों ने ही अग्न्याधान के अनुष्ठान की समाप्ति के अवसर पर पवमान अग्नि के लिए अष्टाकपालक पुरोडाश याग का विधान समान रूप से किया है।[७१] दोनों ने कूष्माण्ड होम का विधान किया है।[७२] दोनों श्रौतसूत्रों में दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान का अधिकार सर्वकामी को दिया गया है।[७३]

---

६९. वैखाश्रौ १/१

७०. वारा०श्रौ १/४/१/१-४

७१. वारा०श्रौ १/४/४/२३, समाप्येष्टिमग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्।

७२. वारा०श्रौ १/४/१/६ इति कूष्माण्डैश्च। वैखाश्रौ १/४/७

७३. वारा०श्रौ १/२/१/१ सर्वकामस्य दर्शपूर्णमासौ। वैखा श्रौ ३/१ सर्वेभ्यः कामेष्यो दर्शपूर्पामासौ...।

दोनों श्रौतसूत्रों ने दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान हेतु ३० वर्ष अथवा यावज्जीवन काल का निर्धारण किया है।[७४] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैखानसश्रौतसूत्र में प्रतिपादित याज्ञिक अनुष्ठानों का वाराहश्रौतसूत्र में प्रतिपादित अनुष्ठानों से किंचिद् साम्य एवं वैषम्य दोनों है, किन्तु शैली की दृष्टि से वाराहश्रौतसूत्र वैखानसश्रौतसूत्र की अपेक्षा अधिक उत्तम है, क्योंकि वैखा.श्रौ. की शैली में सूत्रात्मकता एवं संक्षिप्तता का सर्वथा अभाव है, उस पर बौधायन श्रौ.सू. की भाँति ब्राह्मण ग्रन्थों की स्पष्ट छाप है। उदाहरणार्थ –

> तां द्विषाच्छेदयित्वाऽधोभागेनाधरामरणिं.......................विशेषितां चतुर्विंशत्यङ्गुल्यायतामष्टाङ्गुलिविस्तारां चतुरङ्गुलीन्नतां यथोत्तरभागेनोत्तरामरणिं च गायत्र्यां करोति।[७५]

उक्त कण्डिका एक ही वाक्य है। इसमें सूत्रों का विभाजन नहीं किया गया है, और एक ही अधिक वाक्यों का समावेश किया गया है। अस्तु वाराहश्रौतसूत्र वैखानसश्रौतसूत्र की अपेक्षा मौलिक एवं एक उत्तम रचना है।

वाराहश्रौतसूत्र एवं भारद्वाजश्रौतसूत्र

सत्याषाढ श्रौतसूत्र के टीकाकार महादेव के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के श्रौतसूत्रों का कालक्रम के आधार पर क्रमशः बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, वाधूल एवं वैखानस आदि हैं।[७६] डा० रामगोपाल ने भारद्वाजश्रौतसूत्र को प्राचीन श्रौतसूत्रों के द्वितीय चरण की रचना के अन्तर्गत स्थान प्रदान किया है।[७७] जबकि वाराहश्रौत सूत्र को सूत्रकाल की परवर्ती रचना स्वीकारते हुए चतुर्थ चरण की रचना बताते हैं। भारद्वाजश्रौतसूत्र वाराहश्रौतसूत्र की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है, क्योंकि स्वतः इस श्रौतसूत्र में आचार्य भारद्वाज का उल्लेख किया गया है।[७८]

---

७४. वारा०श्रौ १/१/१/८४, वैखाश्रौ ३/१

७५. वैखा श्रौ १/१, पृ० २

७६. सश्रौ०, ग्रन्थारम्भ, महादेव कृत भाष्य, भाग १, पृ० २

७७. डा० रामगोपाल, इ०वै०क०सू० अ, २

७८. वारा०श्रौ १/२/२/३९, और्वो गौतमो भारद्वाज इति...।

सम्पूर्ण भारद्वाजश्रौतसूत्र १५ प्रश्नों में विभक्त है, प्रश्नों का उपविभाजन संख्याओं में और संख्याओं को सूत्रों में बाँटा गया है, जबकि वाराहश्रौत सूत्र ३ भागों में, भाग अध्यायों, अधयाय खण्डों में और खण्ड सूत्रों में उप विभक्त हैं; जिसके तीनों भागों की क्रमशः 'प्राक्सौमिकम्', 'अग्निचयनम्' एवं 'वाजपेयादिकम्' संज्ञा की गयी है। भारद्वाज श्रौतसूत्र की वर्णन सूची का विवरण निम्नांकित है -

प्रथम प्रश्न	-	दर्शपौर्णमास, आध्वर्यव।
द्वितीय प्रश्न	-	,, ,,
तृतीय प्रश्न	-	,, ब्रह्मा।
चतुर्थ प्रश्न	-	यजमान।
पंचम प्रश्न	-	अग्न्याधान, पुनराधान।
षष्ठ प्रश्न	-	अग्न्युपस्थान; अग्निहोत्र, आग्रायण।
सप्तम प्रश्न	-	निरूढपशुबन्ध।
अष्टम प्रश्न	-	चातुर्मास्य।
नवम प्रश्न	-	इष्टियों एवं अग्निहोत्र से संबद्ध प्रायश्चित्त।
दशम से पञ्चदश प्रश्न तक	-	ज्योतिष्टोम।

उपर्युक्त विषयानुक्रम से ज्ञात होता है; कि वाराहश्रौतसूत्र विषयविवेचन की दृष्टि से भारद्वाज श्रौतसूत्र से व्यापक है। भारद्वाज श्रौतसूत्र अतिसंक्षिप्त है, क्योंकि इसमें अग्निचयन, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, द्वादशाह, गवामयन, अश्वमेध आदि महत्त्वपूर्ण यज्ञों का विवेचन ही नहीं किया गया है, जो श्रौतसाहित्य के प्रमुख प्रतिपाद्य हैं। भारद्वाज श्रौतसूत्र में पैतृमेधिक सूत्र के विवेचन के अनन्तर भारद्वाज परिशोष सूत्रों का संग्रह है, जिसमें कुल २२२ सूत्रों का समावेश किया गया है। इसमें भी १०२ परिभाषा सूत्र, ९ अनुग्राहिक तथा १११ सूत्र परिशेष रूप में उद्धृत किये गये हैं। ज्ञातव्य है कि इन परिशेष सूत्रों के अन्तर्गत कुछ ऐसे अनुष्ठानों का निरूपण भी किया गया है, जिनके मूल रूप का भारद्वाजश्रौतसूत्र में उल्लेख ही नहीं हुआ है। जैसे चातुर्मास्य होत्र[७९], पाशुकप्रायश्चित्त[८०],

७९. भार० श्रौ (भार०परिशेष सूत्र) ५/७
८०. वही, १७

काम्यपशु[८१] पशुयाग का याजमान[८२], नक्षत्रेष्टि[८३] अग्निचयन एवं प्रायश्चित्त[८४], होत्र परिभाषा[८५]; वाजपेय[८६], साग्निक एकाह[८७] द्वादशाह[८८], काम्येष्टियाँ[८९], अश्वमेध[९०] राजसूय[९१] सत्र[९२], एकाह[९३], पश्वेकादशिनी[९४] यूपैकादशिनी[९५], अतिपवित्रेष्टि[९६] आदि। यहाँ यह स्मर्तव्य है कि भारद्वाज श्रौतसूत्र के मतों का उल्लेख अन्य श्रौतसूत्रों में पर्याप्त रूप में मिलता है; जिनसे अनुमान किया जा सकता है; कि भारद्वाज ने भी तैत्तिरीय शाखा के अन्य श्रौतसूत्रों की भाँति समस्त यागों की विवेचना की रही हो, किन्तु कालान्तर में वे विनष्ट हो गये; जो सम्प्रति अनुपलब्ध हैं।[९७] भारद्वाजश्रौतसूत्र में पितृमेधिक तथा परिशेष सूत्रों का समायोजन अलग से किया गया है, क्योंकि इनकी गणना श्रौतसूत्र में नहीं की गयी है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र के अन्तर्गत पितृमेध का उल्लेख तक नहीं किया गया है। दोनों श्रौतसूत्रों के वर्णनक्रमों में भी पर्याप्त समानताएँ एवं भिन्नताएँ दृष्टिगत होती हैं।

दोनों में यागक्रम का प्रारम्भ दर्शपूर्णमासेष्टि से किया गया है तथा चातुर्मास्य पर्यन्त सभी यज्ञ एकरूपता के साथ उपन्यस्त किये गये हैं। ज्ञातव्य है कि दोनों ने ही निरूढपशुबन्ध को चातुर्मास्य के पूर्व विहित

---

८१. वही, २२/११८
८२. वही, ३१-३४
८३. वही, ४५-५०
८४. वही, ५४/१००, १०९-११०, ११९-१२३
८५. वही, ८७/९२, ९४-९६
८६. वही, ७३
८७. वही, ७४-७६
८८. वही, ७७
८९. वही, ११७, ११८, १६९
९०. वही, ८३, १२९
९१. वही, १३०, १३१
९२. वही, १२६, १३५, १३६
९३. वही, १४०
९४. वही, १४२
९५. वही, १४३
९६. वही, २०३-२०९
९७. भारश्रौ. सं० डा० जी० सी० काशिकर, प्रस्तावना, पृ० २८

कर हविर्यज्ञों के क्रम में व्यवधान ला दिया है; जो सर्वथा अनुचित है। वाराहश्रौतसूत्र में सर्वप्रथम परिभाषा एवं याजमानम् और ब्रह्मत्वम् का विधान किया गया है, किन्तु भारद्वाज ने प्रथम प्रश्न से लेकर चतुर्थ प्रश्नपर्यन्त दर्शपूर्णमासेष्टि के अन्तिम भाग में क्रमशः आध्वर्यव, ब्रह्मा एवं यजमान के कृत्यों का निर्देश किया गया है। भारद्वाज श्रौतसूत्र में परम्परा का उल्लंघन करते हुए अग्निहोत्र के पूर्व ही अग्न्युपस्थान का विधान किया गया है;[९८] किन्तु वाराहश्रौतसूत्रकार ने कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा का निर्वाह करते हुए अग्निहोत्र के अनन्तर ही अग्न्युपस्थान का चित्रण किया है।[९९] भारद्वाजश्रौतसूत्र के अन्तर्गत नवम प्रश्न में इष्टियों एवं अग्निहोत्र से संबद्ध प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है, जबकि वाराहश्रौत सूत्र में ऐसा कोई विवेचन नहीं है। भारद्वाज ने सोमयागों की प्रकृति के रूप में ज्योतिष्टोम का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु वाराह श्रौतसूत्र में इसका पूर्णतः अभाव है। भारद्वाज ने विकृत यागों- उक्थ्य षोडशी, अतिरात्र, एवं अप्तोर्याम के वर्णन प्रकृति याग के साथ ही प्रस्तुत किये हैं, जबकि वाराहश्रौतसूत्र ने उक्त विकृतियागों का वर्णन नहीं किया है।

दर्शपूर्णमास के हविपेषण नामक उप अनुष्ठान के लिए पेषण कृत्यहेतु दोनों श्रौतसूत्रों ने यजमान की पत्नी अथवा दासी में से किसी एक को अधिकार दिया है।[१००] भारद्वाज के मत में वेदि-निर्माण आहवनीय के पीछे यजमान के बराबर अथवा अपरिमित माप की बनानी चाहिए।[१०१] जबकि वाराहश्रौतसूत्र में गार्हपत्य के आगे और आहवनीय के पीछे यजमान के बराबर ही बनाने का निर्देश है, किन्तु इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि पूर्व की ओर वेदि को तिरछे रूप में हवियों की स्थापना के उपयुक्त बढ़ाकर बनानी चाहिए।[१०२] वेदि निर्माण के अनन्तर

---

९८. भार.श्रौ ६/१-६, ६/७-१४

९९. वारा०श्रौ ५/२-३, ५-४

१००. भारश्रौ १/२४/१ पत्नी पिनष्टि दासी वा। वारा०श्रौ १/२/४/६९ दासी पिनष्टि पत्नी वा।

१०१. भार०श्रौ सू०

१०२. वारा०श्रौ १/३/१/४३

भारद्वाज ने उसे २, ३, ४ अङ्गुल अथवा सीता के माप के बराबर खोदने का विधान किया है,[१०३] जबकि वाराहश्रौतसूत्र में दो अङ्गुल ही खोदने का अविकल्पक मत प्रस्तुत किया गया है।[१०४] भारद्वाज ने कामनाओं के अनुसार अग्न्याधान के अनुष्ठान काल हेतु नक्षत्रों का विधान किया है, यथा - सर्वशक्तिमान होने की कामना से रोहिणी, श्रीकामना में मृगशिरा, प्रजादानशील हेतु पूर्वाफाल्गुनी और ऐश्वर्यकामना के लिए उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र विहितव्य है[१०५] जबकि वाराह श्रौतसूत्र में ऐसा वर्णन नहीं किया गया है।

भारद्वाज ने अग्निहोत्र के प्रसङ्ग में मतान्तरों का समावेश किया है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में स्वमत की ही प्रधानता है। दोनों ने विविध कामनाओं की अभिपूर्ति हेतु समान रूप में नाना पदार्थों के द्वारा अग्निहोत्र करने का विधान प्रस्तुत किया है।[१०६] भारद्वाजश्रौत्रसूत्र के अन्तर्गत अग्न्याधान में प्रयुक्त किये जाने वाले संभारों का नामतः उल्लेख न करके मात्र 'ब्राह्मण व्याख्याताः, संभाराः सप्तमार्थिवाः, सप्तवानस्पत्याः' को ही उद्धृत किया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में संभारों का नामोल्लेख करते हुए उनके निवपन का भी सविस्तार वर्णन किया गया है।[१०७] दोनों श्रौतसूत्रों में 'इति ब्राह्मणव्याख्यातम्' पद के द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों के मतों को साङ्गोपाङ्ग रूप में अङ्गीकार किया गया है। भारद्वाज ने इसके अतिरिक्त 'ब्राह्मणोक्तानि' ब्राह्मणख्यातम्' यथा 'समाम्नातम्' एवं 'इति विज्ञायते' आदि पदों का भी प्रयोग किया है।[१०८] भारद्वाजश्रौतसूत्र के अन्तर्गत आश्मरथ्य, आलेखन का नाम मिलता है। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट भाग में भी बादरायण, ओडुलोमि तथा पैतृमैधिक सूत्र में शाट्यायनक, कौषीतकि आदि के मतों का भी उल्लेख किया है।[१०९]

---

१०३. भार श्रौ २/२/८ अथैनां खनति द्व्यङ्गुलं त्र्यङ्गुलं चतुरङ्गुलं वा सीतामात्रीम।
१०४. वारा०श्रौ १/३/१/४६ इति द्व्यङ्गुलं खात्वा...।
१०५. भारश्रौ ५/१/८-१२
१०६. वारा०श्रौ १/५/३/१, भार श्रौ ६/१४/१४
१०७. वारा०श्रौ १/४/२/१-८, भारश्रौ ५/१/४
१०८. भार श्रौ 'ब्राह्मणव्याख्यातम्' हेतु ५/१/४, १०/१३/६, १२/१०/१४ १३/१४/३, इति विज्ञायते १/१५/८, १५, १६
१०९. भार श्रौ, परिभाषा सूत्र, १८५, १२७, पै मे सू १/२/१२, ४/१/१/१०, १२

जबकि वाराहश्रौतसूत्र में मात्र एक ही बार और्व गौतम भारद्वाज के नामों का निर्देश उनके मतों का उद्धृत करते हुए किया गया है।[११०]

यद्यपि दोनों श्रौतसूत्रों की सूत्र-संरचना में प्रायः मन्त्रों को उद्धृत करने के अनन्तर 'इति' लगाकर उस मन्त्र द्वारा की जा रही क्रिया का कथन किया गया है, तथापि भारद्वाज ने अपने सूत्रों में कर्मों का कथन पूर्व में भी किया है और मन्त्र कर्म कथन के अनन्तर प्रस्तुत किया है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में मन्त्रों का उद्धरण देने के पश्चात् की जाने वाली क्रियाओं का कथन अन्त में ही किया गया है। उदाहरणार्थ -

भार श्रौ सू	वाराहश्रौ सू
उत्करेपुरस्तात्प्रत्यञ्चं स्फ्यमुदस्यति शतमृष्टिरसि वानस्पत्यो द्विषतो तामीक्षमाणौ जुहोति 'भूरसि घृतामनसा' इति। प्रमुच्यहिरण्यमादित्यमुपतिष्ठते सूर्यस्य चक्षुरारुहम् इति।[१११]	दोग्धारं पृच्छति कामधुक्ष इति अमूमिति नामादिशाति। सा विश्वायुरस्त्वसाविति नामग्राह मनुमन्त्रयते। सा विश्वभूरिति द्वितीयाम्। सा विश्वकर्मा इति तृतीयाम्।[११२]

उक्त विवेचों एवं उदाहरणों से स्पष्ट होता है; कि दोनों श्रौतसूत्रों के सूत्र संक्षिप्त और सरल हैं। प्रायः एक सूत्र में एक ही वाक्य का प्रयोग किया गया है। दोनों में सूत्रों का आकार संक्षिप्त रूप में उपन्यस्त किया गया है, जिसे पढ़ने से रुचि में प्रगाढ़ता आती जाती है, तथा याज्ञिक प्रक्रियाओं की गतिशीलता आद्योपान्त अविच्छिन्न रूप में बनी रहती है, उदाहरणार्थ :-

---

११०. वारा०श्रौ १/२/२/३९
१११. भार श्रौ १०/१५/१-४
११२. वारा०श्रौ १/२/२/२१-२२

भा श्रौ	वारा०श्रौ०
व्रतमुपेष्यति शाखामहेति।[११३]	विपरिहन्ति हवींषि।
लेपादुपस्तृणाति।[११४]	विपरियत्यृत्विजः।
लेपादभिघारयति।[११५]	यथास्थानं जुहूः।
स्वयमेवद्धितीयमनक्ति। एवं तृतीयम्	उपभृद्ध्रुवे दक्षिणे।[११६]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है; कि वाराहश्रौतसूत्र भारद्वाजश्रौतसूत्र के साथ साम्य रखते हुए प्रतिपाद्य विषय वस्तु की व्यापकता एवं शैली आदि का अनुकरण किया है तथा भारद्वाजश्रौतसूत्र की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन रचना है।

मानवश्रौतसूत्र एवं वाराहश्रौतसूत्र की तुलना

दोनों श्रौतसूत्र कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता से अनुबन्धित हैं। सम्पूर्ण मानवश्रौतसूत्र १० भागों में विभक्त है। इसके भागों का विभाजन अध्यायों में और अध्याय सूत्रों में विभक्त हैं। समग्र श्रौत साहित्य में केवल मानव तथा वाराहश्रौतसूत्रों ने ही 'प्राक्सोम' संज्ञा का प्रयोग किया है, जिसकी मानव ने प्राक् सोम तथा वाराहश्रौतसूत्र ने 'प्राक्सौमिक' संज्ञा की है। दोनों ने आध्वर्यव कर्मों का विशेष रूप में उल्लेख करने के अनन्तर यज्ञों का निरूपण किया है। मानवश्रौत सूत्र ने परिभाषा-प्रकरण का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है; जबकि वाराहश्रौतसूत्र ने प्रारम्भ में ही परिभाषाओं का वर्णन पृथक् रूप में किया है। ब्रह्मा के पृथक् अध्याय का मानवश्रौतसूत्र में अभाव है; जबकि वाराहश्रौतसूत्र में 'याजमानम्' एवं 'ब्रह्मत्वम्' का प्रथम भाग के प्रथम अध्यायों में ही उल्लेख किया गया है। वाराहश्रौतसूत्र ने दर्शपौर्णमास के सभी ऋत्विजों एवं यजमान के कार्यों का एक साथ वर्णन प्रस्तुत किया है, परन्तु मानवश्रौतसूत्र ने प्राक्सोम के प्रथम तीन अध्यायों में दर्शयाग में प्रयुक्तव्य ऋत्विजों के कार्यों की तथा चतुर्थ अध्याय में यजमान के कार्यों की विवेचना प्रस्तुत

---

११३. भाश्रौ १/२/७
११४. वही, ३/१/१५
११५. वही, ३/५/१५
११६. वाराश्रौ १/७/४/३१-३४

की है। वाराहश्रौतसूत्र ने अग्न्याधान के पश्चात् पुनराधान का विधान प्रस्तुत किया है, जो समीचीन एवं तर्कसङ्गत है, लेकिन मानवश्रौतसूत्र में इस क्रम का पूर्णतः अभाव है। इसमें अग्न्याधान के अनन्तर अग्निहोत्र एवं आग्रायण का वर्णन किया है; तदनन्तर पुनराधान का। वाराह श्रौतसूत्र ने तृतीयाधान का भी विधान किया है और इसमें अग्न्युपस्थान का पृथक् विवेचन है, किन्तु मानवश्रौतसूत्र में यह अभाव है। मानवश्रौत सूत्र में काम्येष्टियों तथा प्रायश्चित्तों का स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन किया गया है, परन्तु वाराह में इसका पूर्णतः अभाव है। मानवश्रौत सूत्र के 'अनुग्राहिक' अध्याय में आहिताग्नि एवं अनाहिताग्नि के दाह संस्कार, विधवा-दाह-संस्कार तथा जातपुत्र का जन्मसंस्कार आदि विषयों का समावेश किया गया है, जबकि 'वाराहश्रौतसूत्र में इसका पूर्णतः अभाव है। मानवश्रौतसूत्र में श्रौतसूत्र की परम्परा के विपरीत शुल्ब सूत्र का समावेश किया गया है, किन्तु वाराह इस प्रकार के समावेशों से मुक्त है। इसमें किसी प्रकार के शुल्बसूत्रों का उल्लेख नहीं है, अपितु आचार्य वाराह प्रणीत शुल्बसूत्र स्वतन्त्रग्रन्थ के रूप में निर्मित है।

अग्निष्टोम स्तोम भागों की प्रकृति है; जिसका सम्यक् विवेचन मानवश्रौतसूत्र के दूसरे भाग के पाँचवें अध्याय में सविस्तार वर्णन किया गया है। यह मानवश्रौतसूत्र ने ही नहीं, समग्र श्रौत साहित्य का यह अनिवार्य वर्ण्यविषय है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में इसका पूर्णतः अभाव है। यह इस श्रौतसूत्र की न्यूनता का द्योतक है। इसके अतिरिक्त वाराहश्रौतसूत्र में एकाह, अहीन, सत्र, सर्वमेध आदि यज्ञों की चर्चा तक नहीं है। जबकि ये मानवश्रौत सूत्र के ही वर्ण्य विषय हैं।

वाराहश्रौतसूत्र में विवेचित उत्सर्गिणामयन तथा महाव्रत याग का सविस्तार वर्णन है, परन्तु मानवश्रौतसूत्र में इसका अभाव है। मानवश्रौतसूत्र ने 'गोनामिक' का उल्लेख किया है, जबकि वाराहश्रौत सूत्र में इस प्रकार के वर्णन नहीं हैं। वाराहश्रौतसूत्र परवर्ती काल की रचना है, क्योंकि डा० रामगोपाल ने मानवश्रौतसूत्र की रचना काल के क्रम में प्रथम चरण में रखा है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र को चतुर्थ चरण की रचना सिद्ध की है।[११७]

---

११७. इण्डिया आफ वेदिक कल्पसूत्राज, पृ० ८४

इस प्रकार हम देखते हैं कि आकार-प्रकार एवं वर्ण्य विषय की दृष्टि से वाराहश्रौतसूत्र मानवश्रौतसूत्र की अपेक्षा न्यून है। वाराह श्रौतसूत्र ने यज्ञों के वर्णन के प्रसङ्गों में मानवश्रौतसूत्र का अधिक अंशों में ऋणी है। इस श्रौतसूत्र में मानवश्रौतसूत्र की अपेक्षा विषय की न्यूनता एवं मौलिकता का अभाव है। मानवश्रौतसूत्र में व्यक्तिगत यज्ञों का सर्वाधिक विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र व्यक्तिगत यज्ञों का निरूपण उतने अच्छे ढंग से नहीं करता है। उदाहरणार्थ -

मानवश्रौतसूत्र	वाराहश्रौतसूत्र
अग्नीनादधीत वसन्ते ब्राह्मणो ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः। शिशिरं सर्वेषाम्। सोमेन यक्ष्यमाणस्यर्तावनियमो नक्षत्रे च। फलगुन्यां पौर्णमास्यां पुरस्तादेकाहे द्वयहे वादधीत। जातपुत्रो ब्राह्मणः कृतिकास्वादधीत। रोहिणी फाल्गुन्यश्चित्रेत्याम्नातानि। मृगशिरस्यादधीत। पुनर्वस्वोः पश्चा पापीयाविशाखयो:कामोऽनुराधा-स्वृद्धिकामः।[११८]	पौर्णमास्याममावास्यां वा वसन्ते ब्राह्मण आदधीत। ग्रीष्मे राजन्यः शरदिवैश्यो वर्षासु रथकारः। सार्ववर्णिकं शिशिरम्। ऋतुनक्षत्रपर्वसंनिपात आदधीत। सर्व सोमेन यक्ष्यमाणः।[११९]

दोनों श्रौतसूत्रों में सौत्रामणी के उभय भेदों का सम्यक् विवेचन किया गया है। मानवश्रौत सूत्र में अष्टम भाग के अन्तर्गत विविध यागों के पूरक सूत्र दिये गये हैं, यथा - 'अथानुग्रहा'। 'व्याख्यास्यामः'। सायं होमं वोपोक्ष्यं जुहुयात्। प्रातर्होमं वोपास्तमयम्।[१२०] किन्तु वाराहश्रौत सूत्र में इस प्रकार का कोई भी वर्णन नहीं है। मानवश्रौतसूत्र में अपनी कुछ मौलिकता दृष्टिगत होती है। यह मैत्रायणी शाखा का प्राचीनतम ग्रन्थ है, जिसको परवर्ती श्रौतसूत्रों का उपजीव्य होने का गौरव प्राप्त है। अस्तु, वाराहश्रौतसूत्र की अपेक्षा मानवश्रौतसूत्र मौलिक एवं अधिक महत्त्वपूर्ण

---

११८. मान०श्रौ १/५/१-७ क्रमशः।
११९. वारा०श्रौ १/४१/१-४- क्रमशः।
१२०. मान०श्रौ सू ८/१/१-२

तथा पूर्ववर्ती रचना है। जहाँ इसमें समग्र यज्ञों का प्रतिपादन है; वहीं वाराहश्रौतसूत्र में सभी यज्ञों के वर्णन के अभाव के साथ ही साथ प्रमुख यज्ञों के वर्णनों में भी न्यूनता है। अतएव कहा जा सकता है कि यद्यपि विषयवस्तु, रचनाशैली आदि के आधार पर वाराहश्रौतसूत्र मानवश्रौतसूत्र की अपेक्षा न्यूनतर है; तथापि श्रौतसाहित्य और स्वशाखा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

वाराहश्रौतसूत्र तथा हिरण्यकेशिन् अथवा सत्याषाढ श्रौतसूत्र

सत्याषाढश्रौतसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से संबद्ध है। तैत्तिरीय शाखा के श्रौतसूत्रों में इसका चतुर्थ स्थान है।[१२१] यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र होने के कारण इसमें अध्वर्यु तथा उसके सहायकों के कार्यों का विवेचन मुख्य रूप से किया गया है। इसके अन्तर्गत वर्णित विषयों को सम्पूर्ण रूप में २४ प्रश्नों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक प्रश्न का उपविभाजन कुल आठ पटलों में हुआ है। सत्याषाढ श्रौ.सू. में प्रायः प्रत्येक भागों के अन्तर्गत यजमान के कृत्यों की विवेचना की गयी है; जबकि वाराहश्रौतसूत्र के प्रथम अध्याय में ही यह वर्णित है जो कि उचित एवं समीचीन भी है। सत्याषाढश्रौतसूत्र एवं वाराहश्रौतसूत्र के संबन्ध में अत्यधिक समानताएँ तथा विषमताएँ दृष्टिगत होती हैं; यथाः- दोनों के क्रमशः प्रथम प्रश्न एवं अध्याय में ही यज्ञसंबन्धी सामान्य ज्ञान एवं निर्देशों का विधान समान रूप से किया गया है।[१२२]

सत्याषाढ श्रौतसूत्र के बीसवें और इक्कीसवें प्रश्न में श्रौतयागों के प्रकरण में ही गृह्ययागों का वर्णन किया गया है, किन्तु वाराह श्रौतसूत्र में ऐसा कोई विधान नहीं किया गया है। सत्याषाढ ने आपस्तम्बादि आचार्यों की भाँति ग्रन्थ के अन्तर्गत 'इत्येके' 'एकेषाम्' आदि वाक्यांशों के द्वारा वैकल्पिक मतमतान्तरों का उल्लेख किया है[१२३]; किन्तु वाराहश्रौतसूत्र

---

१२१. महादेव कृतभाष्य, सश्रौ, प्रभा (प्रारम्भ) पृ० २

१२२. सश्रौ १/१/१६, १७ यजुर्वेदनाध्वर्युः करोति। ऋग्वेदेन होता सामवेदेनोद्‌गाता सर्वैर्ब्रह्मा..........।

१२३. वारा०श्रौ १/१/१/१-६ प्रयोगे पुरुषहितँ यज्ञस्य च ज्ञाने... अध्वर्युर्यजुर्वेदेन करोत्यृग्वेदेन होता सामवेदनोद्‌गाता सर्वैर्ब्रहा।

में ऐसा कोई भी मतोद्घाटन नहीं है। इसी प्रकार मतमतान्तरों को उद्धृत करने के अनन्तर ही सश्रौ में प्रासङ्गिक सन्देहों का उपस्थापन एवं समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। दो प्रतिषेधों में प्रधान प्रतिषेध का ख्यापन भी विवेच्य है[१२४]; जबकि वाराहश्रौतसूत्र में इसका पूर्णतः अभाव है। दोनों श्रौतसूत्रों में दर्शपूर्णमास याग का विधान सर्वकामनाओं की अभिपूर्ति हेतु करने के लिए[१२५] निर्देश किया है।[१२६] दोनों ने ही दर्शपूर्णमास के यजन के अनन्तर ३० वर्ष तक अथवा यावज्जीवन उसका अनुष्ठान करने का विधान किया है।[१२७] दोनों श्रौतसूत्रों ने हविपेषण कृत्य को यजमान की पत्नी अथवा दासी के द्वारा करने का विधान किया है।[१२८]

इसी प्रकार वेदि-खनन के प्रसङ्ग में सत्याषाढ के अनुसार विविध मापों का निर्देश किया गया है। तदनन्तर नारीष्ठ होम का भी विधान किया गया है[१२९], जबकि वाराहश्रौतसूत्र में दोनों तथ्यों का अभाव है। दर्शपौर्णमास याग के तत्काल बाद ही सश्रौ. सूत्र में 'दाक्षायणयज्ञ' का विधान किया गया है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा विधान नहीं है। दोनों श्रौतसूत्रों में पिण्डपितृयज्ञ का निरूपण दर्शेष्टि के अङ्ग के रूप में किया गया है, तथा दोनों के अनुसार अग्न्याधान के प्रसङ्ग में सोमयाग में प्रवृत्त व्यक्ति हेतु ऋतु एवं नक्षत्र का कोई बन्धन नहीं स्वीकारा गया है।[१३०] ध्यातव्य है कि सत्याषाढ इस मत के उल्लेख में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि आगे सूत्र में उन्होंने 'एकेषाम्' पद का प्रयोग किया है, जिससे सिद्ध होता है; कि यह मत स्वयं सत्याषाढ का न होकर किसी अन्य पूर्ववर्ती आचार्य का है।[१३१] सत्याषाढश्रौतसूत्र में अग्न्याधान हेतु राजन्य

---

१२४. सश्रौ १/२/७१ व्याहृतीभिरन्यादधाति इत्येकेषाम्।
१२५. सश्रौ १/६/४२ एकमन्त्राणि कर्माणि। यत्रैकस्मिन्द्रव्ये विचेष्टा पृथक्तेनार्थो निष्पद्यते सकृदेव तत्र मन्त्रं ब्रूयात्। विप्रतिषेधे हविः सामान्यः बलीयः।
१२६. सश्रौ १/१/५५ सर्वकामे दर्शपूर्णमासौ। वारा०श्रौ १/२/१/१ सर्वकामस्य दर्शपूर्णमासौ।
१२७. सश्रौ १/१/५७ यावज्जीवनं यजते त्रिंशतं वर्षाणि वा। - वारा०श्रौ १/१/१/८४
१२८. सश्रौ १/६/१५१
१२९. वाराश्रौ १/४/१/४ सर्वत्र सोमेन यक्ष्यमाणः। सश्रौ ३/६/२९७
१३०. सश्रौ ३/६/२९७ नर्तू न नक्षत्रं सूर्क्षेदित्येकेषाम्।
१३१. सश्रौ ३/६/२/९६, वारा०श्रौ १/४/१/१ ग्रीष्मे राजन्यः।

को ग्रीष्म एवं हेमन्त दोनों ऋतुओं का विधान किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में राजन्य हेतु ग्रीष्म का ही निर्देश है। संभारों के निवपन के सन्दर्भ में दोनों श्रौतसूत्रों ने सप्त भौमिक एवं सप्त काष्ठीय पदार्थों का विधान किया है। सश्रौ में सप्त संख्या के स्थान पर पञ्च संख्या का विकल्प भी प्रस्तुत किया गया है।[१३२] दोनों श्रौतसूत्रों के अनुसार वैश्वदेव के ४ मास के अनन्तर वरुणप्रघास पर्व का अंनुष्ठान करना चाहिए।[१३३] दोनों के मतानुसार वरुणप्रधासपर्व में दो वेदियाँ होती हैं; जिसमें उत्तर की वेदि में अध्वर्यु एवं दक्षिण वेदि में प्रतिप्रस्थाता अपने-अपने कर्मों का सम्पादन करते हैं, यथा-अध्वर्यु वारुण आमिक्षा को तैयार करता है तथा प्रतिप्रस्थाता मारुत आमिक्षा को।[१३४] सश्रौ ने सर्व कामनाओं की पूर्ति के लिए अग्निष्टोम याग का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है,[१३५] जबकि वाराहश्रौतसूत्र में सोमयागों की प्रकृति अग्निष्टोम का उल्लेख ही नहीं किया गया है।

सत्याषाढ के अनुसार पशुबन्ध में यूप निर्माण हेतु पलाश, खदिर, बिल्व, रोहितक आदि वृक्षों को क्रमशः ब्रह्मवर्चस्, अन्न, स्वर्ग तथा प्रजाकामनाओं की पूर्ति हेतु विहित किया गया है[१३६] किन्तु वाराह श्रौतसूत्र में यूप हेतु उक्त चार वृक्षों के अतिरिक्त पाँचवा उदुम्बर नामक वृक्ष भी स्वीकारा गया है और यथाकामनाओं का वर्णन सूक्ष्म रूप में करते हुए मात्र ब्रह्मवर्चस् कामना के लिए बिल्व वृक्ष की उपादेयता प्रदर्शित की गयी है।[१३७]

सश्रौ में उक्त यूप तीन अथवा चार अरत्निमात्र लम्बा बनाने का निर्देश किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में पाँच अरत्नि परिमाप का स्वीकारा गया है।[१३८] ज्ञातव्य है कि दोनों श्रौतसूत्रों में पशुबन्धयाग के

---

१३२. सश्रौ ३/३/३०७ पञ्चपार्थिवाः सप्त वा।

१३३. सश्रौ ५/२/४५५, वारा०श्रौ १/७/२/१ चतुर्षु मासेषु वरुणप्रघासाः।

१३४. वारा०श्रौ १/७/२/२-५

१३५. सश्रौ ७/१/५४९ सर्वकामोऽग्निष्टोमः। १३६. वही, ४/१/३९७

१३७. वारा०श्रौ १/६/१/५-६ बिल्वपलाशखदिररोहितकोदुम्बराणामेकम्। बैल्वे ब्रह्मवर्चसकामः कुर्वीत।

१३८. सश्रौ ४/१/३९९ त्र्यरत्निर्वा चतुररत्निर्वा पलाशो निरूढपशुबन्धस्य.......। वारा०श्रौ १/६/१/७ पञ्चारत्न्यादिप्रमाण...।

अनन्तर ही चातुर्मास्य का विधान किया गया है, जो सर्वथा भ्रान्तिमूलक होने के साथ ही साथ असमीचीन व्यवस्था भी है, क्योंकि यागक्रमों की यहाँ पर दोनों श्रौतसूत्रों में अवहेलना की गयी है। हविर्यागों के अनन्तर ही पशुयागों का विधान उपयुक्त होता है। दोनों श्रौतसूत्रों में करम्भ पात्रों की संख्या यजमान के सगे-संबन्धियों (परिजनों) की संख्या से एक अधिक होना स्वीकारा गया है।[१३९] दोनों श्रौतसूत्र अपने पूर्वाचार्यों से प्रभावित हैं, जैसे सत्याषाढ द्वारा आपस्तम्ब और बौधायन आचार्यों से अत्यधिक रूप में प्रभावित हैं। दोनों श्रौतसूत्रों की शैली की तुलना करने पर ज्ञात होता है; कि वाराहश्रौतसूत्र सत्याषाढ की अपेक्षा अङ्गी वैज्ञानिक, तथ्यपूर्ण एवं सूत्रात्मक शैली को अङ्गीकार करता है। सत्याषाढ ने यत्र-यत्र सूत्रात्मकता का परित्याग करते हुए ब्राह्मण शैली को अपना लिया है, यथा -

> 'आपो हवि:षु जागृत यथा देवेषु जाग्रथ। एवमस्मिन्यज्ञे यजमानाय जागृतेत्यपिधानार्थे पात्रेऽप अनयत्यदस्तमसि विष्णवे त्वा यज्ञायाभि दधाम्यहम्। अद्भिरतिरिक्तेन पात्रेण या: पूता: परिशरेत इत्यपि दधाति।[१४०]

जबकि वाराहश्रौतसूत्र की शैली पूर्णरूपेण सूत्रात्मक है। सूत्रों में गूढार्थता न होकर स्पष्टार्थकता बनी हुई है। सूत्रों का आकार छोटा है। इसके साथ ही उनमें याज्ञिक प्रक्रियाओं में गतिशीलता भी बनी हुई है।

> राज्ञो राजसूय:। अग्निष्टोमेष्ट्वा चैत्र्यां पौर्णमास्यां..........। उभौ सह श्रृतौ कुर्वन्ति। नैर्ऋतमेककपालम्।[१४१]

दोनों श्रौतसूत्रों ने स्वशाखीय मन्त्रों को प्रतीक रूप में तथा इतरशाखीय मन्त्रों का विनियोग पूर्ण रूप में किया है। सत्याषाढ ने सूत्रों के अन्तर्गत अर्थप्रतीति भी कराने की शैली अपनायी है, जिसके लिए अनावश्यक शब्दों का प्रयोग भी किया है। यथा - 'एके समामनन्ति' में 'एके' शब्द से ही अन्य मतों की पुष्टि सम्भव थी, किन्तु 'समामनन्ति'

---

१३९. सश्रौ ५/२/४६३, वारा०श्रौ १/७/२/१८, प्रतिपुरुषं यजमानस्यैकं...।
१४०. वही, १/४
१४१. वारा०श्रौ ३/३/१-६

का प्रयोग व्यर्थ ही विहित है, जिसके कारण सूत्रों का आकार बढ़ जाता है। वाराह श्रौत सूत्र सत्याषाढश्रौतसूत्र की अपेक्षा अत्यधिक न्यून है। इसमें अधिकांश यज्ञों का विवेचन ही नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ - पुरुषमेध, काम्येष्टियाँ, अग्निष्टोम, काम्य पशु, एकाह, अहीन, सत्र, दर्शपूर्णमास के काम्यप्रयोग, सव इत्यादि। अस्तु, विषयविवेचन की दृष्टि से वाराहश्रौतसूत्र सत्याषाढ की अपेक्षा संक्षिप्त है। सत्याषाढश्रौतसूत्र अपने पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए भी मौलिकता से युक्त है, तथा इसमें विषयवस्तु के सम्बन्ध में वाराह श्रौतसूत्र की अपेक्षाकृत अधिक अव्यवस्था प्रस्तुत की गयी है, क्योंकि सत्याषाढ के अन्तर्गत गृह्य यागों, शुल्बसूत्रों तथा धर्मसूत्रों का वर्ण्य विषय भी समाहित किया गया है। जो उचित नहीं है। वाराहश्रौतसूत्र ऐसी अवस्थाओं से पूर्णतया मुक्त श्रौत यागों का ही प्रतिपादन करता है। यागीय क्रमगत त्रुटि के होने पर भी सत्याषाढश्रौतसूत्र वाराहश्रौतसूत्र की अपेक्षा उत्तम एवं महत्त्वपूर्ण श्रौतसूत्र है।

वाराहश्रौतसूत्र तथा बौधायनश्रौतसूत्र

बौधायन श्रौतसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा से संबन्धित श्रौतसूत्रों में प्राचीनतम एवं सर्वप्रथम स्थान का अधिकारी श्रौतसूत्र है।[१४२] यजुर्वेदीय श्रौतसूत्रों में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण श्रौतसाहित्य के अन्तर्गत प्राचीनतम श्रौतसूत्र है, क्योंकि यह सूत्रसाहित्य के प्रथम चरण की रचना स्वीकार्य है। सम्पूर्ण बौधायनश्रौतसूत्र २९ प्रश्नों में विभक्त है। प्रश्नों का उपविभाजन कण्डिकाओं में किया गया है। बौधायन श्रौतसूत्र का विषयानुक्रम अग्रलिखित है -

प्रथम प्रश्न	-	दर्शपौर्णमास।
द्वितीय प्रश्न	-	अग्न्याधान।
तृतीय प्रश्न	-	पुनराधान, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रयण, याजमानम्। ब्रह्म, हौत्र।

---

१४२. कैलेण्ड, डस रिचुअल सूत्र देस बौधायन, लाइपजिग १९०३, कीथ - संहिता आफ व्लेक यजुस्-ट्रांसलेटेड, इण्ट्रोडक्शन, पृ० ५६, हार्वर्डयुनिवर्सिटी प्रेस, १९१४, व्यूह्लेर सैक्रेट लीज आफ द आर्यास् से बु इ, भाग २

चतुर्थ प्रश्न	- पशुबन्ध।
पञ्चम प्रश्न	- चातुर्मास्य।
षष्ठ से अष्टम तक	- अग्निष्टोम।
नवम प्रश्न	- प्रवर्ग्य।
दशम प्रश्न	- अग्निचयन।
एकादश	- वाजपेय।
द्वादश	- राजसूय।
त्रयोदश	- इष्टिकल्प।
चतुर्दश	- औपानुवाक्य।
पञ्चदश	- अश्वमेध।
षोडश	- द्वादशाह, गवामयन एवं अहीन।
सप्तदश	- अतिरात्र, एकादशिन्, पुनश्चिति, सर्पसत्र, विश्वराज्यम्, सत्र।
अष्टादश	- एकाह।
एकोनविंशति	- काठकम्।
विंशति-त्रयोविंशति	- द्वैधसूत्र।
चतुर्विंशति-षड्विंशति	- कर्मान्तसूत्र।
सप्तविंशति-एकोनत्रिंशत् प्रश्न	- प्रायश्चित्त।

इस प्रकार बौधायनश्रौतसूत्र की सूचीमात्र से ही ज्ञात होता है; कि वाराहश्रौतसूत्र की अपेक्षा यह अति व्यापक है। इसके वर्ण्यविषय की परिधि श्रौतसूत्रों की परिधि से भी परे है, क्योंकि इसमें श्रौताग्नियों में सम्पाद्य यागों के अतिरिक्त होत्र, प्रवर तथा शुल्ब सूत्रों का भी समावेश किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र श्रौतयज्ञों के पूर्ण निरूपण में भी असमर्थ है। वाराहश्रौतसूत्र में सोमयागों की प्रकृति 'अग्निष्टोम' का वर्णन ही नहीं किया गया है, जबकि बौधायन ने इसे निरूपित किया है, जो सर्वथा उपयुक्त है। सम्पूर्ण वाराहश्रौत सूत्र के अन्तर्गत ''द्वैध'' तथा 'कर्मान्त' संज्ञाओं का अभाव है, जबकि एक मात्र बौधायन ने ही इसका विधान प्रस्तुत किया है। द्वैधसूत्रों की अपनी विशेषताएँ हैं, जिनका सम्यक् रूपेण बौधायन श्रौतसूत्र में प्रयोग मिलता है। यथा -

'विपर्यस्तहविषीति। मास्तत: प्रथमं मन्त्रकर्मलभेतेति बौधायन:।' अवदान इति शलीकि:। प्रदानत इत्यौपमन्यव:। चतुष्प्राश्यदित्यौपमन्यवीपुत्र:।[१४३]

कर्मान्तसूत्र के अन्तर्गत प्रथम से उन्नीसवें प्रश्न तक निरूपित यज्ञों से संबन्धित विभिन्न आचार्यों के मतों एवं वैमत्यों का वर्णन है। अतएव इसकी 'पूरक-सूत्र' संज्ञा भी की जा सकती है, जिसे आधार मानकर ही किसी यज्ञ की पूर्णता सम्भव है।

बौधायनश्रौतसूत्र में केवल चरकासौत्रामणी का ही निरूपण किया गया है; जबकि वाराहश्रौतसूत्र में चरक एवं कौकिली दोनों सौत्रामणियों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। दर्शपूर्णमास याग के काम्य प्रयोगों के अन्तर्गत बौधायन ने 'समनानामेष्टि'[१४४] इडादध[१४५] एवं चतुष्चक्र[१४६] आदि का सम्यक् विवेचन किया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा विधान ही नहीं है। बौधायन के द्वारा अग्निचयन के प्रसङ्ग में यजमान एवं ब्रह्मा के कार्यों का पृथक् उल्लेख है; जबकि वाराहश्रौतसूत्र में एक ही बार सामान्यत: वर्णन किया गया है। विभिन्न यज्ञों की याज्या पुनरोनुवाक्या आदि का बौधायनश्रौतसूत्र में संग्रह होने से ही इसका चौदहवाँ प्रश्न 'औपानुवाक्या' कहलाता है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में प्रसङ्गत: याज्या-पुरोनुवाक्या आदि विहित है। अस्तु, बौधायनश्रौतसूत्र में श्रौतयागों का सम्यक् विवेचन होने के साथ ही साथ विभिन्न आचार्यों के मत मतान्तरों का भी यथाक्रम विवरण प्रस्तुत किया गया है।

बौधायनश्रौतसूत्र में ऐसे अनेक विषयों का भी विवेचन किया गया है जिनका वाराहश्रौतसूत्र में नामोल्लेख तक नहीं हुआ है; यथा-अहीन, सर्परात्र, विश्वसृज सत्र, कुण्डपायनामयन, तापश्चितामयन, ब्रह्मणोयन, ज्योतिरायन, महायज्ञ, एकाह, काठक, काम्येष्टियाँ

---

१४३. बौधा०श्रौ २३/२

१४४. बौधा०श्रौ १७/५०

१४५. वही, १७/५२, २३/१७

१४६. वही, १७/५०-५४

आदि।[१४७] वर्ण्य विषय की योजना के अतिरिक्त दोनों में यागों के वर्णनक्रम में अत्यधिक साम्य है। बौधायन के प्रथम प्रश्न से लेकर पञ्चम प्रश्न तक के विवेचित यागों का क्रम वाराहश्रौतसूत्र के 'प्राक्सौमिकम्' में तदैव विहित किया गया है। दोनों श्रौतसूत्रों में चातुर्मास्य का विधान पशुबन्ध के अनन्तर किया गया है, जो कि सर्वथा असमीचीन है। हविर्यज्ञों के क्रम का उल्लंघन किया गया हैं। दोनों श्रौतसूत्रों में दर्शपूर्णमास याग का विधान सर्वप्रथम किया गया है। दोनों श्रौतसूत्रों में अग्नि चयन के अनन्तर ही वाजपेय का वर्णन किया गया है। तदनन्तर राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ का। किन्तु वाराहश्रौतसूत्र के अन्तर्गत यज्ञों का विवेचन बौधायन श्रौतसूत्र की अपेक्षा अति संक्षिप्त है। परिभाषा नामक प्रकरण का वाराहश्रौतसूत्र में सर्वप्रथम विधान किया गया है, जबकि बौधायन श्रौतसूत्र में परिभाषा प्रकरण का अभाव है। बौधायन-श्रौतसूत्र के द्वितीय प्रश्न की कुछ कण्डिकाओं में और कर्मान्तसूत्र की प्रारम्भिक कण्डिकाओं में कतिपय याज्ञिक विधियों की विवेचना की गयी है।[१४८] इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी यत्र-यत्र परिभाषा प्रक़रण उद्धृत है।[१४९] बौधायनश्रौतसूत्र के द्वितीय प्रश्न में ही हौत्र, शुल्ब एवं प्रवरसूत्रों का भी उल्लेख किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में इसका विधान नहीं किया गया है। पिण्डपितृयज्ञ का विवेचन बौधायन ने अलग से स्वतन्त्र यज्ञ के रूप में किया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में पिण्डपितृयज्ञ का विधान दर्शेष्टि प्रकरण में ही किया गया है। बौधायन द्वारा अग्न्याधान के प्रसङ्ग में उपन्यस्त 'गोपितृयज्ञ'[१५०] का उल्लेख किसी भी श्रौतसूत्र में नहीं मिलता है। बौधायन ने कुछ अनावश्यक विषयों की भी यत्र-तत्र योजना की है, यथा-अग्न्याधान के अन्तर्गत विवेचित १७ ऋत्विजों का विधान,[१५१] जिनकी आवश्यकता सोमयागों में होती है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र ने इस प्रकार का उल्लेख यथावसर ही प्रस्तुत किया है जो उत्तम है। वाराहश्रौतसूत्र में सोमयाग में प्रवृत्त व्यक्ति

---

१४७. बौधाश्रौ, १२, १५, १६, १७, १८, १९, १३

१४८. वही, २४/१/११

१४९. वही, १३/१/, १४/३, २६/४-५, २७/१४ इत्यादि।

१५०. वही, २/८/११, ५, १५, २०/१६, २४/१२-१३

१५१. वही, २/३

के लिए ऋतु, नक्षत्र आदि की सीमा समाप्त की गयी है।[१५२] जबकि बौधायन ने श्रद्धावान् व्यक्ति हेतु ही ऐसा विधान किया है।[१५३] बौधायनश्रौतसूत्र में अप्रासङ्गिक विवेचनों का विधान हमें अग्न्याधान के अन्तर्गत 'उपव्याहरण' शीर्षक में दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, सोम, पशु आदि के वर्णनों में भी मिलता है,[१५४] किन्तु वाराहश्रौतसूत्र ऐसे दोषों से पूर्णतया मुक्त है। दोनों श्रौतसूत्रों के अनुसार यदि अग्न्याधान के पश्चात् एक वर्ष के भीतर ही व्यक्ति पापी हो जाय अथवा उसका पुत्र मर जाय तो उसे पुनराधान करने का निर्देश किया गया है।[१५५] बौधायन के अनुसार प्रातः एवं सायंकाल में क्रमशः सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय में ही अग्निहोत्र करना चाहिए।[१५६] जबकि वाराहश्रौतसूत्र में अग्निहोत्र सायंकाल प्रदोष वेला में अथवा नक्षत्रों के दिखायी पड़ने पर या सूर्यास्त के समय करना चाहिए। प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व अथवा सूर्योदय के साथ ही करना चाहिए।[१५७] बौधायन ने आग्रायणेष्टि हेतु वसन्त एवं शरद् ऋतु का विधान किया है[१५८]; जबकि वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा कोई विधान नहीं किया गया है।

बौधायन ने पृथक् अध्याय में काम्येष्टियों का निरूपण किया है; जबकि वाराहश्रौतसूत्र में काम्येष्टिओं का विधान ही नहीं किया गया है। दोनों ने चातुर्मास्य के वरुणप्रघास नामक पर्व में करम्भ पात्रों की संख्या यजमान के परिजनों की संख्या से एक अधिक स्वीकारा है।[१५९] पशुबन्ध के प्रसङ्ग में यूप का निर्माण पलाश के द्वारा करने का दोनों ने विधान किया है। यूप की माप वाराह आचार्य द्वारा पशुयागों में ५ अरत्नि तक बतायी गयी है। किन्तु बौधायन ने निरूढपशुबन्ध में यूप की लम्बाई तीन

---

१५२. वारा०श्रौ १/४/१/४ सर्वत्रसोमने यक्ष्यमाणः।
१५३. बौधा श्रौ २/११
१५४. वही, २/१
१५५. वही, २४/१८
१५६. वही, ३/४
१५७. वारा०श्रौ १/५/२/७-८ प्रदोषं अग्निहोत्रं जुहुयान्नक्षत्रं दृष्ट्वान स्तमिते वा।... अनुदिते वा।
१५८. बौ.धा. श्रौ ३/१२
१५९. वारा०श्रौ १/७/२/१८, बौधा०श्रौ ५/१

या चार अरत्नि बतलायी है,[१६०] जबकि वाराहश्रौतसूत्र में यूप का ग्रहण पलाश के अतिरिक्त खदिर, रोहितक, बिल्व, उदुम्बर आदि वृक्षों से भी करने का भी विधान किया है।[१६१] बौधायन ने अग्निष्टोम को समस्त सोमयागों की प्रकृति मानकर इसका विशद विवेचन प्रस्तुत किया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में इसका उल्लेख मात्र तक नहीं किया गया है।

बौधायन ने स्वशाखीय मन्त्रों को भी सकलपाठेन उद्धृत किया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में परम्परानुसार प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है –

बौधायनश्रौ०सू०	**वाराहश्रौ०सू०**
तृतीयमादधान आग्नेयस्य पञ्चकपालस्य पुरस्तात् स्विष्टकृतः सुवाहुतीरवजुहोति लेकः सलेकः सुलेकस्ते न आदित्या आज्यं जुषाणानियन्तु स्वाहा।[१६२]	कृष्णोऽस्याखरेष्ठ इतीध्मं वेदिरसीति वेदिं बर्हिरसीति बर्हिस्त्रिःस्त्रिः प्रोक्षति।[१६३]

शैली की दृष्टि से भी बौधायन श्रौतसूत्र सूत्रात्मक शैली की अपेक्षा ब्राह्मण शैली पर अधिक अवलम्बित है। इसके अधिकांश वाक्य सन्धि के रूप में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं; और इनमें सूत्रात्मकता का पूर्णतः अभाव दृष्टिगोचर होता है। यथा –

> 'राजसूयेन यक्ष्यमाणो भवति स पुरस्तात्फाल्गुन्ये वाचैत्र्ये वा पौर्णमास्या अमावास्येन हविषेष्ट्वा दीक्षते तस्य तिस्रो दीक्षास्तिस्र उपसदः सप्तम्यां प्रसुतः संतिष्ट एष प्रायणीयोऽग्निष्टोमश्चतुष्टोमः सहस्रदक्षिणः उदवसानीयान्तः।[१६४]

वारा.श्रौ.सू. में सूत्र शैली का प्राधान्य है। प्रायः सभी सूत्र संक्षिप्त सारगर्भित एवं तर्कसङ्गत होने के साथ ही साथ स्पष्टार्थ बोधक हैं। यथा–

---

१६०. वही, १/६/१/७, बौधा श्रौ २४/३५
१६१. वही, १/६/१/५-६
१६२. बौधा श्रौ ३/३, तैसं १/५/३/३
१६३. वारा०श्रौ १/३/३/३, मै सं० १/१/११
१६४. बौधा श्रौ १२/१

राज्ञो राजसूयः।
अनुमत्या अष्टाकपालं निर्वपति।
उभौ सह शृतौ कुर्वन्ति।
नैर्ऋतेन पूर्वेण प्रचरन्ति।
धेनुर्दक्षिणा।[१६५]

बौधायनश्रौतसूत्र में प्रायः अधिकांश यज्ञों के प्रारम्भिक वाक्य एक ही प्रकार से विन्यस्त हैं। उदाहरणार्थ –

अश्वमेधेन यक्ष्यमाणो भवति।[१६६]
द्वादशाहेन यक्ष्यमाणो भवति।[१६७]

जबकि वाराहश्रौतसूत्र में प्रत्येक यज्ञों का प्रारम्भ नवीन वाक्य विन्यासों तथा वैज्ञानिक पद्धति पर किया गया है, जिसके अध्ययन में आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसके कारण ग्रन्थ पढ़ने की जिज्ञासा बलवती होती जाती है। उदाहरणार्थ –

सर्वकामस्य दर्शपूर्णमासौ।[१६८]
ब्राह्मणो राजन्यो वा शरदि वाजपेयेन यजेत।[१६९]
राज्ञो राजसूयः।[१७०]
विजित्याश्वमेधेन यजेत राजा।[१७१]

श्रौतसूत्रों की पर्याप्त विशेषताओं से सम्पन्न होने पर भी विषय व्यापकता एवं सभी यज्ञों के वर्णन के अभाव होने से बौधायन श्रौत सूत्र की अपेक्षा वाराहश्रौतसूत्र न्यून एवं अर्वाचीन रचना सिद्ध होती है, इस प्रकार बौधायनश्रौतसूत्र समग्र श्रौतसाहित्य की अनुपम कृति है, जिसका वाराश्रौतसूत्र से यत्किञ्चित् समता विषमता युक्त सम्बन्ध सुनिश्चित होता है।

---

१६५. वारा०श्रौ, क्रमशः ३/३/१/१, ३, ५, ६, १०
१६६. बौधा श्रौ १५/१
१६७. वही, १६/१
१६८. वारा०श्रौ १/२/१/१
१६९. वही, ३/१/१/१
१७०. वही, ३/३/१/१
१७१. वही, ३/४/१/१

वाराहश्रौतसूत्र एवं शांखायनश्रौतसूत्र

शांखायनश्रौतसूत्र ऋग्वेद से संबद्ध है। अतएव यह भी होता नामक ऋत्विज के कार्यों का प्रतिपादन मुख्य रूप से करता है। होता एवं उसके सहायकों के कर्तव्यों की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए यज्ञों का विवेचन करता है। वाराहश्रौतसूत्र अध्वर्यु के कार्यों का प्रतिपादन करता है। सम्पूर्ण शांखायनश्रौतसूत्र का विषय विस्तरण १८ अध्यायों में विभक्त है, जिसका विवरण निम्नलिखित है -

प्रथम अध्याय - परिभाषा, दर्शपूर्णमास।

द्वितीय अध्याय - अग्न्याधान, अन्वारम्भणीया, पुनराधान, अग्निहोत्र एवं अग्न्युपस्थान।

तृतीय अध्याय - विशेष इष्टियाँ, दाक्षायण, आग्रयण, चातुर्मास्य तथा अग्निहोत्र प्रायश्चित्त।

चतुर्थ अध्याय - यजमान, पिण्डपितृयज्ञ, ब्रह्मत्व, शूलगव एवं मधुपर्क।

पञ्चम से अष्टम तक - अग्निष्टोम।

नवम अध्याय - उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र।

दशम अध्याय - द्वादशाह।

एकादश अध्याय - चतुर्विंश, अभिप्लव षडह, अभिजित् स्वर, सामन्, विषुवत् और विश्वजित्।

द्वादश अध्याय - हौत्रक शस्त्र।

त्रयोदश अध्याय - सोम और पशुयाग के प्रायश्चित्त, गवामयन तथा अन्य अयन याग।

चतुर्दश अध्याय - हविर्याग, अग्न्याधान, पुनराधान, दर्शपौर्णमास, पाशुक, चातुर्मास्य, सौत्रामणी, विविध सव एवं स्तोत्र।

पञ्चदश अध्याय - वाजपेय, अप्तोर्याम, राजसूय, शुनःशेप आख्यान।

षोडश अध्याय - अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध के परिशिष्ट एवं अहीन।

सप्तदश अध्याय - से अष्टादश अध्याय - महाव्रत।

उपर्युक्त विषयसूची से ज्ञात होता है कि शांखायन श्रौतसूत्र में विषयविवेचन की व्यापकता वाराहश्रौतसूत्र के वर्ण्यविषय से अधिक है। दोनों श्रौतसूत्रों में विवेचित प्रारम्भिक यागक्रमों में अत्यन्त समानता है, किन्तु शांखायनश्रौतसूत्र में 'अन्यारम्भणीया' इष्टि का विधान अग्न्याधान के तुरन्त बाद ही किया गया है, जबकि बाराहश्रौतसूत्र में अग्न्याधान के अनन्तर पुनराधान का विवेचन किया गया है, जो उचित है।

शांखायनश्रौतसूत्र में अग्निष्टोम का विशद विवेचन क्रमश: पाँचवे अध्याय से आठवें अध्याय के मध्य किया गया है, जबकि वाराहश्रौत में सोमयागों की प्रकृति होने पर भी इस अग्निष्टोम याग का विधान ही नहीं किया गया है। इसी प्रकार तृतीयाध्याय में विशेष इष्टियों तथा अग्निहोत्र के प्रायश्चित्त का भी शांखायनश्रौतसूत्र में विधान किया गया है। सम्पूर्ण श्रौतसूत्र १८ अध्यायों और अध्याय कण्डिकाओं में तथा कण्डिकाएँ सूत्रों में उपविभक्त हैं। शांखायनश्रौतसूत्र के १४, १५, १६ अध्याय की प्रमुख विशेषता यह है कि इन अध्यायों की प्रत्येक कण्डिका को 'घवासि ब्रह्मन्' वाक्यांश से प्रारम्भ किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा कोई भी विधान नहीं है। शांखायनश्रौतसूत्र का आधारभूत ग्रन्थ कौषीतकि ब्राह्मण है। यह आधार मौलिक एवं सम्पूर्ण रूप में नहीं स्वीकारा गया है, क्योंकि कौषीतकि ब्राह्मण के प्रारम्भिक दो अध्यायों में सर्वप्रथम अग्न्याधान, पुनराधान और अग्निहोत्र का वर्णन हुआ है, जबकि शांखायनश्रौतसूत्र का प्रारम्भ दार्शपूर्णमासेष्टि से किया गया है। यही विवेचन उचित भी है। दोनों श्रौतसूत्रों में द्वादशाह एवं महाव्रत नामक याग की विवेचना विशद रूप में विहित है। शांखायन ने प्रायश्चित्त एवं पूरक सूत्रों का पूरे श्रौतसूत्र में दो-तीन प्रकरणों में ख्यापन किया है, जबकि पूरक अथवा प्रायश्चित्त सूत्रों का वाराहश्रौतसूत्र में प्रर्णत: अभाव है।

दोनों श्रौतसूत्रों की शैली सूत्रात्मक है। सूत्रों का समायोजन अति संक्षिप्त रूप में किया गया है। सूत्रों का आकार लघुतम है और उनमें स्पष्टार्थकता भी बनी हुई है। दोनों श्रौतसूत्रों के मध्य यज्ञों के अनुष्ठानों के निरूपण के संबन्ध में किसी तर्क या टीका टिप्पणी को स्थान नहीं

दिया गया है। दोनों श्रौतसूत्रों के सूत्रों की सारगर्भित एवं संक्षेपाक्षरता का उदाहरण निम्नवत् है -

शां०श्रौ०	वाराहश्रौ०
द्वादश दीक्षा।	चतुर्षु मासेषु वरुणप्रघासाः।
द्वादश उपसदः।	प्रतिप्रस्थातुः पयति।
सुत्यान्यहानि द्वादश।	पूर्वकर्माध्वर्योरारात्।
अतिरात्रः सुत्यानां प्रथमं चोत्तमं च।	पूर्वेद्युरग्निप्रणयनम्।
मध्ये दशरात्रः।	असंभिन्ने समे।
पृष्ठ्यः षडहः।	पृथमात्रमन्तरा।
त्रयश्छन्दोमाः।	पात्राणि प्रयुनक्ति।[१७२]
दशमहः।	
शरदि वाजपेयः।	
अन्नाद्यकामस्य।	
पानं वै पेयाः। अन्नं वाजः।[१७३]	

इसके अतिरिक्त शांखायन के तीन अध्यायों (१४, १५, १६वें) में अंशतः रूप में ब्राह्मण शैली का विधान किया गया है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में सूत्रों का आकार भले ही अधिक लम्बा हो; परन्तु सूत्रों की शैली ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली से प्रभावित नहीं है। शांखायनश्रौतसूत्र में ब्राह्मण शैली के उदाहरण के रूप में निम्नलिखित मन्त्र द्रष्टव्य है -

> उशना ह काव्यो सुराणाम् पुरोहित आस। स देवानामन्नमशित्वा परि ददे। स हेक्षत। कथं नु तेन यज्ञक्रतुना यजेयं यतेष्ट्वा पाप्मनामपहन्यामिति।...[१७४]

उक्त उदाहरण से शांखायनश्रौतसूत्र की शैली में सूत्रात्मकता के स्थान पर ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली का भी प्रभाव दिखलायी पड़ता है।

---

१७२. वारा०श्रौ १/७/२/१-१२
१७३. शांखा०श्रौ १०/१/१३९
१७४. शांखा०श्रौ० १४/२७/१

अस्तु, वाराहश्रौतसूत्र की शली शांखायनश्रौतसूत्र की शैली से अधिक वैज्ञानिक एवं समीचीन होती हुई उत्तमता से मण्डित है।

वाराहश्रौतसूत्र एवं वैतानश्रौतसूत्र

यह अथर्ववेद का एकमात्र उपलब्ध श्रौतसूत्र है। इस श्रौतसूत्र में किसी सूत्रकार आदि आचार्य के नाम का उल्लेख नहीं है। इसीलिए वैतानश्रौतसूत्र के प्रणेता का नाम अभी तक अज्ञात है। वैतान शब्द का अर्थ है; त्रिविध आग्नेय कृत्यों का वर्णन करने वाला ग्रन्थ। अथर्ववेदीय श्रौतसूत्र होने के कारण इसमें ब्रह्मा नामक ऋत्विज् के कार्यों का प्रधान रूप में कथन हुआ है। यह श्रौतसूत्र सम्भवत: कौशिक परम्परा के किसी व्यक्ति की रचना है। इस श्रौतसूत्र में मौलिकता का पूर्णत: अभाव है। यह गोपथब्राह्मण पर आधारित है। इस पर कात्यायनश्रौतसूत्र की स्पष्ट छाप है।[१७५] व्लूमफील्ड ने इसे सूत्रकार के अन्तिम युगकी रचना स्वीकार किया है।[१७६] प्रो० आउफ्रख्ट ने गोमथब्राह्मण को यास्काचार्य से प्राचीन बतलाया है,[१७७] जबकि यास्क वैतान श्रौतसूत्र से परिचित हैं। स्पष्ट है कि कात्यायनश्रौतसूत्र वैतान श्रौ.सू. से पूर्ववर्ती रचना है। वैतानश्रौतसूत्र तथा वाराहश्रौतसूत्र के विषयविवेचन का तुलनात्मक विवरण अग्रलिखित है -

वैतानश्रौतसूत्र का विभाजन कुल आठ अध्यायों में किया गया है। अध्याय कण्डिकाओं में उप विभक्त हैं, जिसका विवरण अग्रलिखित है -

प्रथम अध्याय - दर्शपौर्णमास।
द्वितीय अध्याय - अग्न्याधान, अग्निहोत्र, पुनराधान, चातुर्मास्य, पशुबन्ध।
तृतीय अध्याय - अग्निष्टोम।
चतुर्थ अध्याय - उक्थ्य, षोडशी अतिरात्र, अप्तोर्याम एवं वाजपेय।
पञ्चम अध्याय - अग्निचयन, सौत्रामणी।
षष्ठ अध्याय - गवामयन, विविध यागों की गणना।

---

१७५. मैकडानेल, सं सा इ, पृ० २२९
१७६. व्लूमफील्ड - कौ सू की भूमिका, पृ० ३१
१७७. आउफ्रेल्ट, ऐतरेयब्राह्मण, पृ० ४३२/४३३

सप्तम अध्याय - राजसूय अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध।

अष्टम अध्याय - एकाह, अहीन, सत्र और काम्ययज्ञ

उक्त वर्णन के आधार पर हम देखते हैं कि वाराहश्रौतसूत्र और वैतानश्रौतसूत्र दोनों ने दर्शपूर्णमास याग से ही यागक्रम का वर्णन प्रारम्भ किया है, किन्तु वैतानश्रौतसूत्र अग्न्याधान के अनन्तर अग्निहोत्र का वर्णन प्रस्तुत किया है, जबकि वाराहश्रौत सूत्र अग्न्याधान के तुरन्त बाद पुनराधान एवं तृतीयाधान का विवेचन प्रस्तुत किया है, जो कि समीचीन एवं उपयुक्त वर्णन है। वाराहश्रौतसूत्र में चातुर्मास्य का वर्णन पशुबन्ध के अनन्तर किया गया है, जबकि वैतानश्रौतसूत्र ने उचित परम्परा को निभाते हुए ऐसी त्रुटि नहीं की गयी है, वरन् पशुबन्ध का वर्णन चातुर्मास्य के अनन्तर करके हविर्याग क्रम का सम्मान किया है। दोनों श्रौतसूत्रों में सौत्रामणी का विधान सोमयागों के मध्य किया गया है। ज्ञातव्य है कि वैतानश्रौतसूत्र में विवेचित यज्ञ वाराहश्रौतसूत्र में विवेचित यागों की अपेक्षा अति संक्षिप्त है। इसके यज्ञों के वर्णन प्रसङ्ग में उसके सम्पादन-काल, अधिकारी आदि का उल्लेख ही नहीं किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में उक्त बातों का समावेश पूर्ण रूप में किया गया है।[१७८] इसी प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि वैतानश्रौतसूत्र में अग्न्याधान के नक्षत्र, अरणि-प्रयच्छन, संभार-निवपन, अग्निमन्थन आदि का नामोल्लेख तक नहीं किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में इसका विशद एवं रोचक वर्णन किया गया है।

अग्न्याधान-काल के संबन्ध में वैतानश्रौतसूत्र का विचार है; कि श्रद्धावान् व्यक्ति के लिए अग्न्याधान के काल की प्रतीक्षा करणीय नहीं है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र के अनुसार सोमयाग में प्रवृत्त व्यक्ति हेतु ऋतु, नक्षत्र आदि की सीमा का कोई बन्धन ही नहीं है।[१७९] दोनों श्रौतसूत्रों में चातुर्मास्य की सामान्य रूप में सभी पर्वो में दी जाने वाली पञ्चहवियों

---

१७८. वारा०श्रौ०-१.४.१.१- पौर्णमास्याममावास्यायां वा वसन्ते ब्राह्मण आदधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यो वर्षासु रथकारः।
वैतानश्रौसू २/५/१ अथाग्न्याधेयम्। वही, ६/१/६ अथ गवामयनम्।

१७९. वारा०श्रौ १/४/१/४, वैतानश्रौ २/१/५/३

का निरूपण समान रूप से प्रस्तुत किया गया है।[१८०] वैतानश्रौत सूत्र के तृतीयाध्याय में अग्निष्टोम का विशद विवेचन है, जबकि सोमयागों की प्रकृति होने पर भी वाराहश्रौतसूत्र में अग्निष्टोम का वर्णन ही नहीं किया गया है। वैतानश्रौतसूत्र में राजसूय याग के पूर्व में पवित्र नामक एक याग का विधान किया गया है[१८१] जबकि वाराहश्रौतसूत्र में ऐसा कोई भी वर्णन नहीं है। वाराहश्रौतसूत्र में अश्वमेध यज्ञ का विशद विवेचन है, जबकि वैतानश्रौतसूत्र में अन्य प्रमुख यागों की भाँति अश्वमेध जैसे प्राचीन याग का निर्देश मात्र ही प्रस्तुत किया गया है। काम्य यज्ञों के प्रकरण में वैतानश्रौतसूत्र के अन्तर्गत कतिपय प्रमुख यज्ञों के प्रयाजनों का भी उल्लेख किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में काम्य यज्ञों का ही वर्णन नहीं है।

वैतानश्रौतसूत्र में अथर्ववेद का स्पष्ट प्रभाव होने के कारण, मारण, सम्मोहन, उच्चाटन, जादू, टोने, झाड़ फूँक आदि के विविध मन्त्रों और उनकी अनेक प्रकार की आभिचारिक प्रक्रियाओं का भी यत्र-तत्र समावेश पाया जाता है।[१८२] वैतानश्रौतसूत्र का आधारभूत ग्रन्थ गोपथब्राह्मण है, किन्तु इसमें अन्य शाखाओं के मन्त्रों का भी विनियोग पाया जाता है। उदाहरणार्थ -

'अथ ब्राह्मणं वृणीते - भूपते भुवनपते ब्रह्माणं
त्वा वृणीमहे इति।[१८३]

शैली की दृष्टि से दोनों श्रौतसूत्रों पर तुलनात्मक विचार करने पर ज्ञात होता है; कि वैतानश्रौतसूत्र वाराहश्रौतसूत्र की अपेक्षाकृत अधिक संक्षिप्त एवं गूढार्थक सूत्रों का प्रतिपादन किया है। इसमें सूत्रात्मकता का ही बाहुल्य है, किन्तु सूत्रों एवं वर्णनों की अतिसंक्षिप्तता के कारण वैतानश्रौतसूत्र वाराहश्रौतसूत्र की अपेक्षा अस्पष्ट एवं दुरूह हो गया है तथा इसके अन्तर्गत सूत्रों की पुनरावृत्ति होने के कारण सरलता का

---

१८०. वही, १/७/२/१७, वै०श्रौ २/४/८/२१
१८१. वै श्रौ ७/१/३६/१
१८२. वै श्रौ १/२/१० अभिचारेष्वभिचारिकान्। तथा ८/५/२५ शौनकयज्ञोऽभिचारकामस्य।
१८३. वैश्रौ १/१/१७, तथा तैब्रा ३/७/६

पूर्णतः अभाव पाया जाता है। पाठक की अभिरुचि समाप्त होने लगती है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में इस प्रकार के गुणों का समावेश उचित मात्रा में पाया जाता है। इसके साथ ही साथ वैतानश्रौतसूत्र में प्रत्येक अध्याय का प्रारम्भ एक ही ढंग से किया गया है। उदाहरण -

अथाश्वमेधः।[१८४]

अथ राजसूयः।[१८५]

अथाग्न्याधानम्।[१८६]

जबकि वाराहश्रौतसूत्र में उक्त दोषों का अभाव है। प्रत्येक अध्याय एवं यज्ञ के प्रारम्भ को इतने वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि जिससे पाठक की जिज्ञासा बढ़ती हुई याज्ञिक प्रक्रियाओं का गहन अध्ययन करने को बाध्य हो जाती है। इस प्रकार वाराहश्रौतसूत्र की सूत्रात्मक शैली सरल एवं बोधगम्य होने से रोचक एवं सरस बन गयी है, यथा -

'सायं प्रातरग्निहोत्राय गार्हपत्यादाहवनीयं ज्वलन्तं प्रणयेत्।[१८७]

उदगयनस्याद्यन्तयोरैन्द्राग्नेन पशुना यजेत संवत्सरे संवत्सरे वा।[१८८]

चतुर्षु मासेषु वरुणप्रघासाः।[१८९]

चतुर्षु मासेषु साकमेधाः।[१९०]

ब्राह्मणो राजन्यो वा शरदि वाजपेयेन यजेत।[१९१]

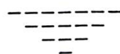
राज्ञो राजसूयः।[१९२]

विजित्याश्वमेधेन यजेत राजा।[१९३]

---

१८४. वै श्रौ ७/१/३६, १४
१८५. वही, ७/१/३६/१
१८६. वही २/१/५/१
१८७. वारा०श्रौ १/५/२/१
१८८. वही, १/६/१/१
१८९. वही, १/७/२/१
१९०. वही, १/७/३/१
१९१. वही, ३/१/१/१
१९२. वही, ३/३/१/१
१९३. वही, ३/४/१/१

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण शैली की स्पष्ट छाप भी वैतानश्रौत सूत्र पर दृष्टिगत होती है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र इस दोष से पूर्णतः विमुक्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाराहश्रौतसूत्र वैतानश्रौतसूत्र की अपेक्षाकृत याज्ञिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। पूर्व विवेचनों के आधार पर निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि वाराहश्रौतसूत्र स्वशाखागत वैशिष्ट से मण्डित एक उत्तम कृति है, जिसके आधार पर श्रौत यज्ञों का सम्पादन सुगमता एवं स्पष्टता के साथ सम्भव है।



अध्याय - 6

वाराह-श्रौतसूत्र के आधार

वैदिक धर्म कर्मकाण्डप्रधान है। इसी लिए वैदिक आर्यों का प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञसम्पादन करना ही था। याज्ञिक कर्मकाण्डों में प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्रों का संकलन संहिताओं में तथा इन मन्त्रों की यज्ञपरक व्याख्या यज्ञविधानों की प्रक्रियाओं के निरूपण के साथ ब्राह्मण ग्रन्थों में की गयी है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक रहस्य तथा महत्त्व की विवेचना भी प्रस्तुत की गयी है। जिसके कारण याज्ञिक विधि-विधानों में जटिलता एवं क्रमहीनता के साथ ही साथ अतिविस्तीर्णता एवं रहस्यात्मकता भी आ गयी है। इन कारणों से प्राचीन काल में यज्ञानुष्ठान एवं कर्मकाण्डों के सम्पादन में स्वभावतः कठिनाइयाँ होने लगीं। यज्ञ-प्रक्रियाओं का स्मृति-सौकर्य समाप्त सा हो गया। इन समस्याओं के निराकरण हेतु तत्कालीन आर्य मनीषियों ने वेदों की प्रत्येक शाखा एवं उपशाखा में कल्प साहित्य का सृजन किया, जिनके माध्यम से यज्ञानुष्ठान एवं कर्मकाण्डों के सम्पादन में पर्याप्त सहायता मिलने लगी। सम्पूर्ण कल्पसाहित्य सूत्रात्मक शैली में चतुर्धा उपन्यस्त है। इसके अन्तर्गत श्रौताग्नियों में सम्पाद्य यज्ञों का क्रमबद्ध सरल एवं संक्षिप्त सूत्र शैली के द्वारा विवेचन प्रस्तुत हैं। चूँकि यज्ञों की पृष्ठभूमि में ही सम्पूर्ण वेदवाङ्मय का अध्ययन सम्भाव्य है, एतदर्थ संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक आदि ग्रन्थों को आधार मानकर समस्त श्रौतसूत्रों का प्रणयन किया गया है। ये श्रौतसूत्र अपनी शाखाओं से अनुबन्धित हैं, किन्तु पूर्णरूपेण नहीं। क्योंकि सामान्यतः सभी श्रौतसूत्रों में निरूपित यज्ञ-प्रयोग अपनी शाखा की संहिता, ब्राह्मणादि पर ही पूर्णरूपेण आधारित न होकर कुछ स्वतन्त्र रूप में भी हैं। इनमें कुछ विकल्पों का विधान करते हुए ऐसे यज्ञों का भी

वर्णन किया गया है; जो उनसे संबद्ध शाखा के किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते और कतिपय यज्ञप्रयोगों के नियमों एवं विधियों का आश्रय वाचिक परम्परा भी है।[१] अस्तु, वाराहश्रौतसूत्र में भी उक्त समस्त विशेषताएँ अन्वेषणीय हैं। सम्प्रति मैत्रायणी संहिता से संबद्ध दो श्रौतसूत्रों - वाराह एवं मानव-की प्राप्ति होती है, किन्तु मैत्रायणी संहिता के ब्राह्मण एवं आरण्यक आदि ग्रन्थ पृथक् से नहीं मिलते हैं। एतदर्थ वाराहश्रौतसूत्र के अन्तर्गत यज्ञों में प्रयुक्त मन्त्र मैत्रायणी संहिता से ही उद्धृत किये गये हैं।

वाराहश्रौतसूत्र में कतिपय ऐसे मन्त्रों को भी उद्धृत किया गया है, जो मैत्रायणीसंहिता के न होकर अन्य शाखाओं की संहिताओं के हैं। इसी प्रकार अन्य शखाओं के ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों को भी आधार बनाया गया है, क्योंकि आचार्य वराह ने इस श्रौतसूत्र में यत्र तत्र 'इति ब्राह्मणव्याख्यातम्'[२] इत्यादि वाक्यांशों को प्रयुक्त करके यह सिद्ध कर दिया है कि यह यज्ञ-विधि किसी न किसी अन्य शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ के विवेचन के आधार पर है। इन वाक्यांशों के अतिरिक्त सूत्रकार ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को ग्रहण करते हुए उनके नामों का भी उल्लेख किया है,[३] जिससे यह रहस्योद्घाटन हो जाता है; कि वाराहश्रौतसूत्र में विहित यज्ञविधानों के आधार पूर्ववर्ती श्रौतसूत्र भी हैं। हम वक्ष्यमाण पङ्क्तियों में वाराहश्रौतसूत्र के स्रोतों का निरूपण करते हैं। इससे यह ज्ञात होगा; कि आचार्य वराह ने ग्रन्थप्रणयन में किन-किन ग्रन्थों का आश्रय लिया है।

मैत्रायणी संहिता एवं वाराहश्रौतसूत्र

वाराहश्रौतसूत्र मैत्रायणीसंहिता से अनुबद्ध श्रौतसूत्र है। इसके द्वारा विवेचित यज्ञों के अन्तर्गत मन्त्रों का उल्लेख मैत्रायणी संहिता से बहुशः किया गया है। यज्ञ-क्रमों का भी आधार यही संहिता है। इन सब तथ्यों का वर्णन आनुष्ठानिक क्रम से निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है -

---

१. द्र० हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १५८, तथा कुमारिल-तन्त्रवार्तिक १/३, २/४/२ न च सूत्रकाराणामपि कश्चित् स्वशखोपसंहारमात्रेणवस्थितः।

२. वारा०श्रौ ३/२/६/२१ यं कामयेत पितृलोकं ऋध्नुयादिति ब्राह्मणव्याख्यातम्।

३. वही, १/२/२/३९ आर्वो गोतमो भारद्वाज इति महेन्द्रं यजेरन् गतश्रियश्च।

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
दर्शपूर्णमासेष्टि		
वत्स अपाकरण	१/१/१	१/२/१/१-११
इध्मबर्हिराहरण	१/१/२	१/२/१/१२-१३
सायंदोह	१/१/१-३	१/२/२/१०-२७
प्रणीताप्रणयन	१/१/४, १/२/८,	१/२/४/५-१२
हविर्निर्वाप	१/१/४-७	१/२/४/१३-१५
हविप्रोक्षण, पेषण		
अवहननादि	१/१/७	१/२/४/३८, ४०-४७
कपालोपधान, पात्रासादन	१/१/८	१/२/४/१-४,
		१/३/१/१-७
पुरोडाशश्रपण	१/१/९	१/३/१/११
वेदि एवं वेदनिर्माण	१/१/९-१०	१/२/२/१-९
		१/१/२/१९-२१
		१/३/१/३०-३७
पूर्वपरिग्रह	१/१/९	१/३/१/४२-४३
स्तम्बयजुर्हरण	१/१/१०	१/३/१/३७-४१
उत्तरपरिग्रह	१/१/१०	१/३/१/४४-४७
स्रुचसम्मार्जन	१/१/१०-११	१/३/२/१२-१८
पत्नीसंनहन	१/४/३	१/३/२/१९-२४
आप्त्याविश्रयण	१/४/१	१/३/२/२५-२९
आज्योत्पवन	१/१/११	१/३/२/३०-३१
वेदिप्रोक्षण	१/१/११-१२	१/३/३-९
वेदिस्तरण	१/१/१२	१/३/३/१०-१२
परिविस्थापना	१/१/१२	१/३/३/१४-१६
स्रुचसादन	१/१/१२	१/३/३/१५-२२
पुरोडाशाभिघारण	१/१/१२	१/३/३/२४-२७
पुरोडाश अलंकरण	१/१/१२	१/३/३/२७
हविरासादन	१/१/१२	१/३/३/२६-२७
सामिधेन्यनुवचन	१/१/४	१/३/४/१-२

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
स्रुव एवं स्रुचाघार	१/१/१३	१/३/४/३५-३६
		१/३/४/३-१७
होतुः प्रवर	१/४/१	१/३/४/१८-२२
प्रयाज	१/४/१२-१३	१/३/४/२३-२७
आज्यभाग	१/४/१२-१३	१/३/४/२९
प्रधान याग	१/५/१२	१/३/४/२९-३२
इडोपह्वान	१/४/१,१/४/५,१/४/१३, १/७/१, ४/२/६-७, ४/२५	१/३/५/१-१०
अन्वाहार्य चरु	१/४/६	१/५-१४
अनुयाज	१/१/१३	१/१/४/१-२
		१/३/५/१५-१९
सूक्तवाक्	१/४/१	१/३/६/१-१०
संयुवाक्	४/१/१४, १/४/५	१/३/६/११-२४
पत्नी संयाज	१/४/२-३, ६-८,	१/१/४/९,
	४/१/१३	१/३/७/१-२
		१/३/२/१९-२२
प्रायश्चित्त आहुति	४/१०/४	१/३/७/२०
	१/७/१	१/३/७/२०
	१/४/३	१/३/७/२०
अग्न्याधान	१/६/१	१/४/१/१०, १४,
		१/४/२/१२, १६
	१/६/२	१/४/१/१०,
		१/४/३, ११,
		१/४/४/९-१०
	१/६/१२	१/४/१/५,
		१/४/१, १२
	१/६/१३	१/४/१/६
	२/७/९	१/४/१/१०
	४/२/२	१/४/१/१०

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
	१/५/१	१/४/१/१७
	१/९/१	१/४/२/११
	१/८/८	१/४/३, ३, २३
	१/६/६	१/४/३/५, १४, २१
	१/६/११	१/४/३/६,
	१/६/४	१/४/४, ११, १२
	३/१/६/५	१/४/३, १२, ३७
		१/४/३/३५
	१/५/१४	१/४/३/३८,
		१/४/४/१
	२/१०/६	१/४/४/२
	१/६/८	१/४/४/२३, ३५
	१/१/८	१/४/४/३२
	१/४/३	१/४/४/४१
	१४/१४, १५	१/४/४/४२-४८
पुनराधान	१/७/१	१/५/१/९-१०
	१/७/२	१/५/१/७, १७
	१/७/३	१/५/१/१३
	१/७/४	१/५/१/१२
	१/७/५	१/५/१/१७
अग्निहोत्र	१/८/३	१/५/२/२०
	१/८/४	१/५/२/१८,२४,२९
	१/१/२, ५	१/५/२/२८, २९
	१/२/१	१/५/२/३५
	१/२/३	१/५/२/३१
अग्निहोत्र (क्रमशः)	१/८/१	१/५/२/३४
	१/८/४	१/५/२/२९,३२,३६
	१/८/५	१/५/२/३४,३५,३९
	१/२/१८	१/५/२/३७

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
	१/८/६	१/५/३/५
	१/८/७, १/६/१०	१/५/३/११, १४
	१/५/७	१/५/३/१६, १/५/४/१८
	१/४/१, १/५/७	१/५/४/१
	१/५/१-४	१/५/४/४, ६, ७, ८-१३, १५, २६
	१/५/७	१/५/४/५
	१/५/८	१/५/४/७
	१/५/११	१/५/४/१५, १६
	१/५/१३	१/५/४/४१/४२
	१/५/१४	१/५/४/३६
	१/७/१	१/५/४/३९
आग्रायण	४/३/२	१/५/५/१-९
निरूढपशुबन्ध	१/२/८	१/६/१/१९, २३-२९
	१/२/१०	१/६/१/१९, १/६/२/१५
	१/२/१३	१/६/१/५
	३/९/२/३	१/६/१/६,७,८,१२
	३/८/५	१/६/१/२०
	४/१०/४	१/६/२/४
निरूढपशुबन्ध (क्रमशः)	१/२/११	१/६/३/१-३
	१/२/१४	१/६/३/४, १२, १८, २१, २५
	३/९/४, ५	१/६/३/१३
	१/२/१५	१/६/४/२-५, १४, १/६/४ँ/२५-२७
	१/२/७	१/६/४/६-१०, ३५
	४/१३/४	१/६/४/३०

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
	४/२/१०	१/६/५/२
	१/२/१६	१/६/५/१२-१३, १४
	१/२/२	१/६/६/१२
	३/१०/२	१/६/६/२४
	१/२/२७	१/६/६/२८
	१/२/१७-१८	१/६/७/५-८, १२, १५
	१/२/१६	१/६/७/२
	३/१०/४	१/६/७/१९
	१/२/१४	१/६/७/२८
	३/९/४	१/६/७/२९
	३/१०/७, १/२/१८	१/६/७/३५
	१/३/३९	१/६/७/३८
चातुर्मास्य		
वरुणप्रघास	१/१०/१	१/७/१/२
	१/१०/२	१/७/२/३०,३३,४३
	१/१०/१३	१/७/२/७
	४/१०/४	१/७/२/१-४३
साकपेध	१/१०/१	१/७/३/३-२१
	१/१०/१५	१/७/३/१०, ११
	१/१०/२, ३	१/७/३/२१, २६, १/७/४/२२, १/७/४/५०-५३
	४/१०/५-६	१/७/३/१-२७
	१/१०/१७	१/७/४/२२
	१/१०/१८	१/७/४/३८-३९
	१/१०/१५	१/७/४/४३
	१/१०/३	१/७/४/५५-५६
	१/१०/४	१/७/४/६२-७२

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
	१/१०/२०	१/७/४/६२
	१/१०/२	१/७/४/७९
शुनासीर	१/१०/१	१/७/५/२
	२/१०/२	१/७/५/४
	१/१०/८	१/७/५/५
	४/३/३	१/७/५/७
अग्निचयन	२/७/१	२/१/१/३
	३/१२/१	२/१/१/५
	२/७/२	२/१/१/५,६,७,१७
	३/१/४	२/१/१/५, १२
	२/७/३	२/१/१/१८-२१, २४
	३/१/५-६	२/१/१/१९
	२/७/४	२/१/१/२४-२९
	३/१/६	२/१/१/२८
	२/७/५	२/१/१/३०-३३
अग्निचयन (क्रमशः)	२/१२/३	२/१/१/३२
	२/७/६	२/१/१/३६-४८
	४/१२/४	२/१/२/७
	२/१२/५	२/१/२/७
	३/४/६	२/१/२/८
	२/७/१५	२/१/२/१०
	२/१२/६	२/१/२/११
	२/७/७	२/१/२/१८-३०
	३/१/९	२/१/२/२१
	१/७/१	२/१/२/३३
	२/७/८	२/१/३/१-१५
	२/७/९	२/१/३/१६
	२/७/१२	२/१/३/२१
	२/७/१२	२/१/३/२१

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
	२/१०/१	२/१/३/२२
	२/७/१०	२/१/३/२३-३६
	२/६/१२	२/१/३/२७
	१/६/१	२/१/४/७
	२/७/२	२/१/४/८-१३-१९
	२/१३/११	२/१/४/१५
	२/७/१२	२/१/४/२२-२७
	३/२/४	२/१/४/३५
	२/१२/३	२/१/४/३७
	२/७/१२	२/१/५/२-३
	३/२/३	२/१/५-६
	२/७/१३	२/१/५/८
अग्निचयन (क्रमशः)	३/२/४	२/१/५/१०
	३/२/७/१४	२/१/५/१३-१६
	४/१३/४	२/१/५/२०
	२/७/१४	२/१/५/२०-२१
	२/७/११	२/१/५/२१
	२/१३/१	२/१/५/२२-२४
	१/६/२	२/१/६/६
	४/१२/३	२/१/६/८
	२/१३/२	२/१/६/११
	२/७/३	२/१/६/११
	२/७/१५	२/१/६/१२-१७, २३-२४
	३/२/६	२/१/६/१९
	२/१०/६	२/१/६/२०
	२/७/१६	२/१/६/२५-२८
	३/२/६	२/१/६/३०
	२/८/१४	२/१/६/३१-३२,

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
		३५, ३६
	२/८/१२	२/१/६/३३-३४
	२/७/१६	२/१/७/३, ४
	२/७/१७	२/१/७/२, ५-६, ११, १२
	१/३/३७	२/१/७/७
	२/८/३	२/१/७/८
	२/१३/१४	२/१/७/१०
	२/१३/११	२/१/७/१४
	२/७/१५	२/१/७/१५
	२/७/१८-१९	२/१/७/१६-१८
	२/७/२०	२/१/७/२१
अग्निचयन (क्रमशः)	२/१३/६, ९	२/१/८/३-४
	२/१०/११, १२	२/१/८/१०-१२, १७
	२/१३/१३	२/१/८/१५
	२/१३/५	२/१/८/१६
	२/८/१	२/२/१/२-४
	२/८/२/३	२/२/१/२-८
	३/२/९	२/२/१/५, १५
	२/७/१५-१६	२/२/१/८
	२/८/४, ९, १४	२/२/१/१२, ११
	२/८/४	२/२/१/१७
	२/८/६	२/२/१/१७
	२/८/७	२/२/१/२०
	२/८/८	२/२/१/२२
	२/८/८	२/२/१/२२
	२/८/९, १०	२/२/१/२३-२४
	२/८/१३	२/२/१/२४-२५
	२/१३/१०	२/२/१/१७

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
	२/१३/२	२/२/१/२७
	२/१३/४	२/२/१/२७
	२/१३/५	२/२/१/२८
	२/१३/७	२/२/१/२९
	२/१०/६	२/२/२/२
	४/१०/१	२/२/२/२
	१/१०/३	२/२/२/३
	२/१३/८	२/२/३/४
	४/१०/४	२/२/२/४
अग्निचयन (क्रमशः)	१/५/३	२/२/२/४
	२/७/१६	२/२/२/५
	२/८/१४	२/२/२/६
	२/१३/१२	२/२/२/८
	२/१३/१५-१९	२/२/२/९
	२/७/१८	२/२/२/११
	२/१३/२०	२/२/२/१३
	३/३/२	२/२/२/२१
	२/८/१४	२/२/२/२३-२४, २/२/३/३
	२/९/२-४	२/२/३/३
	२/९/४-९	२/२/३/४-६
	३/३/४	२/२/३/८
	२/१०/१	२/२/३/११
	३/३/५	२/२/३/१२, १४
	२/१२/३	२/२/३/१६
	२/१०/१	२/२/३/१७,२१,२४
	२/२/१	२/२/३/२५
	३/३/१०	२/२/३/२६
	१/६/२	२/२/४/२

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
	४/१०/१	२/२/४/३
	२/११/२-६	२/२/४/४
	२/११/३	२/२/४/५
	१/११/३	२/२/४/५-८
	१/११/८	२/२/४/८
	३/४/२	२/२/४/८
अग्निचयन (क्रमशः)	२/१२/२, ३	२/२/४/१३-१५, २०
	२/६/१३	२/२/४/२४
	३/५/१०	२/२/४/२४
	१/४/१	२/२/५/६
	३/४/८	२/२/५/७
	१/५/८	२/२/५/१४
	२/१२/४	२/२/५/१७
	१/५/१	२/२/५/२३
वाजपेय याग	१/११/१	३/१/१/११, २४-२६
	२/३/८	३/१/१/१५
	१/११/४	३/१/१/१६
	१/११/७	२/१/१/३६, ४०
	१/११/१०	३/१/१/४१
	१/११/३	३/१/१/४२
	३/१२/४	३/१/२/२
	१/११/२	३/१/२/५
	१/११/३	३/१/२/८-१९
	१/११/४	३/१/२/२०
	१/१/१०	३/१/२/२१
द्वादशाह	१/२/७	३/२/१/६, ५२
	११/७/१९	३/२/१/३१
	१/३/३१	३/२/१/४९
	२/१०/६	३/२/१/५२

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
द्वादशाह (क्रमशः)	१/३/३२	३/२/१/५८
	१/३/३३	३/२/१/६२
	४/७/३	३/२/२/४
	१/९/१	३/२/२/२२
	१/४/११	३/२/२/२५
	४/७/८	३/२/२/४४
गवामयन	१/३/३७	३/२/३/२०
	४/१०/१	३/२/२/२५
महाव्रत	१/३/३६	३/२/५/३-८
	४/७/७	३/२/५/११
	२/१३/९	३/२/५/१४
	२/१३/५	३/२/५/१४
	२/१३/७	३/२/५/२०
	२/४/७	३/२/५/२१
	४/१०/१	३/२/५/२१
एकादशिनी	४/७/९	३/२/६/२१, २३-२६
	१/२/१५	३/२/६/४१
सौत्रामणी	२/३/८	३/२/७/४, ५, १२, १५, २३
	२/६/९	३/२/७/२९
	२/६/१२	३/२/७/२९-३१
	३/११/८	३/२/७/३१-३८
	३/११/१०	३/२/७/४०-४३
सौत्रामणी (क्रमशः)	२/१२/५	३/२/७/४१-४२
	१/३/३९	३/२/७/४२-४३
	३/११/१०	३/२/७/४४
	३/११/७	३/२/७/४५-४९, ५४
	१/१०/३	३/२/७/५०
	४/१०/६	३/२/७/५१

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
	३/११/१०	३/२/७/५१
	३/११/९	३/२/७/५४
	२/३/८	३/२/७/६२-६६, ७५-७७
	३/११/६	३/२/७/६८-७०
	४/१०/६	३/२/७/७९
	४/१४/८	३/२/८/८
राजसूय	२/६/१	३/३/१/३-६
	२/६/३	३/३/१/१७-१८-२३
	२/६/४	३/३/१/२५
	४/३/५	३/३/१/२७
	४/३/७	३/३/१/३३
	२/३/८	३/३/१/३४
	२/६/६	३/३/१/४०, ५९
	४/३/९	३/३/१/५७
	२/६/७	३/३/२/८-२५
	२/६/८	३/३/२/२६-३०
	२/६/९	३/३/२/३०-४१
	२/६/१०	३/३/२/४२-४६
राजसूय (क्रमशः)	२/६/११	३/३/२/४७,४८,५५ ३/३/३/६
	४/४/५	३/३/३/२
	२/६/१२	३/३/३/९-१०, १५ १७-२०
	४/४/६	३/३/३/११
	४/४/६	३/३/३/२३-२४
	२/६/१२, १३	३/३/३/३७, ३/३/४/१

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
	४/४/८	३/३/४/१९
	४/४/९	३/३/४/२२, ३३, ४०-४५, ४७
	२/६/१३	३/३/४/३२, ४६
	४/४/१०	३/३/४/४१
अश्वमेध	२/१३/२३	३/४/१/८
	३/१२/१	३/४/१/१४-१८
	३/१२/२	३/४/१/२८
	३/१२/४	३/४/१/२९-३०
	३/१५/११	३/४/१/३२
	३/१२/३	३/४/१/३३
	३/१२/४	३/४/१/३८
	३/१२/५	३/४/१/४८
	२/७/७	३/४/१/४९
	३/१२/६	३/४/१/५०, ३/४/२/५
	२/६/६	३/४/१/५६
	३/१५/१०	३/४/१/५६
	३/१२/१२	३/४/२/५
	३/१२/१६	३/४/२/१५
	४/१०/१	३/४/३/२
अश्वमेध (क्रमशः)	३/१३/२३	३/४/३/१२-१६, १७
	३/१३/१७	३/४/३/१८, १९
	३/१३/१८	३/४/३/२०
	३/१३/१९	३/४/३/२१
	३/१४/१	३/४/३/२२
	३/१६/३	३/४/३/२५-३७
	३/१२/४	३/४/३/३८
	३/१२/१८	३/४/३/४१

अनुष्ठान	मैत्रायणीसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
	१/४/१	३/४/३/४३
	३/१२/१९	३/४/३/४४
	३/१२/२०	३/४/५/११, १३
	३/१३/१	३/४/५/१६
	२/१२/२१	३/४/५/१७
	३/१२/१६	३/४/५/५
	३/१५/१	३/४/५/११
	३/१५/९	३/४/५/१२
	३/१६/१	३/४/५/१२
	३/१६/२	३/४/५/१२

उक्त विवरणों के आधार पर हम देखते हैं कि वाराहश्रौतसूत्र में निरूपित यज्ञों के क्रम एवं मन्त्र मैत्रायणीसंहिता से अधिकांश रूप में लिये गये हैं, किन्तु पूर्ण रूपेण नहीं, क्योंकि सूत्रकार वराह ने इस श्रौतसूत्र में कुछ ऐसे मन्त्रों को भी उद्धृत किया है; जो मैत्रायणीसंहिता से परे हैं। वाराहश्रौतसूत्र में यज्ञसम्बन्धी सामान्य तथ्यों का भी उल्लेख किया गया है और यत-तत्र वैकल्पिक विधानों को भी प्रश्रय मिला है। मैत्रायणी संहिता में विकल्पों का पूर्णतः अभाव है। यद्यपि दोनों में वर्णित यागों की संख्या एवं उनके क्रमों में भी पर्याप्त अन्तर है, तथापि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वाराहश्रौतसूत्र के प्रायः सभी अध्यायों का आधार स्वशाखीय मैत्रायणी संहिता ही है। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं, कि वाराहश्रौत सूत्र में यज्ञों की संख्या मैत्रायणी संहिता की अपेक्षा बहुत ही कम है। यथा :- मैत्रायणी संहिता में काम्येष्टियों का पृथक् रूप में विवेचन किया गया है, जबकि वाराहश्रौतसूत्र में काम्येष्टियों का विधान यागक्रमों के सन्दर्भ विशेष में ही किया गया है। अग्निष्टोम समस्त सोमयागों की प्रकृति है, जिसका विशद विवेचन मैत्रायणी संहिता में किया गया है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र में अग्निष्टोम का वर्णन ही नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त वाजपेय याग का विवेचन मैत्रायणी संहिता के प्रथम काण्ड के ११ वें प्रपाठक अर्थात् हविर्यागों के मध्य ही

किया गया है, जो सर्वथा अनुचित है। यह वाराहश्रौतसूत्र में सोमयागों के वर्णनप्रसङ्ग में प्रथमतः विवेचित है। वाराहश्रौतसूत्र में पुनराधान के अनन्तर तृतीयाधान का भी विधान किया गया है,[४] जो किसी भी संहिता अथवा ब्राह्मण में उपलब्ध नहीं होता। इसका आधार पूर्ववर्ती श्रौतसूत्र यथा :- बौधायन, आपस्तम्ब एवं सत्याषाढ आदि आचार्य हैं। अतः इस श्रौतसूत्र में प्रयुक्त मन्त्रादि मैत्रायणी संहिता के अतिरिक्त अन्य शाखाओं से भी गहण किये गये हैं।

कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं के अतिरिक्त ऋग्वेद, सामवेद, शुक्ल यजुर्वेद एवं कृष्णयजुर्वेद की अन्य संहिताओं के भी मन्त्रों को यत्रतत्र प्रतीक रूप में स्वीकारा गया है। कहीं-कहीं उक्त वेदों के मन्त्रों को पूर्णरूपेण उद्धृत कर लिया गया है। वक्ष्यमाण पंक्तियों में वाराहश्रौतसूत्र के अन्तर्गत ग्रहण किये गये मन्त्रों एवं तथ्यों का रहस्योद्घाटन प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे इस श्रौतसूत्र का ऋणी होना सिद्ध होता है-

ऋग्वेद से ऋण

यद्यपि वाराहश्रौतसूत्र की एकमात्र संहिता मैत्रायणी संहिता ही है, जिस पर पूर्णरूपेण आधृत होकर इस ग्रन्थ का सृजन होना चाहिए था, किन्तु कतिपय स्थलों पर यागानुष्ठान के सन्दर्भ में ऋग्वेद संहिता के मन्त्रों को भी उद्धृत किया गया है। यथा -

ऋग्वेदसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
३/२९/३	१/४/३/२४
८/१/१	१/४/३/२५
६/२/६	१/४/३/२६
८/१०३/१	१/४/३/२७

इसके अतिरिक्त कई यज्ञप्रसङ्गों के मध्य ऋग्वेद के मन्त्रों को प्रतीक रूप में ग्रहण न करके पूर्ण रूप में उपन्यस्त किया गया है। द्रष्टव्य है -

४. वारा०श्रौ १/५/१/२० तृतीयाधेये... जुहोति।

'अग्निं नरो दीधितिभिण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्। दूरे दृशं गृहपतिमथर्युम्।'

– ऋग्वेदसंहिता ७/१/१

वाराहश्रौतसूत्र २/२/२/२

शुक्लयजुर्वेद से ऋण

जिस प्रकार ऋग्वेदसंहिता के मन्त्रों को देखने से ज्ञात होता है कि सूत्रकार ने यत्र-तत्र यज्ञ-प्रक्रिया के पुष्टीकरण हेतु ऋग्वेद के मन्त्रों का आश्रय लिया है, उसी प्रकार विभिन्न कर्मानुष्ठानों में शुक्लयजुर्वेद के मन्त्रों को भी ग्रहण किया गया है। उदाहरणार्थ -

आघत पितरो गर्भ कुमारं पुष्करस्रजम्।
यथायं पुमान्स्यात्।[५]
पृथिव्या वर्मासि इति पूर्वस्मिन्वेदितृतीये दर्भं निधाय... इति।[६]
अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यम्। ऊर्ध्वो अध्वरामास्थात्।...
घृतस्य व्रीहि स्वाहा।[७]

कृष्णयजुर्वेदीय संहिताएँ एवं वाराहश्रौतसूत्र

तैत्तिरीयसंहिता से ऋण

आचार्य बराह ने मैत्रायणी संहिता के अतिरिक्त कृष्णयजुर्वेदीय अन्य शाखाओं के मन्त्रों को भी अपने ग्रन्थ में अनुहरित किया है।

तैत्तिरीय संहिता	वाराहश्रौतसूत्र
१/६/१६/११	१/१/४/२३
१/१/२/२	१/२/१/१८
२/५/४/४	१/२/२/३८
१/१/४/२	१/२/४/३४
३/५/१/४	१/४/४/४९

---

५. वा का सं० २/७, वारा०श्रौ १/२/३/३६ मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नीयात्... इति।

६. वही, १/९/२, वारा०श्रौ १/३/१/३२

७. का सं० ९/४, वारा०श्रौ १/७/३/२६

६/३/३/१	१/६/१/५
४/४/६/२	२/२/२/११
३/५/१/१	२/२/२/१२

काठकसंहिता से ऋण

वाराहश्रौतसूत्र के प्रायः प्रत्येक अध्याय में बहुत से ऐसे सूत्रों को रखा गया है, जो मैत्रायणी संहिता से उद्धृत नहीं हैं, किन्तु वे मन्त्र काठकसंहिता के अन्तर्गत देखे जा सकते हैं। यथा -

काठकसंहिता	वाराहश्रौतसूत्र
अग्नेर्वेहोत्रं वेर्दूत्यम्। ऊर्ध्वो अध्वरायास्थात्। अवतां त्वा द्यावापृथिवी यज्ञेऽस्मिन्। स्विष्टकृदिन्द्राय देवेभ्यो भव। जुषाणोयस्य हविषो धृतस्य व्रीहि स्वाहा।[८]	पुरस्तात्स्विष्टकृतोऽग्ने वेर्होत्रमिति अभिघारयति।[९]

इससे ज्ञात होता है कि आचार्य वराह ने अपने ग्रन्थप्रणयन हेतु काठकसंहिता को भी आधार बनाया है।

तैत्तिरीयब्राह्मण से ऋण

प्रायः सभी श्रौतसूत्रों में विवेचित समस्त यागों की प्रक्रियाओं एवं विधिविधानों को उनसे सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों से ग्रहण किया गया है, किन्तु वाराहश्रौतसूत्र मैत्रायणी संहिता से सम्बन्धित होने के कारण स्वशाखीय स्वतन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थ के अभाव में तैत्तिरीयब्राह्मण पर विशेष रूप में आधारित है। यह कृष्णयजुर्वेद का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ है, जो तीन काण्डों में विभक्त है। इसके प्रथम एवं द्वितीय काण्ड में कुल आठ अध्याय तथा तृतीय काण्ड में कुल १२ अध्याय हैं। अध्यायों

---

८. काठकसंहिता ९/५

९. वारा०श्रौ १/७/३/२६

के अवान्तर खण्डों की 'अनुवाक' संज्ञा है। इसके प्रथम काण्ड में क्रमशः अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का विधान है और द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, सौत्रामणी तथा बृहस्पति सव, वैश्व सव आदि अनेक सत्रों का विवेचन किया गया है। इस ब्राह्मण में यत्र-तत्र ऋग्वेदीय मन्त्रों को भी उद्धृत किया गया है। इसके तृतीय काण्ड में १२ प्रपाठक हैं, जिनमें नक्षत्रेष्टि, दर्शपूर्णमासेष्टि, पुरुषमेध एवं इसके उपयुक्त पशु, इष्टिहोत्र, पाशुक होत्र, अश्वमेध, सावित्रचयन, नाचिकेत चयन, चातुर्होत्राग्निचयन, वैश्वसृजाग्निचयन आदि विषयों का विवेचन किया गया है। वाराहश्रौतसूत्र के प्रणेता ने इसी ब्राह्मण ग्रन्थ को आधार बनाकर सभी यागों का क्रमबद्ध वर्णन किया है। ऐसा होने पर भी सूत्रकार की अपनी भी कुछ मौलिकताएँ हैं, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलती हैं। इस श्रौतसूत्र में 'इति ब्राह्मणव्याख्यातम्' (१/५/४/१४, २/२/३/८) आदि वाक्य उद्धृत किये गये हैं। इससे उक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है, जिसके लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण ही संकेतित है। निम्नलिखित तथ्यों से यह कथन स्पष्ट हो सकता है -

तैत्तिरीयब्राह्मण		**वाराहश्रौतसूत्र**
१/१/२-९, १/२/१		१/४/१-४
२/१/११, ५/२/९		१/५/१/४
२/१		१/५/२/१-५१
		१/५/३/१-१७
३/७/४/५	)	१/१/२-३
३/७/४	)	,,
३/२/१, २-३	)	,,
३/७/४, ६	)	,,
२/४/८		१/५/५/१-९
२/८/१-९		१/७/१/७
३/१२/५/१२		३/२/७-८
२/६/१-६	)	,,
२/६/७-२०	)	,,

१/२/१/१४	१/४/१/१९
१/२/१/१७	१/४/२/८

इसी प्रकार वाराहश्रौतसूत्र के अन्तर्गत तैत्तिरीयब्राह्मण के सूत्रों को ही अक्षरशः ग्रहण कर लिया गया है। उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है -

तैत्तिरीयब्राह्मण	**वाराहश्रौतसूत्र**
सीसेन क्लीबाच्छष्पाणि --- क्रीणाति।[१०]	सीसेन क्लीवाच्छष्पाणि.. क्रीणाति।[११]
बार्हस्पत्यं पशुं चतुर्थमतिपवित-स्यालभते।[१२]	बार्हस्पत्यं चतुर्थं सोमतिपवितस्य।[१३]

हम देखते हैं कि वाराहश्रौतसूत्र में आवश्यक विस्तार के साथ ही साथ याज्ञिक प्रक्रियाओं का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें स्वशाखीय मैत्रायणीसंहिता को ही प्रधान रूप में आधार बनाया गया है, जिसके मन्त्रों को प्रत्येक यागानुष्ठान में प्रयुक्त किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों यथा :- गोपथब्राह्मण; शतपथब्राह्मण, ऐतरेयब्राह्मण तथा षड्विंशब्राह्मण के अतिरिक्त विशेष रूप में तैत्तिरीय ब्राह्मण का वाराहश्रौतसूत्र ऋणी है। स्वशाखीय संहिता के अतिरिक्त अन्य वेदों और उनकी अन्य शाखाओं की संहिताओं के मन्त्रों को भी इसमें प्रयुक्त किया गया है। इसी प्रकार यह तैत्तिरीयारण्यक से भी अत्यधिक मात्रा में ऋणी है। सूत्रकार उक्त ग्रन्थों का ऋणी अवश्य है, किन्तु उसकी यह रचना इन आधार ग्रन्थों की अनुकृति मात्र नहीं है, क्योंकि आचार्य वराह ने यागानुष्ठान के क्रम एवं उनके विषय प्रतिपादन में भी स्वोपज्ञता से परिवर्तन एवं परिवर्द्धन प्रस्तुत किया है। यहाँ यह भी तथ्य प्रस्तुत करणीय है कि जहाँ एक ओर सूत्रकार संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रन्थों का ऋणी है; वहीं दूसरी ओर वह अपने पूर्ववर्ती श्रौताचार्यों का भी सादर अनुसरण एवं अनुकरण किया है। इन पूर्वाचार्यों में बौधायन, आपस्तम्ब भारद्वाज, गौतम, सत्याषाढ,

---

१०. तैत्तिरीयब्राह्मण १/८/५
११. वारा०श्रौ ३/२/७/२
१२. तैब्रा १/८/६
१३. वारा०श्रौ ३/२/७/२५

मानव आदि हैं। इनके ग्रन्थों के कतिपय सूत्रों की समानता वाराहश्रौतसूत्र के सूत्रों से प्रदर्शित की जा सकती है, जो अक्षरश: एक ही आचार्य द्वारा प्रणीत प्रतीत होते हैं, किन्तु यह समानता सूत्रकार की प्रतिभा का द्योतक है, न कि पूर्वाचार्यों के एकमात्र अनुकरण का, क्योंकि इस श्रौतसूत्र में याज्ञिक प्रक्रियाएँ अपने आधारग्रन्थों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक रूप में विवेचित हैं। इसमें आवश्यकतानुसार अन्य विद्वानों के मत भी ग्रहण किये गये हैं और यथास्थान इस संबन्ध में कतिपय विकल्पों का भी विधान किया गया है, जो आधारग्रन्थों में नहीं मिलते।

यज्ञों के सामान्य नियमों के विवेचन हेतु इस श्रौतसूत्र के सूत्रों की स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान है। अतएव हम कह सकते हैं; कि वाराहश्रौतसूत्र एक स्वतन्त्र मौलिक रचना है, जो अपने आधार ग्रन्थों से स्वरूप, उद्देश्य, विषयप्रतिपादन आदि क्षेत्रों में बहुत अधिक भिन्नता रखता है। यही सूत्रकार की उपयोगिता एवं अपनी मौलिकता भी है।

वाराहश्रौतसूत्र के समक्ष श्रौतसूत्रों की एक समृद्ध राशि विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त चारों वेदों की संहिताएँ भी यज्ञविधि की दृष्टि से स्वीकृत हो चुकी थीं। स्वाभाविक है कि इस श्रौतसूत्र ने अपने समय तक प्रचलित यज्ञविधि का अनुसरण करने का भी प्रयास किया है, तथापि उसकी प्रतिपादन शैली में ऐसी विशेषताएँ विद्यमान हैं, जो उसे अन्य श्रौतसूत्रों से पृथक् अस्तित्व प्रदान करती हैं।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि वाराहश्रौतसूत्र के प्राय: सभी अध्यायों के आधार ग्रन्थ स्वशाखीय मैत्रायणीसंहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण ही हैं, किन्तु जिन विषयों का इन ग्रन्थों में पूर्णत: अभाव है; उनका ग्रहण इतर शाखाओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पूर्ववर्ती श्रौतसूत्रों और प्रचलित परम्पराओं से किया गया है।



अध्याय - 7

वाराहश्रौतसूत्र में प्रतिबिम्बित समाज एवं संस्कृति

साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य की प्रत्येक विधा (गद्य, नाटक, काव्यादि) अपने रचना-काल के समाज एवं संस्कृति से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित रहती है। यद्यपि सच्चे साहित्यकार की प्रतिभा देश-काल की सीमा से परे होती है, तथापि वातावरण एवं वंशानुक्रम की सम्मिलित संरचना होने से उसका व्यक्तित्व उसके अपने समाज एवं संस्कृति से प्रभावित रहता है। व्यक्ति की लेखन शैली उसके व्यक्तित्व की प्रतिकृति होती है। अस्तु, कोई भी रचना अपने कृतिकार के समाज एवं संस्कृति तथा व्यक्तित्व की परिचायिका होती ही है। इस दृष्टि से वाराहश्रौतसूत्र एक उत्तमतापूर्ण रचना है। इसकी अपनी संस्कृति उत्तरवैदिक काल की संस्कृति है; यद्यपि श्रौतसूत्र तत्कालीन समाज के धार्मिक पक्ष के विवेचक ग्रन्थ हैं, तथापि याज्ञिक अनुष्ठानों एवं कर्मकाण्डों का समुचित वर्णन प्रस्तुत करते हुए इस श्रौतसूत्र में यत्र-तत्र ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि उक्त विवरण की सापेक्षता में कतिपय अन्य श्रौतसूत्रों एवं ग्रन्थों का भी योगदान है, तथापि विशेषतः इस दृष्टि से वाराहश्रौतसूत्र ही विवेच्य ग्रन्थ है। इसके अनुसार तत्कालीन समाज का चित्रण अग्रलिखित है -

सामाजिक वर्णव्यवस्था

प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर के अनुसार "समाज विविध आधारों पर संगठित समूहों का संग्रह है।"[१] इस आधार पर हम देखते हैं कि

१. मैकाइवर, सोसाइटी, पृ० १६६

तत्कालीन समाज ऋग्वेद काल से चली आ रही वर्णव्यवस्था पर आधारित था।[२] यह वर्णव्यवस्था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र रूप में चतुर्धा विभक्त थी।[३] यद्यपि यह वर्णव्यवस्था पहले भी कर्म के आधार पर ही की गयी थी, किन्तु कल्प-काल तक आते-आते इसका स्वरूप विकृत होकर जन्म पर आधाारित हो गया। इसमें प्रथम तीनों वर्णों को ही यज्ञादि सम्पादन का अधिकार था। शूद्र इस अधिकार से पूर्णतया वञ्चित थे।[४] इन चतुर्वणिकों की स्थिति तत्कालीन समाज में इस प्रकार थी -

ब्राह्मण - समाज में ब्राह्मणों का सर्वोपरि स्थान था। प्राचीन उक्तियाँ - 'ब्राह्मण प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुआ है'[५] तथा 'ब्राह्मण पवित्र बुद्धिमान् एवं कवि हैं'[६] इस समय भी पूर्ण श्रद्धा के साथ चरितार्थ हो रही थीं। उन्हें दिव्यत्व के कारण देवताओं का सन्देशवाहक किंवा देव स्वरूप स्वीकारा जाता था।[७] उन्हें अपने ब्रह्मवर्चस् की ही कामना रहती थी। एतदर्थ ब्राह्मणों का मुख्य कर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन आदि ही था। इनके अतुलनीय आदर की अन्य वर्णों द्वारा कामना की जाती थी। जो पूर्वकाल से अद्यावधि चली आ रही थी।[८] यह कामना इतनी बलवती थी कि कात्यायनाचार्य के मतानुसार वैश्य एवं क्षत्रिय को भी ब्राह्मण कहना चाहिए।[९] इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। इस प्रसङ्ग में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ये आदेश केवल यज्ञ से संबद्ध हैं। यज्ञकर्ता यज्ञ के लिए दीक्षा लेता था, तब वह ब्राह्मण की ही भांति पवित्र समझा जाता था, किन्तु यजमान की यह पवित्रता तथा उसका ब्राह्मणत्व यज्ञ की अवधि तक सीमित था।[१०] शुन:शेप आख्यान

---

२. ऋग्वेद, १०/९७ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

३. वाराहश्रौतसूत्र ३/३/३/२४ ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः।

४. वारा०श्रौ १/१/१/४, काश्रौ १/१/६

५. ऋग्वेद, १०/९०/१२

६. तैसं० १/५/५ शुचिर्विप्रशुचिर्कविः।.

७. वही, ७/४/१९

८. श ब्रा १३/४/१/३

९. का श्रौ सू ६/४/१२

१०. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० २६३

के अनुसार एक बालक भी ब्राह्मण परिवार में जन्म मात्र के कारण ही श्रेष्ठ और पवित्र समझा जाता था।[११] ऐसी स्थिति में ब्राह्मण को ज्ञान, कर्म पर आधृत व्यावसायिक संघ बताना दुराग्रह मात्र है। यह उसकी सामाजिक प्रधानता थी। संहिताओं में उसे प्रत्यक्ष देवता कहा गया है। उसे दिव्य वर्ण वाला बताया गया है। ब्राह्मण राजनीतिक प्रभुता से मुक्त था। राजा उसका सम्मान करते थे। राजा केवल मनुष्यों का राजा था, ब्राह्मणों का राजा सोम था।[१२] ब्राह्मण ब्रह्मवर्चसकामी थे। वे आजीवन अध्ययन, अध्यापन, पौरोहित्य तथा यज्ञों में ऋत्विज् का कार्य करते थे।[१३] ऋत्विज् का अधिकार केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित था।[१४] यज्ञ करने में तो राजन्य और वैश्य भी समर्थ थे। याज्ञिक प्रसङ्ग वाद्ययन्त्रों के वादन तथा संगीत आदि में भी ब्राह्मण कुशल होते थे। यज्ञों में यजमान ब्राह्मणों को दक्षिणा द्वारा संतृप्त करता था।[१४क] आध्यात्मिक दृष्टि से ब्राह्मणों की प्रधानता निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है।

क्षत्रिय - समाज में इस वर्ण के जनों का स्थान द्वितीय था, क्योंकि यज्ञ प्रकरणों में इनका उल्लेख ब्राह्मणों के अनन्तर ही प्रस्तुत किया गया है।[१५] सम्पूर्ण देश की रक्षा तथा प्रशासन का कार्य इन्हीं के द्वारा किया जाता था। राजा के रूप में क्षत्रिय राज्यविस्तार एवं प्रभु सत्ता की आकांक्षा से यज्ञों का सम्पादन करते थे। इसीलिए इन्हें राजन्य की संज्ञा दी जाती है।[१६] राजा के अतिरिक्त इससे उच्च पद 'सम्राट्' की पदवी हेतु सतत प्रयत्नशील रहते हुए क्षत्रिय राजाओं के द्वारा वाजपेय याग का अनुष्ठान किया जाता था।[१७] विजय प्राप्त करना ही इनका मुख्य लक्ष्य रहता था, क्योंकि इसका संकेत हमें राजसूय यज्ञ के प्रकरण में

---

११. ऐ ब्रा ३३/४

१२. मा श्रौ सू ९/१/३७/१ अप उपस्पृश्या.............अग्निर्गृहपतिरिति गार्हपत्यान्ते यजमानमावेदयत्येषं ते जनते राजेति यजमानमाह। सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजेति जपति।

१३. वारा०श्रौ १/१/१/२३ ब्राह्मणा ऋत्विज आर्षेयाः।

१४. वही, ३/३/४/४६, ३/१/१/२९, २/२/४/७, २/२/३/१०७

१५. वारा०श्रौ १/१/१/४, १/४/१/१, १/४/१/२३, ३/१/१/१ ब्राह्मणो राजन्यो वा...।

१६. वारा०श्रौ ३/३/१/१, राज्ञो राजसूयः। वही, ३/१/१/१ ३/३/३/२४, ३/४/१/१ विजित्याश्वमेधेन यजेत राजा। २/१/१/४९

१७. वही, ३/१/२/४७

देखने को मिलता है। जहाँ काल्पनिक क्रियाओं के प्रसङ्ग में भी इसे विजय प्रदान की जाती है।[१८] ये लोग वीर्य एवं शौर्य की कामनाओं से ओतप्रोत रहते थे। इन्हें प्रारम्भ से ही शौर्य एवं वीरता की शिक्षा दी जाती थी। ये लोग आध्यात्मिक रुचिसम्पन्न, दानशील, उदार एवं देशरक्षक होते थे। इन्हीं लोगों के द्वारा राजसूय अश्वमेध एवं वाजपेय जैसे दीर्घकालीन तथा अतिव्ययी यज्ञों का सम्पादन सम्भव था[१९]। यज्ञिय दक्षिणा के रूप में ब्राह्मणों (ऋत्विजों) को भोजन, वस्त्र, अश्व, रथ, हाथी, भूमि, गौ, बैल इत्यादि प्रदान करते थे।[२०] इस प्रकार प्रदेय दक्षिणा के द्वारा इनकी आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगाढ अभिरुचि प्रदर्शित होती है। इसके अतिरिक्त याज्ञिक प्रसङ्गों के क्रियाकलापों यथा - अक्षक्रीडा, रथरोहण, आजिधावन आदि के द्वारा स्पष्ट होता है; कि ये लोग शूरता के साथ ही साथ अध्ययन एवं ललित कलाओं में भी रुचि रखते थे।[२१] इसके साथ ही साथ इनके जातिगत गुणों में रणकुशलता भी परिलक्षित होती है।[२२] इस प्रकार हम देखते हैं; कि तत्कालीन क्षत्रियों की स्थिति ब्राह्मण के अनन्तर अति उत्तम थी।

वैश्य - यज्ञानुष्ठान प्रसङ्ग में विहित वर्णक्रम के आधार पर ज्ञात होता है; कि तत्कालीन समाज में वैश्यों का स्थान तीसरा था।[२३] इनका प्रमुख कार्य व्यापार करके देश को समृद्ध बनाना था। ये लोग ऐश्वर्य, भूति, पशु आदि की कामना से ही यज्ञों का सम्पादन कराते थे।[२४] देश को आर्थिक प्रगति के मार्ग पर ले चलना ही इनके जीवन का परम लक्ष्य था। इनकी गणना बुद्धिजीवियों में की जाती थी। समस्त याज्ञिक प्रकरणों में प्रयुक्त मन्त्र एवं ऋतु आदि के द्वारा ज्ञात होता है कि

---

१८. वही, ३/३/३/२ राजन्यं जिनाति।

१९. वही, ३/४/१/१, ३/३/१/१, राज्ञो राजसूयः। ३/१/२/१

२०. वही, ३/३/१/८, १/४/१/१७, १/५/५/२, ९, २/२/३/१०, २/२/५/३, ३/१/१/२९, ३/३/४/३६, ३८, ४६, ३/३/१/१०, २०

२१. वारा०श्रौ ३/१/१/३६-४०, ३/१/२/२-७, ३/३/४/४६

२२. वही, ३/४/१/३१ तल्प्या राजपुत्राः कवचिनोऽनिवर्तयन्तो...। ३/२/५/४६ क्षत्रिया रथेषु कवचिनः सन्नद्धाः बिध्यन्ति।

२३. वारा०श्रौ १/४/१/१, २३ एवं १/२/१/१

२४. वही, १/२/१/१, १/५/३/१ पशुकामस्य ग्रामकामस्य।

धन-धान्य की पूर्णता ही इनका अभीष्ट लक्ष्य था। इनके द्वारा अर्जित की गयी समस्त सम्पदा पर राजा का पूर्ण अधिकार होता था और राजा भी इस धन का उपभोग देशरक्षा एवं प्रजा के हित में ही करता था।

शूद्र - वर्णव्यवस्था क्रम में इस वर्ण का समाज में चतुर्थ स्थान था। इसकी उत्पत्ति प्रजापति के चरणों से बतायी गयी है।[२५] इसी के आधार पर इनका कार्यक्षेत्र भी निश्चित था। यह कार्य उक्त त्रैवर्णिक जनों की सेवा शुश्रूषा करना ही था। सम्पूर्ण श्रौतसूत्र में शूद्रों का यज्ञकर्मों में अल्पतम उपयोग दर्शाया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि इस वर्ण को धार्मिक विशेषतः याज्ञिक कर्मकाण्डों के अनुष्ठान में अपवित्र एवं अधिकारहीन घोषित कर दिया गया था। यहाँ तक कि यजमान द्वारा यज्ञ-काल में इनसे वार्तालाप करना भी निषिद्ध था। सम्पूर्ण श्रौतसूत्रों के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में भी इनको वेदाध्ययन, उपनयन, आदि संस्कारों के सम्पादन हेतु अधिकारों से वञ्चित कर दिया गया था। इतना ही नहीं, इनको यज्ञाधिकार से स्पष्ट तथा रहित किया गया था।[२६] सम्पूर्ण वाराहश्रौतसूत्र में शूद्र शब्द बहुत ही कम प्रयुक्त हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि शूद्रों की तत्कालीन समाज में नगण्य स्थिति थी। यह प्रयोजन पड़ने पर यज्ञशाला से बाहर दूर ही रखा जाता था, जिससे तत्कालीन समाज में इसे अछूत समझा जाता था।[२७]

उपजातियाँ - पूर्वोक्त चतुर्वर्णों के अतिरिक्त कुछ मिश्रित जातियों का भी तत्कालनी समाज में अस्तित्व था। इस श्रौतसूत्र में रथकार नामक एक जाति का नाम बहुशः प्रयुक्त किया गया है, जिसे ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्यों के अनन्तर ही समाज में स्थान प्राप्त था।[२८] वस्तुतः क्षत्रिय एवं वैश्य पिता और वैश्य एवं शूद्रा माता से उत्पन्न व्यक्ति रथकार कहलाता था।[२९] यह शूद्रों से भी उच्च स्थान प्राप्त वर्ण था। इस वर्ण को

---

२५. वही, ३/३/३/२४

२६. वारा०श्रौ १/१/१/४, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य रथकाराणां यज्ञाः।

२७. वही, ३/३/३/२४ ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः। ३/२/५/३८, ३९ शूद्रार्यौ चर्म मण्डले...। बहिर्वेदि शूद्र आह...। १/५/२/११ शूद्रादुदीचीमवस्थाप्य।

२८. वही, १/१/१/४ रथकारणां यज्ञाः। १/४/३/१ तथा १/४/१/१ वर्षासु रथकारः।

२९. याज्ञवल्क्यस्मृति १/४२, माहिष्येण करण्यान्तु रथकारः प्रजायते।

अग्न्याधान आदि यज्ञों के सम्पादन करने का पूर्णरूपेण अधिकार था।[३०] रथकारों के अतिरिक्त पौंश्चलेय नामक व्यक्ति के नाम का भी उल्लेख है, जो पुंश्चला माता से उत्पन्न होता था।[३१] व्यावसायिकता के आधार पर तत्कालीन समाज में अनेक अन्य उपजातियों का अस्तित्व पाया जाता है, यथा - नापित,[३२] सूत[३३] लौहार, स्वर्णकार, चर्मकार, कुम्भकार आदि। इनके अस्तित्व का ज्ञान हमें इस श्रौतसूत्र में प्रयुक्त विभिन्न याज्ञिक प्रकरणों में उक्त जातियों के कार्यों के वर्णन से होता है।[३४]

आश्रम व्यवस्था

सामाजिक संरचना के समान ही इस श्रौतसूत्र में तत्कालीन व्यक्ति का जीवन भी चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास में विभक्त दिखायी पड़ता है। प्रथम दो आश्रमों में व्यक्ति मौलिक एवं अन्य दोनों आश्रमों में आध्यात्मिक विकास की तैयारी करता था। ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुकुल में जाकर भिक्षाटन कर गुरु सेवा करते हुए अध्ययन करते हुए अपना चरित्र-निर्माण करते थे। इस प्रकार इस काल में ब्रह्मवर्चस्, एवं विद्या की प्राप्ति ही उनका लक्ष्य रहता था। गृहस्थाश्रम में प्रवेश ब्रह्मचर्य के अनन्तर विवाह करने के बाद से प्रारम्भ होता था। इसमें व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति, देशरक्षा, धन, भूति, ग्राम, पशु आदि कामनाओं की पूर्ति करता था। इसीलिए उसे इस समय गृहपति अथवा गृहस्थ की संज्ञा दी गयी है।[३५] वानप्रस्थाश्रम नामक तृतीय आश्रम में व्यक्ति पुण्यार्जन करता था और संन्यास आश्रम में घर का त्याग कर चिन्ताओं से विमुक्त होकर चरम सत्तात्मक ईश्वर की खोज शान्तचित से वनों में जाकर करता था। वहाँ वह कन्दमूलादि आरण्यक फलों मात्र से ही अपना भरण-पोषण करता हुआ पुनः कभी भी घर वापस नहीं आता था।[३६]

---

३०. वारा०श्रौ १/१/१/४, १/४/१/१ तथा १/१/१/५ निषादस्थेपेतरिष्ट्यग्न्याधेयम्।

३१. वही, ३/४/१/२४ पौंश्चलेयो मुसलेन श्वानं हन्ति।

३२. वही, १/४/१/५ केशश्मश्रु वापयित्वा। १/१/२/२

३३. वही, ३/३/३/२२

३४. वही, ३/३/३/३, ८, ११, ३/४/३/१, १३ २/१/४/३, १/४/१/५, १२

३५. वारा०श्रौ ३/२/१/१ गृहपतिरेवेष्ट प्रथमयज्ञः।
३/२/१/२ एको गृहपतिः। तथा ३/२/१/१२ गृहपतिः मुख्यान्।

३६. मान०श्रौ ८/२५/१६ न पुनरागच्छति यथागच्छति वीरहा भवति।

सामाजिक संरचना

इस सूत्रकालीन समाज की लघुतम ईकाई परिवार था, जिसका प्रधान पिता अथवा पति होता था। इसमें बच्चे, पति-पत्नी आदि सदस्य होते थे। परिवार का भरणपोषण एवं संचालन पति के द्वारा घर के बाहर से तथा पत्नी के द्वारा घर के भीतर की व्यवस्था से होता था। पारिवारिक जीवन सुखी एवं सम्पन्न था। गृहकार्यों के सम्पादन में आदर्श पत्नी की सहायतार्थ दासी का भी प्रयोग किया जाता था। यह यज्ञकृत्यों में भी सहायता करती थी।[३७] यद्यपि पत्नी का कार्यक्षेत्र गृह तक ही सीमित था, तथापि वह समाज में भी समादृता एवं वन्दिता तथा अधिकार-विभूषिता थी। ऐसा सम्मान उसे महिषी होने के रूप में प्राप्त अधिकार से ज्ञात होता है।[३८] विवाह के पूर्व वह अपने पिता के संरक्षण में अपने यौवन, शील की रक्षा करती हुए कुमारी एवं दुहिता कहलाती थी। इसी समय वह पतिकामिनी कही जाती थी।[३९] पिता उसकी शिक्षा दीक्षा एवं सर्वांगीण विकास का उचित प्रबन्ध करता था। विवाह के अनन्तर उसे पत्नी कहा जाता था। इस संज्ञा के कारण ही वह याज्ञिकानुष्ठानों में यजमान के साथ समानाधिकार से भाग लेती थी।[४०] यदि वह यज्ञकाल में रजस्वला हो जाती थी तो अपवित्र हो जाती थी और उस समय यजमान का प्रारब्ध ही दोषी कहा जाने लगता था। स्त्री यज्ञ में कठोरतम एवं जुगुप्सात्मक कृत्यों का भी सम्पादन करती रहती थी। उसका हृदय पुष्पों से भी अधिक कोमल एवं पाषाण से भी अधिक कठोर रूप में देखने को मिलता है। सामान्यतया जीवन क्षेत्र में वह हमें कोमल, मृदु एवं त्याग की मूर्ति आदि गुणों से मण्डिता दिखायी देती है, किन्तु याज्ञिक प्रसङ्गों में वह क्रूर कर्मों का भी सम्पादन करती थी। इसका उदाहरण हमें पशुसंज्ञपन आदि क्रूर कृत्यों के सम्पादन में मिलता

---

३७. वारा०श्रौ १/२/४/६९ दासी पिनष्टि पत्नी वा।

३८. वही, ३/४/४/१२ इति महिषी पत्न्य उदानयन्ति।
एवं ३/४/४/१४ इति महिष्यनुपरिविष्यति।

३९. वारा०श्रौ १/७/४/६५, ६७, ७२ पतिकामापि यायात्। पतिकामापि वा।... इति पतिकामा।

४०. वही, १/१/२/२ यजमानपत्नी चासुहितौ। एवं १/१/२/११-१२

है।[४१] अश्वमेध यज्ञ में अश्वसंज्ञपन के लिए पत्नियों द्वारा विभिन्न प्रकार की सूइयों को अश्व-शरीर में चुभाते समय भी उनकी क्रूरता देखी जा सकती है।[४२] क्रूर कर्मों के अतिरिक्त अमर्यादित कृत्यों के सम्पादन में भी यही सम्मानिता महिषी नामक पत्नी देखने को मिलती है। यह अश्वमेध यज्ञ में मृताश्व के पार्श्व में लेटी हुई अश्व-सम्मेलन करती थी।[४३] इसके अतिरिक्त राजसूय यज्ञ में धनुष धारण किये रहने पर उसे हम वीर कर्मों के सम्पादन में भी निपुण एवं क्षम पाते हैं।[४४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक पत्नी के रूप में, यह अपने पति के साथ प्रत्येक कार्यों में भाग लेती हुई पति की कामनाओं की अभिपूर्ति में अद्वितीय योगदान किया करती थी। इतना ही नहीं इसके बिना यज्ञ अधूरा ही रह जाता था।[४५] इसीलिए वह सच्चे अर्थों में अर्धाङ्गिनी कहलाती थी। यज्ञशाला में नियत स्थल पर अपने पति के साथ संलग्न होकर यज्ञकार्यों की पूर्ति में उन्हें सहयोग करती थी।[४६] कुछ भ्रष्टा स्त्रियों की भी स्थिति का परिज्ञान प्राप्त होता है जो उद्दाम कामवासना से परपुरुषगमन किया करती थीं; वे पुंश्चली नाम से अभिहित हुई हैं।[४७] समाज इन्हें घृणा एवं उपेक्षा की दृष्टि से देखता था।

ग्राम - बहुत से परिवारों का एकीकृत रूप ग्राम कहलाता था, जो समाज का स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर संगठन था। इस संगठित संस्था के प्रधान पुरुष को ग्रामणी कहा जाता था।[४८] ग्रामीणों की जीविका का साधन कृषि मात्र थी, जिसके अन्तर्गत पशुपालन की प्रधानता थी। यज्ञ में व्यय होने वाले प्रभूत धनराशि से जनता की समृद्धि एवं सुखी जीवन का आभास मिलता है।

---

४१. वही, १/७/५/१३-१४ ताभ्य: पत्नी पशो: प्राणान्प्रक्षालयत्यध्वयुर्वा।

४२. वही, ३/४/४/१७

४३. वही, ३/४/४/१४, १५

४४. वारा०श्रौ ३/३/३/६-७ एष वज्र इति पत्न्यै धन्वार्तिप्रयच्छति। उपददाति।

४५. वही, १/१/२/२ यजमान: पत्नी चासुहितौ।

४६. वही, १/१/२/११, १३ आहवनीयागारे यजमानो विहरति गार्हपत्यागारे पत्नी यतोर्दक्षिणा। दाक्षिणत उपचारो यजमानस्यापरत: पत्न्या:।

४७. वही, ३/४/१/२४, ३/२/५/३०, पुंश्चली:।

४८. वही, ३/३/३/२२ ग्रामण्ये ग्रामणी।

नगरों का भी पूर्णरूपेण विकास हो चुका था, क्योंकि ग्राम एवं ग्रामणी शब्द का प्रयोग नगर एवं नागरिकों को पृथक् करने के लिए प्रयुक्त किया गया है।[४९]

शासनप्रबन्ध - तत्कालीन राज्य-प्रशासन व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले संकेतों का अभाव होने पर भी याज्ञिक प्रसङ्गों एवं तत्कालीन धर्मसूत्रों के वर्णनों के अनुसार राजा राज्य का अधिपति था। राजतन्त्रीय व्यवस्था होते हुए भी राजा निरंकुश, स्वेचछाचारी नहीं था। उसके लिए नैतिक नियम का बन्धन था। वह सर्वतोभावेन लोककल्याण में रत रहता था। देश की बाह्य आक्रमण से रक्षा, निराश्रितों को आश्रय प्रदान करना, समाज में सुख शान्ति और न्यायपूर्ण व्यवस्था करना उसका कर्तव्य था। इन्हीं उद्देश्यों से वह अनेकानेक यज्ञों का सम्पादन करता था। यज्ञ में प्रधान पुराहित उसकी पूर्ण निष्ठा से सहायता करता था। युद्धकाल में विजय हेतु वह यज्ञादि अनुष्ठान सम्पन्न करवाता था।

यद्यपि राजा के चयन आदि के संबन्ध में कोई निर्देश नहीं मिलता। संभवत: यह उत्तराधिकार प्रथा पर निर्भर था।[५०] राजा विद्वानों और ब्राह्मणों का आदर करता था। राजसूय यज्ञ के रत्नियें की हवि एवं स्फ्य के द्वारा अधिदेवन के प्रसङ्ग में अनेक देशरत्नों का उल्लेख किया गया है, जो संभवत: तत्कालीन शासनव्यवस्था के कर्णधार एवं राजा के सहायक थे। इनका विवरण इस प्रकार है - यजमान, प्रतिहित, सेनापति, पुरोहित, महारानी, सूत, ग्रामणी, अता, संग्रहीता, अक्षावाप (धूतक्रीडा का अध्यक्ष), गोविकर्ता (शिकारी), दूत या पालागल एवं परिवृक्ती।[५१] सेना का अधिपति सेनापति था। सेना में रथ, पैदल, अश्व, हाथी आदि का प्रयोग होता था,[५२] जिसमें क्षत्रियों की प्रधानता रहती थी। सैन्यशक्ति का इससे भिन्न और विवरण नहीं मिलता।

---

४९. वारा०श्रौ ३/४/३/४८, ३/३/३/२२

५०. वही, ३/३/२/१ यस्या: पुत्रो भवत्यमुषां वशीति यस्या विशो राजा भवति।

५१. वारा०श्रौ ३/३/३/२२ स्फ्यं राज्ञे प्रयच्छति राजा प्रतिहिताय प्रतिहित: सेनान्ये सेनानी संग्रहीत्रे संग्रहीता सूताय सूतो ग्रामिण्ये ग्रामणीरक्षावापाय। - ३/४/१/१७ एवं ३/३/१/३५, ३/४/१/३१

५२. वही, ३/४/१/३१ शतं तत्प्या राजपुत्रा:। - ३/१/१/३०

श्रौतसूत्रों में प्रयुक्त जनपद शब्द से प्रान्त का बोध होता है।[५३]

धर्मसूत्रों में राजा के कर्तव्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है : 'राजा ब्राह्मणों के अतिरिक्त अपनी सम्पूर्ण प्रजा का स्वामी होता था। उसके आचरण शास्त्रों में विहित धर्म के आचरण के अनुकूल होने चाहिए। उसके वचन उचित तथा विवेकपूर्ण होने चाहिए। उसे वेदों तथा तर्कशास्त्र का विद्वान् होना चाहिए। उसमें सत्यशीलता, स्पष्टता और आत्मसंयम का गुण होना चाहिए। उसे अपनी सहायता के लिए बुद्धिमान् तथा गुणी लोगों को नियुक्त करना चाहिए। उसमें इतनी चतुराई और साधनसम्पन्नता होनी चाहिए कि अपनी नीति को कार्यान्वित कर सके। उसे अपनी प्रजा के प्रति सर्वत्र निष्पक्ष होना चाहिए और उनकी भलाई में ही लगा रहना चाहिए।[५४]

राजा के सहयोगियों में प्रधान पुराहित का स्थान अग्रणी था। राजपुरोहित का पद निःसन्देह अत्यन्त गौरवास्पद था। अन्य सभी विद्वान ब्राह्मण इसकी आकांक्षा करते थे।[५५] आपस्तम्ब, कात्यायन और मानव श्रौतसूत्रों में इन उद्देश्यों से ब्राह्माणों के लिए बृहस्पतिसव का विधान है।[५६] गृह्यसूत्रों में[५७] सभा और समिति नामक दो राजकीय संस्थाओं का उल्लेख किया गया है। राजसूय यज्ञ के प्रसङ्ग में राजकीय दीक्षा, राजा के अभिषेक आदि का विस्तृत वर्णनमिलता है। इस समय राजा का द्वादश स्थलों के आनीत जल से अभिषेक किया जाता था, जिसे अप्सु दीक्षा[५८] कहते हैं। द्वादश पुण्डरीक[५९] की माता से राजा को दीक्षित किया जाता था। प्रायः राज्य में सुखशान्ति का साम्राज्य था, जनता खुशी थी तथा राजा[६०]

---

५३. का श्रौ २२/२/२२ यथा द्रव्ये जनपदे यजेत तेषां यथोत्साहं दधात्। एवं वारा०श्रौ ३/४/३/१७ जानपदीभि: संज्ञाभि:।

५४. डा० रामगोपाल, इ०वे०क सू०, पृ० १७६

५५. डा० रामगोपाल, तदेव, पृ० ७७

५६. आपश्रौ २२/७/६

५७. कात्या० श्रौ २२/५/११

५८. मा श्रौ सू १/३/३/२१ बृहस्पतिसव:। पुरोधाकाम: स्थापत्यकामो ब्रह्मवर्चसकामो वा यजेत।

५९. पारस्करगृह्यसूत्र ३/१३/३

६०. वारा०श्रौ ३/३/४/९, तथा ३/३/३/३७

अपने शब्दार्थ को चरितार्थ करता था। बाह्य आक्रमण भी कम होते थे। राजा के लिए धर्म, नैतिकता और प्रजानुरञ्जन ये ही तीन बन्धन थे। डा० रामगोपाल के शब्दों में 'देश के नियमों के प्रति राजा की श्रद्धा संभवत: उसकी क्रियाओं पर एक वास्तविक नियन्त्रण थ। यत: देशधर्म उस समय 'धर्म' के साथ घनिष्ठ रूप में मिश्रित था, अथवा पूर्वजों से प्राप्य नैतिक नियमों का अनुवर्ती था, अत: वह राजा के कार्यों पर एक प्रभावशाली नियन्त्रण सिद्ध हुआ होगा, जो अपनी प्रजा की धार्मिक भावनाओं की अवहेलना नहीं कर सकता था। राजाओं की यह महत्वाकांक्षी ही होती थी; कि वे अपनी प्रजा के प्रिय बनें और उनकी प्रजा सदैव धर्म का अनुसरण करें।'[६१]

धर्म, दर्शन एवं नैतिकता

वैदिक धर्म के तीन प्रमुख पक्ष हैं ' (१) देवतत्त्व, (२) यज्ञतत्त्व, (३) दार्शनिक चिन्तन। सूत्रकालीन धर्म में देवतत्त्व का ह्रास तथा यज्ञ और दार्शनिक चिन्तन की दिशा के प्रति झुकाव पाते हैं। तत्कालीन धर्म के अन्तर्गत यज्ञिय कर्मकाण्डों का विस्तार और सूक्ष्म तत्त्वचिन्तन की गरिमा समान रूप से दृश्य हैं। इस काल की धार्मिक मान्यताओं के अनुसार यज्ञ ही वह परम शक्तिसाधन है, जिसके अनुसार देवता भी वशीभूत किये जा सकते हैं।[६२] इसी के द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक सुख संभव है। इस युग में यज्ञमूलक धर्म का जो अतिशय विकास एवं विस्तार हुआ उसके परिणामस्वरूप मूल धार्मिक भावना लुप्तप्राय हो गयी और धर्म का प्रतीकात्मक एवं आडम्बर कलेवर ही अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया।[६३]

इस समय यज्ञ का तात्पर्य किसी कामनाविशेष से किसी देवताविशेष को उद्दिष्ट कर हविर्द्रव्य प्रदान करना था।[६४] यही यज्ञ हमारे श्रौतसूत्रों का प्रमुख प्रतिपाद्य है, जिसका मुख्य रूप से त्रिधा- (हविर्यज्ञ, सोमयज्ञ और पशुयज्ञ के रूप में) विभाजन है। इन यज्ञों का अनुष्ठान ब्रह्मवर्चस्

६१. रामगोपाल, तदेव, १७८
६२. राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलासफी, पृ० १२३
६३. तै सं० २/३/१/५, पञ्च ब्रा ९/२/२२
६४. का श्रौ १/२/२ द्रव्यं देवता त्याग:।

एवं तेज, पशु अन्नाद्य, प्रतिष्ठा, पुत्र, स्वस्ति, पुरोधा, धन, ग्राम, अपरिमित ऐश्वर्य क्षत्र अथवा राज्य, यश, स्वर्ग तथा पुण्यनाम धारण करना आदि विभिन्न कामनाओं की पूर्ति हेतु सम्पन्न किया जाता था।[६५] इतना ही नहीं, इन यज्ञों के अनुष्ठान से मनुष्य मृत्यु जैसे अवश्यम्भावी दुःखों को भी पार कर जाता है। ब्रह्महत्या जैसे महान् पापों से भी वह छुटकारा पा जाता है।[६६] इस प्रकार हम देखते हैं; कि तत्कालीन समाज में लोग विविध देवताओं को प्रसन्न करने के लिए छोटे बड़े अनेकानेक यज्ञों का सम्पादन करते रहते थे। ये देवता प्रजापति, विष्णु, मैत्रावरुण, अश्विन्, वैश्वदेव, इन्द्र, आदित्य, सरस्वती, द्यावापृथिवी, ब्रह्म, पूषा, मरुत, वरुण, रुद्र, त्वष्टा, हरि, सवितृ, महेन्द्र, परमेष्ठिन्, ब्रह्मणस्पति, यम, वायु, पृथ्वी, सप्तर्षि, सोम, बृहस्पति, अदिति, धातृ, विश्वकर्मन्, वैश्वानर, इन्द्राग्नि तथा सूर्य आदि हैं।[६७]

इन देवताओं का अस्तित्व ऋग्वेद से ही था। ऋग्वेद में ये देवता किसी अप्रत्यक्ष सत्ता के विविध शक्तियों के द्योतक थे।[६८] सूत्रकाल का समागम होते-होते इनका रूप मूर्त हो गया। बहुत से देवता यथा-इन्द्र जिनका स्थान ऋग्वेद में महत्त्वपूर्ण था। इस समय गौण हो गये। इसके विपरीत अल्प महत्त्व के देवों यथा रुद्र, विष्णु आदि ने पर्याप्त महत्ता एवं लोकप्रियता प्राप्त कर ली। बहुसंख्यक देवताओं के कारण श्रौतसूत्रकालीन देवताविषयक सिद्धान्त को बहुदेवतावाद कहा जा सकता है। ये देवता यज्ञ में प्रदत्त हवियों से प्रसन्न होकर यज्ञकर्ता की सहायता तथा उनकी सभी कामनाओं की पूर्ति करते थे। यज्ञ का इस काल में सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक रूप में उभयपक्षीय विकास हुआ। जीवन के प्रति लोगों का दृष्टिकोण आशावादी था। जीवन से पलायन की प्रवृत्ति नहीं थी। लोगों की 'जीवेम शरदः शतम्' में दृढ आस्था थी तथा आयुष्कामना से वे यज्ञों

---

६५. वारा०श्रौ १/२/२/१, १/२/४/१५, १/३/७/६, १/४/४/४२, १/४/४/४७, ४८, १/५/३/१, १/७/५/४, ३/२/४/११, ३/२/६/२५-२८, ३/२/७/१, ३/४/१/२, १/१/३/२६

६६. वही, ३/४/८/३२ तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते।

६७. वारा०श्रौ १/३/१/६, २८, १/३/५/१, १/४/४/२३, २५, २८, ४२, ४३, १/५/१/२, ११, १/५/१/१९, १/५/२/४६-४८, १/५/३/८, १/५/४/५, १/५/५/५-६, १/६/१/१, १/६/२/१०, २/१/२/३-५, १/२/५/१०, ११, २५, ३/१/१/२०, ३/४/१/३-४

६८. ऋग्वेद १/१६४/४६ एवं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति...।

का सम्पादन भी करते थे। हम "सैकड़ों वसन्त देखें, हम सैकड़ों वसन्त निवास करें तथा हम सैकड़ों वसन्त सुन सकें।" इस आशाबद्धता एवं कर्मशीलता का जीवन विद्यमान था।[६९]

सूत्रकालीन समाज में धर्म एवं यज्ञ की प्रधानता होते हुए भी जीवन के प्रति लोगों का सन्तुलित दृष्टिकोण था। लोगों का धर्म अर्थ, काम और मोक्ष समन्वित मात्रा में अभीष्ट था। कर्मसिद्धान्त में दृढ़ आस्था यज्ञों की व्यापकता से स्पष्ट हो जाती है। सूत्रकालीन समाज में ईश्वर, आत्मा की अमरता, स्वर्ग तथा कर्मयोग की मान्यताएँ प्रचलित थीं। लोगों की दृष्टि आध्यात्मिकता से अनुप्राणित थी, फिर भी वे योगी नहीं थे, भौतिक जीवन भी सुखी एवं समृद्ध था। सच्चरित्रता में लोगों की अडिग आस्था थी।

दैनिक जीवन में लोगों की सत्य औचित्य में निष्ठा, कामसंबन्धों में नैतिकता, बड़ों के प्रति श्रद्धा, ईमानदारी, दयालुता तथा पवित्रता का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

कृषि

सूत्रकालीन समाज में कृषि जीविकोपार्जन का महत्त्वपूर्ण अङ्ग था, जो ग्राम्य जीवन के लिए स्वाभाविक था। पुरोहितों तथा राजन्यों के अतिरिक्त शेष लोग प्रायः कृषि करते थे। कृषि में अधिकांशतः वैश्य प्रवृत्त होते थे। कृषि कार्य में शूद्रों के श्रम का उपयोग होता था। प्रो० वीडेन पावेल का इस सन्दर्भ में यह कथन है कि 'वैदिक समाज में कृषि कार्य अनार्य श्रमजीवियों द्वारा होता था।'[७०] किन्तु यह कथन सत्यांश मात्र प्रतीत होता है, क्योंकि ऋग्वेद से ही कृषि कर्म विकासोन्मुख था और कृषक जीवन समादृत था। कृषि हेतु हल[७१] का प्रयोग होता था; जो प्रायः उदुम्बर की लकड़ी से निर्मित होता था। कृषि सफलता हेतु इन्द्र, पूषा, शुनासीर आदि को आहुति दी जाती थी। फसल पककर तैयार होने पर पहले देवताओं को अर्पित करने के पश्चात् उसका उपभोग

---

६९. वारा०श्रौ १/५/५/७ पारस्कर गृह्यसूत्र, १/१६/१७
७०. का श्रौ सू १७/२/७ सीरं युनक्त्योदुम्बरम्।
७१. वारा०श्रौ १/५/५/४ नानिष्ट्वाग्रायणेन नवस्याश्नीत।

किया जाता था।[७२] रबी, खरीफ दोनों के समय दो बार आग्रायण इष्टि की जाती थी।[७३] इसके मूल में क्रमशः दो भावनाएँ थीं : १. प्रकृति के प्रकोप से कृषि रक्षा करना और २. धनधान्य प्राप्ति हेतु देवताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन। ब्राह्मण ग्रन्थों में कृषिसंबन्धी कर्षण, वपन, लवण, मर्दन आदि का वर्णन मिलता है।[७४] वर्षा, कूप, नहर आदि सिंचाई के साधन थे। कृषि के उपयुक्त और ऊसर दोनों प्रकार की भूमि का उल्लेख मिलता है।[७५] कृषिकर्म से प्राप्त अन्नों में ब्रीहि, यव, नीवार, श्यामाक, तण्डुल, माष, तिल, गोधूम, असु, नम्ब आदि उल्लेखनीय रहे हैं।[७६]

क्रय के साधन

तत्कालीन समाज में मूल्यनिर्धारण का साधन प्रायः पशु ही थे। जिनमें गौ की ही प्रधानता थी। इसी के द्वारा सोम राजा का क्रयण किया जाता था। इसीलिए यह गाय राजक्रयणी कहलाती थी।[७७] गाय के अतिरिक्त साँड़ से भी सोम को खरीदा जाता था।[७८] निश्चित माप के स्वर्ण एवं रजत-निर्मित रुक्म तथा निष्क आदि-आभूषणों का भी प्रयोग सिक्के के रूप में किया जाता था।[७९]

यातायात के साधन

आज के वैज्ञानिक युग की अपेक्षाकृत सूत्रकालीन समाज में यातायात के साधनों का अभाव अवश्य था, तथापि यज्ञानुष्ठानों में प्रयुक्त साधनों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन जनों के आवागमन हेतु अश्व, रथ, हाथी आदि का प्रयोग किया जाता था।[८०] रथों में अश्व योजित किये

---

७२. वही, १/५/५

७३. शब्रा १/६/२/३

७४. का श्रौ २२/३/४० वेदिरुर्वरा, ऊषर उदक्प्रवणे समे वा।

७५. का श्रौ २/२/३/४०, वेदिरूर्वस। ऊषर उदक्प्रवणे समे वा।

७६. वही, १/५/५/१/३, ६, ८, १/२/३/५-६, १/१/२/२, ९, १/२/४/१८, १/५/३/१, ३/२/७/६३, ३/१/२/८, ३/१/१/४२

७७. वारा०श्रौ ३/१/१/२, ३/२/१/२६ षोडशिषिकी राजक्रयणी।

७८. वही, ३/३/४/१३ सद्यो राजानं क्रीणाति दशभिः साण्डैर्वत्सतरैर्नित्यैश्च।

७९. वारा०श्रौ ३/४/३/१, ३/४/४/९, ३/२/५/१६, ३/३/२/२८, ४६, ३/३/३/८

८०. वही, ३/२/२/४२, ५४, ३/३/१/२४, ३/२/३/१८

जाते थे।[८१] इनकी संख्या आकार पर निर्भर करती थी। रथ योजित करने वाला सारथी कहलाता था।[८२] इसके अतिरिक्त रथवाहन नाम से एक विशेष प्रकार की गाड़ी का भी उल्लेख मिलता है, जिस पर रथों को रखकर इधर-उधर ले जाया जाता था।[८३] इन साधनों के अतिरिक्त शकट, अनस एवं हविर्धान नामक अन्य गाड़ियों का भी प्रयोग किया जाता था, जिसमें बैल जोते जाते थे।[८४] अनस के बड़े आकार की 'महानस' संज्ञा भी है।[८५] इनके अतिरिक्त गधा आदि पशुओं का भी प्रयोग सामान ढोने के लिए किया जाता था।

पशुपालन

कृषि कार्यों में पशुपालन महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था। पशुओं का प्रयोग यज्ञ एवं दैनिक जीवन में समान रूप से किया जाता था। इनमें कुछ पशुओं से दूध, प्राप्त किया जाता था, कुछ से माँस और अन्य से शक्ति एवं रक्षा प्राप्त की जाती थी। समग्र श्रौतसूत्र में गज, अज, अजा, मेष-मेषी, अनूबन्ध्या, रथवाहनवाह, पृश्नि, अश्व, ऋषभ, तूपर, श्वान, गोमृग, अनड्वान, वड्वान, गर्दभ, सुअर आदि पशुओं का उल्लेख मिलता है।[८६] मनुष्य की सम्पत्ति होने के साथ ही साथ इन पशुओं की यज्ञों में दक्षिणा दी जाती थी।

मापक-उपकरण

विकास के आदि काल में वैज्ञानिक माप-तौल के साधनों का अभाव होना स्वाभाविक ही है। उस समय प्राय: मापने के लिए शतमान शब्द का प्रयोग किया जाता था।[८७] लम्बाई के मापने में अङ्गुल[८८],

---

८१. वारा०श्रौ ३/३/२/५३
८२. वही, ३/३/३/१८ सारथिना रथमादधाति। ३/१/१/१८
८३. वही, ३/३/४/३८ रथवाहन वाहनो...।
८४. वही, १/२/४/१८, २३, ३/१/१/४-५, हविर्धान गते...।
८५. का श्रौ १४/२/३१
८६. वारा०श्रौ १/७/२/३६, मेषीमवद्यति वारुण्या अध्वर्युतरेण सहमेषम् तथा वही..... २/१/२/३, १३, २/३/८/९, २/२/१/१, ३/१/१/२०, ३/२/२/४६, ३/२/४/४, ३/२/७/७०, ३/३/४/४४, ३/४/१/३, २४, ३/२/७/२४, १/४/२/२, ३/२/६/६०, ३/३/४/३८
८७. वारा०श्रौ १/४/४/२७, त्रिंशन्मानं पूर्वस्य दक्षिणा चत्वारिंशन्मानं उत्तस्य। १/५/१/१७, ३/१/२/१०
८८. वही, १/६/३/१०, इत्यङ्गुलिमागमूर्ध्नं.....। तथा १/५/२/३४, १/३/६/१४

वितस्त, हस्त, पाद, प्रादेश, प्रक्रम[८९], अरत्नि[९०] आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। इसके अतिरिक्त नाभिमात्र[९१], बाहुमात्र, यवमात्र, यजमानमात्र, व्यायाममात्र, इषुमात्र, रथमात्र, पादमात्र अन्य शब्दों का प्रयोग लम्बाई, ऊँचाई आदि के मापने में किया गया है।[९२] अञ्जलि, प्राशित्र तथा शराव आदि शब्दों का भी प्रयोग इसी सन्दर्भ में किया गया है।[९३] इस प्रकार यह सिद्ध होता है; कि तत्कालीन समाज में प्राकृतिक उपकरणों का ही विशेष रूप में प्रयोग होता था। गणना हेतु प्रयुक्त दश, पञ्चाशत, शत, सहस्र, अयुत और प्रयुत आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था।[९४]

भोजन एवं पेय पदार्थ

तत्कालीन समाज में व्यवहृत भोजन एवं पेय पदार्थों पर प्रकाश डालने वाली सामग्रियों का इस श्रौतसूत्र में पर्याप्त उल्लेख किया गया है। खाद्य पदार्थों में लवण (नमक) के अतिरिक्त व्रीहि, यव, नीवार, श्यामाक, गोधूम, गवीधुक, कृष्णव्रीहि, तण्डुल, माष, तिल, खजूर, कर्कन्धू आदि अनाजों एवं खाद्यपदार्थों का प्रयोग भी किया गया है।[९५] इससे ज्ञात होता है कि इन्हीं अन्नों के द्वारा विविध व्यञ्जन बनाये जाते थे। पक्वान्न शब्द के तात्पर्य पकाये गये भोजन से है। ओदन[९६] जल में उबाल कर पकाया गया चावल, यवागू[९७] (जौ का हलवा), चरु[९७] (उबाला गया चावल, जौ), सक्तू[९८] मन्थ, धाना, लाजा, पुरोडाश आदि

---

८९. वारा.श्रौ. १/५/२/३३, इत्याहवनीयं प्रादेशमात्री...। १/४/१/२३, अष्टसुप्रक्रमेषु, १/२/२/३, १/६/१/२७, ३५

९०. वही, १/५/२/११ अरत्निमात्री वैकंकत्यग्निहोत्रहवणी, २/१/३/४, २/१/४/३५

९१. वही, १/६/३/२० सूर्यस्थाया नाभिमात्रे संभोगं प्रतिष्ठाप्य...। १/६/३/२८

९२. वही, १/३/५/१ यवमात्रं प्राशित्रमवद्यति। १/६/२/१८ रथमात्रीं वेदिं करोति। २/१/३/७

९३. वही, १/३/७/१७ वेदमञ्जलिनाधस्ताद्योक्त्रमुपयच्छति, १/४/१/७, १/६/२/११

९४. वही, २/३/४/२/७-१०

९५. वारा०श्रौ १/१/२/२, १/२/२/२३, ३१, १/२/३/५, १/३/५/१, १/४/१/७, १/५/३/१, १/५/५/१-३, १/५/५/१-३, १/६/६/२०, २/२/३/९, ३/१/१/८, ३/२/७/४

९६. वही, १/७/१२/८ ओदनस्य शरो निष्काषं निदधाति। १/७/३/१४

९७. वही, १/२/२/३३, १/५/३/३-४, १/६/३/२

९८. वही, १/२/३/३, १/३/१/८, १/४/४/२८, ३२, ४३, १/५/५/६, २/२/३/९, ३/२/७/२६, ३/२/८/४

का प्रयोग भोजन में किया जाता था।[९९] शक्कर का प्रयोग बहुशः हुआ है।[१००] तत्कालीन समाज में दूध एवं उससे निर्मित विविध प्रकार के भोज्य पदार्थों का प्रयोग किया जाता था।[१०१] जैसे दधि, घृत, आज्य, नवनीत[१०२], सान्नाय्य[१०३] आमिक्षा आदि। दधि एवं मधुमिश्रित मधुपर्क[१०४] का प्रयोग विशेष अवसरों पर ही किया जाता था। पेय पदार्थों में सोम, सुरा का प्रयोग विशेष रूप से उल्लिखित है।[१०५] सोम देवों को ही नहीं, मनुष्यों का भी प्रिय पेय था। सोमपान यज्ञों में भी किया जाता था। यदा कदा सामिष आहार का भी प्रयोग होता था, पर यज्ञकाल में इसका स्पष्ट निषेध था।[१०६]

वस्त्र एवं आभूषण

कला मानव की सहजात वृत्ति है। उस युग में भी इसी भावना से प्रेरित होकर स्वयं को सजाने के लिए व्यक्ति विविध प्रकार के वस्त्रों एवं आभूषणों का प्रयोग करता था। ऊनी, सूती, रेशमी तीनों प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है।[१०७] रेशमी एवं ऊनी वस्त्र पवित्र समझे जाते थे तथा इनका प्रयोग उत्सव एवं यज्ञादि के समय होता था। भेड़ के बालों एवं कृष्ण मृग के चर्म से वस्त्र बनाये जाते थे। भेड़ के बालों से बनाया गया वस्त्र मुख्य रूप से यज्ञ में प्रयुक्त होता था। लोग सिर को आच्छादित करने के लिए सूती पगड़ी का प्रयोग करते थे।[१०८] तार्प्य,

---

९९. वा.श्रौ. २/२/३/३, ३/२/७/१८, २१ वदरसक्तुभिः, ३/२/७/६३
१००. वही, १/२/४/५६, १/६/६/२१
१०१. वही, १/४/२/६, २/१/५/१९ शर्करामग्निं परिश्रयति।
१०२. वही, १/२/३/८, १/३/१/२३, १/३/७/१२, १/४/४/४, ७, २८, १/६/६/६, २/२/३/२३
१०३. वही, १/१/१/५८
१०४. वारा०श्रौ १/६/६/१४
१०५. वही, १/४/१/४ सर्वत्र सोमेन यक्ष्यमाणः।
३/२/८/२ तेन धर्मेण सुरा संस्क...।
१०६. वही, १/४/१/४ सर्वत्र सोमेन यक्ष्यमाणः।
तथा १/१/२/२ माषमांसलवण वर्ज्यम्। १/४/१/१२ नमांसमश्नीयात्।
१०७. वही, १/५/५/२ पिशङ्गो दक्षिणा वसनं वा। ३/३/१/२० १/४/१/१२, ३/३/१/८,, ३/४/४/१५, ३/३/२/३० इत्युषणीषम्।
१०८. वही, ३/४/४/९, ३/३/२/३०

अधीवास[१०९] क्षौम[११०] आदि वेशभूषा का उल्लेख मिलता है। अधिवास का प्रयोग शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिए किया जाता था। धार्मिक अवसरों पर कुशा से बने वस्त्रों का भी प्रयोग होता था।

सामान्य जनजीवन समृद्ध एवं सम्पन्न था, अतः विविध स्वर्ण रजत तथा बहुमूल्य रत्नों से निर्मित आभूषणों का भी प्रयोग होता था। निष्क स्वणाभूषण का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे। रुक्म भी प्रिय स्वर्णाभूषण था। रजताभूषणों का भी प्रचलन था। यजमान एवं यजमान की पत्नी यज्ञ के समय प्रायः स्वर्णाभूषण धारण करते थे। कान की बालियां भी प्रिय आभूषण थीं।[१११] अश्वमेध के प्रकरण में अश्व को आभूषणों से सजाना तत्कालनीन समाज की आभूषणप्रियता का द्योतन करता है।[११२] उपानह का प्रचलन भी तत्कालीन समाज में था। सुअर, एवं कृष्णाजिन मृग चर्म के जूते का भी प्रयोग किया जाता था।[११३] प्रायः सौन्दर्यप्रसाधनों में नैसर्गिक प्रसाधन की ही प्रधानता थी। किसी कृत्रिम प्रसाधन का उल्लेख नहीं मिलता। समय-समय पर लोग तलवार, धनुष् आदि अस्त्रों से भी स्वयं को सुसज्जित करते थे।[११४] केशसज्जा की विविध पद्धतियां प्रचलित थीं।[११५]

विवाह

इस श्रौतसूत्र में ऐसा निर्देश नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि तत्कालीन समाज में विवाह किस पद्धति से होता था। उन दिनों विवाह नैतिक सामाजिक एवं आध्यात्मिक बन्धन था। असमान प्रवरों में ही विवाह की प्रधानता थी।[११६] विवाह परिपक्व अवस्था में

---

१०९. वारा०श्रौ ३/१/२/१४, १/३/२/२१, ३/२/५/१६ वासोऽधीवासश्चतस्रो...।

११०. वही, १/४/३/३८, क्षौममिदमध्वर्यवे। ३/१/२/१४, १/४/३/३८ ३/३/२/३० क्षौमं संशुद्धम्।

१११. वही, ३/४/३/१, ३/४/२/१६, ३/३/३/८

११२. वही, ३/४/३/१-४९

११३. वही, ३/३/३/११, २/२/४/२०

११४. वही, ३/३/३/३-६

११५. वही, ३/२/५/३४ केशान्प्ररोह्य।

११६. वारा०श्रौतसूत्र १०/२ असमानप्रवरैर्विवाहः।

होता था। समाज में स्त्रियों का स्थान सम्मानपूर्ण होने के कारण लड़कियों को भी वर चयन में कुछ अधिकार थे।[११७]

सामान्य व्यक्ति अपने जीवन में एक ही विवाह करता था और पत्नी को अर्द्धांगिनी मानकर उसे प्यार, श्रद्धा देता था। वह व्यक्ति की सच्ची सहयोगिनी थी। राजा लोग कई पत्नियों को रखते थे। अश्वमेध के प्रसङ्ग में चार रानियों द्वारा अश्व के सञ्ज्ञपन तथा सजाने का उल्लेख किया गया है।[११८] जिनके नाम क्रमशः महिषी, ववाता, परिवृक्ती और पालागली है।[११९]

हव्य सामग्रियाँ

यज्ञ में पलाश, खदिर, बिल्व, रौहितक, शमी आदि वृक्षों से ली गयी इध्मों एवं परिधियों का प्रयोग होता था।[१२०] प्रायः इन्हीं लकड़ियों से हवि देने वाले पात्रों, जुहू, स्रुवा, उपभृत आदि का भी निर्माण होता था।[१२१] हव्य द्रव्यों में सान्नाय्य चरु, पुरोडाश, आमिक्षा, वाजिन्, मन्थ, व्रीहि, यव, तण्डुल, पुरोडाश, पशु, दधि और सोम नामक पदार्थों का प्रयोग होता था।[१२२] यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पात्र कुम्भी, दर्वी, दृषद्, उपला तथा उलूखल आदि हैं।[१२३] कामनाओं की अभिपूर्ति हेतु अनेक धातुओं से बने हुए चमसों का प्रयोग किया जाता था।[१२४]

---

११७. वारा०श्रौ १/७/४/६५, ७२
११८. वही, ३/४/३/१-४७
११९. वही, ३/४/४/१७
१२०. वही, १/२/१/२ शमीशाखां पलाशशाखां वा बहुपलाशाम्। १/१/३/२५, १/२/१/३० पलाशं खदिरं वाष्टादशदारुरिध्मं संनह्यति... उदुम्बराणां वा। १/४/१/१०, १/४/४/२ नानावृक्षीयाः समिध आदधाति...
१२१. वारा०श्रौ १/१/४/८, १/२/२/७, १/२/३/३, १/२/४/२, १/३/४/१४-१७
१२२. वही, १/२/२/३१-३३, १/२/३/३, ५, १/२/४/१८ व्रीहि आग्रायणेनेष्ट्वा व्रीहिभिर्यजेत यवेभ्यो यवैर्वा व्रीहिष्यः। १/४/१/७, १/५/३/१-४, १/५/५/१-८, ३/२/७/५६-७१
१२३. वही, १/२/२/७, ८, २८, १/२/३/३, १/२/४/२, १/२/४/६१-६३ ३/४/१/२१ सैन्ध्रकं मुसलमादाय...।
१२४. वही, १/२/४/५ कांस्येन ब्रह्मवर्चसकामस्य दोहनेन पशुकामस्य मृन्मयेन प्रतिष्ठा कामस्यायसेनाभिचरतः। ३/३/३/१३ समासन्दीमास्थाय............।

आसन एवं काष्ठोपकरण

सूत्रकालीन समाज में काष्ठ, धातु और घास निर्मित चटाई आदि विविध आसनों का प्रयोग बैठने के लिए किया जाता था। यज्ञों में पशुचर्म यथा कृष्णाजिन, व्याघ्रचर्म का प्रयोग भी बैठने के लिए होता था।[१२५] एक प्रादेश ऊँची घास निर्मित वृषी नामक आसन प्रायः उदुम्बर की लकड़ी से बनायी जाती थी। अश्वमेध प्रकरण में हिरण्य फलक और कशिपु नामक स्वर्णासनों का उल्लेख किया गया है।[१२६]

यन्त्र एवं उपकरण

इस समय विविध प्रकार के यन्त्र एवं उपकरणों का प्रयोग होता था। इनमें लौह धातु-निर्मित तलवार, ताँबा, स्वर्ण अथवा रजनिर्मित सुइयाँ, वृक्ष काटने के लिए पर्सु, हँसिया या अश्व की छाती की हड्डी से बने उपवेष, अभ्रि, क्षुरा, अधिज्य, धनुष आदि का प्रयोग होता था।[१२७]

संगीत और कला

उस काल में गायन आदन और नृत्य संगीत की तीनों विधाओं का प्रयोग होता था। नृत्य की अपेक्षाकृत वादन एवं संगीत अधिक विकसित थे। यज्ञों में सामवेद के मन्त्रों का विविध स्वर एवं पद्धति से गान किया जाता था।[१२८] मूँज के शततन्तुओं से युक्त एक वाद्ययन्त्र वाण[१२९] कहलाता था। इस बाजे से वेतस की लकड़ी के यन्त्र से ध्वनि उत्पन्न की जाती थी। दुन्दुभि[१३०] और वीणा[१३१] आदि वाद्ययन्त्रों का भी

---

१२५. वारा.श्रौ. १/२/४/४०, ४४, ५६, ६१ कृष्णाजिनमास्तीर्य..........।

१२६. वही, ३/४/१/३५-३६ हिरण्यफलके कशिपुनि........। ३/२/५/५२-५३ औदुम्बरं प्लेङ्खं होतारोहति। औदुम्बरं फलकपादमध्वर्युः।

१२७. वारा०श्रौ ३/४/४/१७ शूचिभिरसि.......हरिणीभिः......रजताभिः.......लोहमयी। ३/३/३/६-८, १/२/१/१२, १६-असिदं दात्रं पश्चात्........अश्वपरशुंवा। १/२/२/५ उपवेशं च कुर्वीत। ३/३/२/४५-इति लोहितायसंकेशवापाय।

१२८. वही, १/१/१/७-८

१२९. वही, ३/२/५/२५ वाणंशततन्तुं।

१३०. वही, ३/२/५/१७-२९ तथा ३/४/३/४०

१३१. वही, ३/२/५/२६ काण्डवीणाश्च।

प्रचलन था। वैदिक ऋचाओं का सस्वर पाठ होता था। केवल स्वर परिवर्तन से ही अर्थ परिवर्तन हो जाता था। भारतीय संगीत का मूलरूप संहिता साहित्य में दृष्टिगत होता है। संगीत का उद्देश्य स्वान्तःसुख एवं जनजीवन का अनुरञ्जन करना था। एतदर्थ याज्ञिक अवसरों पर भी गायन, वादन आदि कार्यक्रम चलता रहता था।

क्रीडा और मनोरञ्जन के साधन

जुआ अथवा अक्ष[१३२] क्रीडा उस युग का प्रिय खेल था। इसे द्यूत क्रीडा भी कहते थे। अक्षपाश[१३३] उस जाल को कहते थे, जिसे बिछाकर अक्ष खेला जाता था। अक्ष को फेंकने वाला अक्षावाप तथा फेंकने का स्थल अक्षवपन कहलाता था।[१३४] रथदौड़ भी उस युग का प्रचलित खेल था। इसमें अपने रथ को निश्चित स्थल पर प्रतिद्वन्द्विता की भावना से दौड़ाकर ले जाना होता था।[१३५]

कला-कौशल

स्पष्ट है कि श्रौतसूत्रों का प्रमुख प्रतिपाद्य यज्ञ में उपयोगी कलाओं के स्पष्ट उल्लेख का अभाव होना स्वाभाविक है, तथापि यज्ञ विधानों के सन्दर्भ में ही कुम्भकार (पात्र-निर्माता) नाई, बढ़ई, लोहार, स्वर्णकार, जुलाहे तथा चर्मकार आदि का निर्देश मिलता है। ये सभी अपने-अपने कार्य को यथासंभव कलात्मक एवं सुरुचिपूर्ण ढंग से करते थे, जिससे तत्कालीन चित्रकारी एवं हस्तशिल्प का ज्ञान प्राप्त होता था।

ज्ञान एवं शिक्षण

आध्यात्मिक ज्ञान की पराकाष्ठा वैदिक साहित्य में दृष्टिगत होती है। काव्यकला, संगीत कला, नृत्य, धर्म, दर्शन, इतिहास, राजनीति तथा विज्ञान आदि विषयों का मौलिक स्वरूप संहिताओं में देखा जा सकता है। संहिताओं से संबद्ध समस्त परवर्ती साहित्य में पूर्वोक्त विषयों का इस

---

१३२. वारा०श्रौ० १/४/४/१३, ३/३/३/२२-१८

१३३. तदैव

१३४. वही, ३/३/३/२२-२८

१३५. वही, ३/१/२/१-६, ७ चतसृभिर्धावति। रथाः आवर्तन्ते।

युग में पूर्ण विकास हो चुका था। कर्मकाण्डसंबन्धी विस्तृत जानकारी तथा जीवन में उसके प्रयोग को देखकर आश्चर्य होता है, जो सम्पूर्ण श्रौतसूत्रों में विवेचित है।

उस युग के लोगों के अन्तःकरण में ज्ञान की सच्ची पिपासा तथा गुरु के प्रति असीम श्रद्धा थी। विद्यार्था अध्ययनकाल में ज्ञानार्थी था, परीक्षार्थी नहीं। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' में ही उसकी आस्था थी।

कल्पसाहित्य के शुल्बसूत्रों में ज्यामिति का विकास देखने को मिलता है। वेदिनिर्माण की प्रक्रिया पूर्णतया ज्यामितीय सिद्धान्तों पर आधारित थी। विद्यार्थी जीवन का चतुर्थांश समय अध्ययन में वह गुरु के समीप रहंकर व्यतीत करता था। उसे 'अन्तेवासिन्' कहते थे। ज्ञान का अधिकार प्रथम तीन वर्णों को ही था। प्रतिभासम्पन्न स्त्रियाँ भी ज्ञानार्जन करती थीं। याज्ञिक सन्दर्भों में ऋतुओं एवं कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, पुनर्वसु आदि नक्षत्रों का निर्देश मलिता है।[१३६] ज्योतिष् नामक वेदाङ्ग में ज्योतिषशास्त्र का विकास देखा जा सकता है। कल्प के गृह्य एवं धर्मसूत्रों में क्रमशः सामाजिक एवं धार्मिक विषयों का विशद वर्णन मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाराहश्रौतसूत्र-कालीन समाज में विज्ञान, धर्म, दर्शन, कला, साहित्यादि ज्ञान की सभी विधाओं का विकास हो चुका था। अतः ज्ञान एवं शिक्षण की दृष्टि से तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध है।

उपसंहार

वाराहश्रौतसूत्र के आद्योपान्त परिशीलन से यह ज्ञात होता है; कि कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता के कल्प साहित्य में इस श्रौतसूत्र का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व एवं अतिशायी महत्त्व है। इसके अध्ययन से श्रौत यागों का विधिवत् ज्ञान प्राप्त होता है। इसके प्रणेता आचार्य वराह की श्रौत यागों एवं उनकी परम्पराओं की विज्ञता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। आचार्य वराह द्वारा प्रतिपादित श्रौत यागों का विवेचन अति वैज्ञानिक एवं क्रमिक रूप में प्राप्त होता है, जिससे यज्ञानुष्ठान के

---

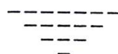
१३६. वारा०श्रौ १/४/१/१-३, १/५/१/५

सम्पादन में ऋत्विजों को पूर्ण सहायता प्राप्त होती है। इसकी शैली आद्यन्त सूत्रात्मक है। ब्राह्मण शैली के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त होते हुए भी इसके अन्तर्गत यत्र-तत्र ब्राह्मण शैली के दर्शन मिलते हैं। इसके सूत्र संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित होने के साथ ही गूढ अभिप्रायों से युक्त हैं। इनके द्वारा याज्ञिक तथ्यों एवं क्रमों का अविच्छिन्न रूप से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसकी भाषा संक्षिप्त, सुबोध एवं प्राञ्जल है। श्रौतयागों के सम्पादन हेतु इस श्रौतूसत्र की उपादेयता अवर्णनीय है। इसके अध्ययन से यज्ञ-ज्ञान के अतिरिक्त तत्कालीन जनों के रहन-सहन, भोजन एवं पेय, वेशभूषा और उनके धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन की सम्यक् रूप से जानकारी प्राप्त की जा सकती है। सूत्रकाल के अन्तिम चरण में होते हुए भी आचार्य वराह ने मैत्रायणीय शाखा की याज्ञिक परम्परा को सुरक्षित एवं अक्षुण्ण बनाकर उसे अग्रेषित करने का जो अक्लान्त परिश्रम किया है वह अति श्लघ्य है। साहित्य की श्रीवृद्धि में सूत्रकार ने इस श्रौतसूत्र के अतिरिक्त गृह्य, एवं शुल्बसूत्र की भी रचना की है। सम्प्रति इनकी उपलब्धि होने से आचार्य वराह द्वारा प्रणीत धर्मसूत्र के होने का भी निर्णय लिया जा सकता है, जो कालान्तर में विनष्ट हो गया है, ऐसा स्वीकार्य है। जिसके कारण उसकी आज कल उपलब्धि नहीं हो पायी है। श्रौतयागों के विवेचन में अपने स्रोत के रूप में मुख्य रूप से मैत्रायणीय संहिता को ही अपनाया गया है। ऐसा होने पर भी सूत्रकार वराह ने संकीर्णता से परे होकर यज्ञों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए स्वशाखीय मन्त्रों को ही प्रतीक रूप से उद्धृत किया गया है। इस श्रौतसूत्र में विभिन्न मतमतान्तरों का बहुशः समावेश न करके अपना ही स्वतन्त्र मत प्रतिपादित किया गया है, परन्तु यत्र-तत्र अपने पूर्वाचार्यों के नामोल्लेखपूर्वक उनका मत भी प्रस्तुत किया गया है, जिससे सूत्रकार की बहुज्ञता का परिचय मिलता है। कतिपय ऐसे यज्ञों का भी विवेचन किया गया है; जो स्वशाखीय मैत्रायणीय संहिता में भी उपलब्ध नहीं होते हैं, किन्तु वे पूर्ववर्ती श्रौतसूत्रों में देखने को मिलते हैं, यथा तृतीयाधान इत्यादि।

इस श्रौतसूत्र के प्रायः प्रत्येक अध्याय का आरम्भ नवीन ढंग से किया गया है। इसके साथ ही हमें प्रत्येक यज्ञ के वर्णन के प्रारम्भिक

सूत्रों में उनके प्रयोजन, अधिकारी, कामना एवं अनुष्ठान काल आदि का निर्देश भी देखने को मिलता है, जिसे पढ़ते ही सम्पूर्ण अध्याय के पढ़ने की जिज्ञासा स्वत: उत्पन्न हो जाती है। इसके यज्ञों के प्रकरण में ही यथास्थान पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया गया है। श्रौतसूत्र के प्रारम्भ में ही 'परिभाषा' 'याजमानम्' एवं 'ब्रह्मत्वम्' का विधान करके सूत्रकार ने यज्ञानुष्ठानगत समस्त कठिनाइयों का निवारण प्रथमत: ही कर दिया है, जिससे सूत्रकार की अनुष्ठान सम्पादन संबन्धी ज्ञान एवं श्रद्धा की विशेष जानकारी का संज्ञान प्राप्त होता है। साथ ही साथ ऐसे विधान से याज्ञिक अनुष्ठानकर्ताओं को भी सुविधा प्राप्त होती है।

वाराहश्रौतसूत्र के गहन अध्ययन से प्राचीन भारतीय जनों के जीवन पद्धति एवं नैतिक मूल्यों का ज्ञान प्राप्त होता है। सूत्रकालीन समाज की संरचना के सम्यक् ज्ञान हेतु इसका अध्ययन अपरिहार्य है। इसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारतीय जनजीवन सरल एवं अध्यात्मप्रवण था। लोग कर्मकाण्ड-प्रतिपादन में ही धार्मिक श्रद्धा रखते थे। इसीलिए यह उनके धर्मक्षेत्र का अनिवार्य कृत्य था। यज्ञ सम्पादन काल में यजमान के साथ उसकी धर्मपत्नी का होना नितान्त आवश्यक था। सपत्नीक यजमान को ही यागों के सम्पादन करने का अधिकार था। धर्मपत्नी के अभाव में यज्ञ अपूर्ण था। राजाओं जैसे यजमान की धर्मपत्नी के अतिरिक्त उनकी परित्यक्ता, प्रेयसी और कुमारियों की भी यज्ञ में उपस्थिति आवश्यक थी। इस प्रकार इस श्रौतसूत्र के अध्ययन से उस काल के समाज में शूद्रों एवं स्त्रियों की स्थिति पर भी प्रभाव पड़ता है। अत: श्रौतसाहित्य में इस श्रौतसूत्र की विशिष्ट स्थिति और महत्त्व सुनिश्चित होता है।



परिशिष्ट - 1

पारिभाषिक शब्दावली

अग्न्यन्वाधान - मन्त्रोच्चारण द्वारा अग्नियों में समिधाओं के आधान कर्म की अग्न्यन्वाधान संज्ञा है।

अग्निप्रणयन - आवहनीय अग्नि से अग्नि ग्रहण करके उत्तर वेदि तक ले जाने के कृत्य का अभिधान अग्निप्रणयन है।[१]

अग्न्युद्धरण - गार्हपत्याग्नि से एक उल्मुक लेकर आहवनीय एवं दक्षिणाग्नियों की स्थापना करने को अग्न्युद्धरण कहा जाता है।

अतिरात्र - अतिरात्र नामक सामगान के साथ जिस सोमयाग की परिसमाप्ति होती है; उस याग की अतिरात्र संज्ञा है। इसमें अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी के तीन पशुओं के अतिरिक्त एक चौथा पशु (अज अथवा मेषी) सरस्वती को अर्पित किया जाता है। इसके अन्तर्गत १९ स्तोत्र एवं १९ शस्त्रों का विधान किया जाता है। इसके अनुष्ठान काल के समय रात्रि में तीन बार क्रमशः चार-चार शस्त्र एवं स्तोमों को भी सम्पन्न किया जाता है, जो इस सोमयाग की प्रमुख विशेषता स्वीकारी जाती है।

अञ्जन - किसी द्रव्य या हवि पर बिन्दु मात्र आज्य के प्रक्षेपण करने की अञ्जन संज्ञा है।

---

१. श्रौ प नि, ८९, ४८५

अधिश्रयण – दुग्ध, आज्य एवं पुरोडाश आदि हवियों को पकाने अथवा अभितप्त करने के लिए अग्नि पर स्थापित करना अधिश्रयण कहलाता है।[२]

अन्वाहार्य – दक्षिणाग्नि पर पकाये जाने वाले ओदन की अन्वाहार्य संज्ञा है, जिसे ऋत्विजों को दक्षिणास्वरूप प्रदान कर दिया जाता है।[३]

अन्वाहार्यपचन – अन्वाहर्य के पकाने जाने के कारण दक्षिणाग्नि की अन्वाहार्यपचन संज्ञा है।[४]

प्रयाज, अनुयाज
एवं उपयाज – प्रधान याग के अनन्तर सम्पादित किये जाने वाले याग की अनुयाज संज्ञा है। यह अग्निदेवता से संबद्ध याग है, किन्तु ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार एकादश देवविशेषों को अनुयाज की संज्ञा प्रदान की गयी है।[५] प्रयाज शब्द से यज्ञ का प्रथम अङ्ग सूचित होता है और अनुयाज से शेष अङ्ग और परिशिष्ट अङ्ग हेतु उपयाज शब्द का प्रयोग किया जाता है।[६] अनुयाज के अनुष्ठान के अन्तर्गत बर्हि, नाराशंस एवं अग्निस्विष्टकृत् देवता के नाम ३ आहुतियों का विधान किया जाता है।

अनुवाक्या – होता एवं मैत्रावरुण नामक ऋत्विजों के द्वारा याग में देवताओं को अपने-अपने भाग ग्रहण करने के लिए आह्वान करते हुए पढ़ा जाने वाला मन्त्र अनुवाक्या कहलाता है।[७]

---

२. द्र०श्रौ प नि १६/१२५
३. वही, १३, ९५, सश्रौ १/४/११०, यतप्र पृ० ३५
४. वही, ५, २४ जै सू १२/२/३ शबरभाष्य,-दक्षिणाग्नौ अन्वाहार्यं पचति। तै ब्रा १/१/१०
५. ऐब्रा २/१८ तथा श्रौ प नि ३६, ३००
६. श्रौ प नि २८, २२८
७. श्रौ प नि २८/२२८

अन्वारम्भण - पार्श्वभाग से स्पर्श किये जाने की क्रिया का अभिधान अन्वारम्भण है।

अप्सुदीक्षा - यजमान के दीक्षित होने की प्रक्रिया में नखकर्तन से प्रारम्भ कर स्नान एवं आचमनादि तक के समस्त कृत्य अप्सु दीक्षा के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं।[८]

अभिषवण - सोमलता के द्वारा सोम रस के निकालने की क्रिया की संज्ञा अभिषवण है।[९]

अपामार्ग - यह एक पौधा है, जिसका उल्लेख अभिचार एवं ओषधि आदि के मन्त्रों में प्राप्त होता है। इसके फलों से हवन भी किया जाता है। एतदर्थ चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत विवेचित राजसूय का अपामार्ग होमप्रकरण द्रष्टव्य है।

अभिधारण - हवन के लिए ग्रहण की गयी हवि का घृत से प्रोक्षण करना अभिघारण कहलाता है।

अभिधानी - अश्व की रशना की संज्ञा अभिधानी है।

अवदान - किसी देवताविशेष के निमित्त ग्रहण की गयी हवि के अङ्गुष्ठ पर्वमात्र अंश की 'अवदान' संज्ञा है।[१०]

अवान्तरेडा - होता के दाहिने हाथ में रखी इडा से लिये गये दो अवदानों की संज्ञा 'अवान्तरेडा' है।[११]

अरत्नि - एक वितस्ति १२ अङ्गुल के बराबर होती है और एक अरत्नि २ वितस्तियों अर्थात् २४ अङ्गुल के बराबर होती है, किन्तु बौधायन के मतानुसार एक अरत्नि २१ अङ्गुल के बराबर होती है और मनुष्य की ऊँचाई पाँच अरत्नि होती है।[१२]

---

८. काश्रौ ७/२/७
९. श्रौ प नि, २००, २७६
१०. सश्रौ ३/२/१९१
११. सश्रौ २/३/२०९ दक्षिणे होतुः पाणौ इडायाः अवान्तरेडामवद्यति।
१२. बौ गृ परिभाषा, १/५३, काश्रौ १६/८/२१

अवभृथ - यज्ञप्रकरण में किया जाने वाला स्नान अवभृथ संज्ञा से अभिहित होता है। यह यज्ञ की समाप्ति के अवसर पर किया जाता है। इस स्नान के साथ ही कुछ आहुतियों का भी विधान किया जाता है।[१३]

अहीन - यह एक सोमयाग है, जो एक दिन से अधिक किन्तु १२ दिनों से कम दिन में सम्पन्न किया जाता है।[१४]

आमिक्षा एवं वाजिन् - प्रातःकालीन गर्म दूध में सायंकालीन खट्टे दूध के मिलाने से दूध फटकर दो भागों में विभक्त हो जाता है, जिसके कड़े भाग की आमिक्षा एवं तरल भाग की वाजिन् संज्ञा है।[१५]

आघार - अग्नि पर उत्तर-पश्चिम कोण से आरम्भ कर दक्षिणपूर्व की ओर प्रजापति देवता के लिए और दक्षिणपश्चिम कोण से प्रारम्भ कर उत्तरपूर्व की ओर इन्द्र देवता के लिए आज्य की सतत धारा के रूप में प्रदान की गयी आहुति की आघार संज्ञा है।[१६]

आप्यायन - सोम राजा को मन्त्रसहित स्पर्श करने की क्रिया का अभिधान आप्यायन है।

आस्तरण - कुशों को वेदि पर फैलाना आस्तरण कहलाता है। इसके अतिरिक्त व्रात्य के आसन (आसन्दी) को भी आस्तरण कहा जाता है।

आज्यभाग - आधार आहुति के अर्पण के अनन्तर अग्नि के उत्तरी भाग में अग्निदेवता के लिए तथा दक्षिणी भाग में सोमदेवता के लिए दी गयी दोनों आहुतियों की

---

१३. श्रौ प नि, ९८, ४९३

१४. जै सू १०/६/६०-६१

१५. वही, २/२/२३, ४/१/२२ शबर भाष्य, श्रौ प नि ७९/४६५

१६. आप श्रौ २/१२/७, २/१४/१

आज्य भाग के नाम से जाना जाता है।[१७]

अभिमन्त्रण - मन्त्र के द्वारां यज्ञीय प्रयोग हेतु किसी वस्तु को पवित्र करने को अभिमन्त्रण कहते हैं।

अभिषेचनीय - राजा के अभिषेक के समय प्रयुक्त होने वाले जल को अभिषेचनीय जल कहते हैं।

आज्योत्पवन - दो कुशों के पवित्र द्वारा एक बार मन्त्रपाठ के साथ एवं दूसरी बार विना मन्त्रपाठ किये हुए आज्य के शुद्धीकरण को आज्योत्पवन संज्ञा है।

आशिर - यह सोम का एक प्रकार है; जिसमें दूध मिला होता है।

आवसथ्य - यह पञ्चाग्नियों में एक प्रकार की अग्नि विशेष की संज्ञा है।

आश्रावण - अध्वर्यु द्वारा आग्नीध्र के प्रति 'ओं श्रावय' के रूप में किया गया आह्वान आश्रावण कहलाता है। इसकी आश्रुत संज्ञा भी है।[१८]

इडा - आहुति के अवशिष्ट भाग से अवदान लेकर इडापात्री में रखी गयी हवि की संज्ञा इडा है।[१९]

इध्म - पलाश वृक्ष की एक हाथ लम्बी अट्ठारह समिधाओं को इध्म कहते हैं।

इध्मप्रवश्चन - इध्म काटने के बाद अवशिष्टांश को इध्मप्रवश्चन कहा जाता है।

उत्कर - आहवनीय के उत्तर में विद्यमान एक निश्चित स्थल, जहाँ वेदि की धूल आदि को बटोर कर डाल दी जाती है, को उत्कर कहा जाता है।

---

१७. द्र० सश्रौ २/२/२/१ आज्यभागौ इति द्वयोः कर्मनामधेयम्। तै सं० ३/६/३/१ आप गृ सू १/१०/१३/१५

१८. आप श्रौ १/१५/३, सश्रौ २/१/१८६

१९. सश्रौ, महादेवकृत वै व्या, २/३/२/७, इडां देवता तदर्थमवदानमपि इडा।

उन्नयन - आज्य, सोमरस अथवा अन्य किसी भी हवि को स्रुचों या चमसों आदि में ग्रहण करने के कृत्य का अभिधान 'उन्नयन' है।

उत्पवन - उदगग्र पवित्रों द्वारा जल को ऊपर की ओर छिड़कना शुद्ध तथा पवित्र करने की क्रिया उत्पवन कहलाती है।

उपवसथ - किसी याग के पूर्व दिवस (विशेषकर सोमयाग में) की उपवसथ संज्ञा है। इस दिन यज्ञ की दीक्षा ली जाती है। देवों के समीप यज्ञशाला में निवास करना उपवसथ कहलाता है।

उपवाक - यह अन्न का एक प्रकार है। इसकी इन्द्र यव संज्ञा भी की गयी है।

उपसद - यह सोमयाग में सुत्या दिवस से आरम्भ होने वाली इष्टि है, जिसमें अग्नि, सोम और विष्णु के नाम की ३ आहुतियाँ दी जाती हैं। सायं एवं प्रात:काल प्रत्येक दिन इनका २ बार सम्पादन किया जाता है। कम से कम २ दिनों तक इनका अनुष्ठान करना होता है।

उक्थ्य - यह सोमयागों की सात संस्थाओं में से एक संस्था है। इसमें अग्निष्टोम के पशु अज के अतिरिक्त एक दूसरा अज इन्द्राग्नी को समर्पित किया जाता है। अग्निष्टोम के द्वादश शस्त्र एवं द्वादश स्तोत्रों में तीन शस्त्र एवं तीन स्तोत्र और जोड़े जाते हैं।

उपसर्जनी - पिष्ट को सानने के लिए गरम किया गया जल उपसर्जनी कहलाता है।

उदयनीय इष्टि - किसी भी याग के अन्त में संबद्ध इष्टि की उदयनीय इष्टि संज्ञा है।

उपहव - गाड़ी में जोते गये दोनों बैलों की ऊँचाई के बराबर

करने के लिए छोटे बैल के कन्धे पर जुए के नीचे रखा जाने वाला उपधान उपहव कहलाता है।

उल्मुक – अग्नि के जलाने के निमित्त प्रयुक्त किया जाने वाला अग्नि का टुकड़ा अथवा जलती हुई लकड़ी या अङ्गार को उल्मुक कहा जाता है।

ऊवध्य – यज्ञ में सन्तप्त पशु के पेट का न पचा हुआ भोजन ऊवध्य कहलाता है।

उष्णीष – यह पगड़ी का अभिधान है।

ऋजीष – निचोड़े गये सोम-अंशुओं की ऋजीष संज्ञा है।[२०]

ऋत्विज् – याज्ञिकों के लिए सामान्यतः ऋत्विज् शब्द से ही अभिहित किया जाता है।

एकाह – एक दिन में सम्पाद्य सोमयाग को 'एकाह' कहते हैं।[२१]

कद्र – काले धागों से निर्मित वस्त्र की 'कद्र' संज्ञा है। कतिपय विद्वानों ने इसका अर्थ सोमपात्र किया है। किन्तु ऋग्वेद में एक पुरोहित के लिए इसका प्रयोग होता है।[२२]

करम्भ – दही के साथ मिलाये गये जौ के सत्तू की संज्ञा 'करम्भ' है।[२३]

कपाल – पुरोडाश पकाने के लिए मृत्तिका-निर्मित पात्र की कपाल संज्ञा है।

ककुभ् – यह दिशाबोधक शब्द है।

कृष्णाजिन् – काले मृग के चर्म की कृष्णाजिन संज्ञा है, किन्तु

---

२०. निरुक्त ५/१२ यत्सोमस्य षूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषम्।

२१. जै सू १०/६/६०-६१ तथा विशेष हेतु द्र०-'ऋत्विजों में ब्रह्मा' डॉ. रामहित त्रिपाठी २००३

२२. ऋग्वेद, ८/४५/२६

२३. का श्रौ ५/३/२

ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका प्रयोग यज्ञ के अर्थ में भी किया गया है।

गतश्री - विद्वान् श्रोत्रिय ब्राह्मण, विजयी क्षत्रिय राजा एवं ग्रामणी वैश्य को गतश्री कहते हैं।[२४]

गृहपति - सत्रयागों में यजमान के कृत्यों का सम्पादन करने वाला व्यक्ति गृहपति कहलाता है। ऋग्वेद में अग्नि देवता को भी गृहपति की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

गोमृग - यह वृषभ की एक जातिविशेष है।

घर्म - दूध पकाने के पात्र (विशेषकर अश्विनौं दोनों हेतु) का अभिधान घर्म है, किन्तु यत्र-तत्र इस शब्द का प्रयोग यागों में प्रयुक्त किये जाने वाले गर्म दूध अथवा पदार्थों के लिए किया जाता है।

चात्वाल - वेदि की उत्तर की ओर खोदे गये वर्गाकार गड्ढे को चात्वाल कहा जाता है। इसकी लम्बाई तीन वितस्ति या ३६ अङ्गुल बतायी जाती है।

चातुर्मास्य - यह प्रत्येक ऋतुओं के प्रारम्भ में अनुष्ठेययाग है, जो प्रत्येक चार-चार मासों के अनन्तर सम्पादित किया जाता है।

चरु - घी अथवा दूध में पकाया गया चावल अथवा जौ निर्मित द्रव्य चरु कहलाता है।

छन्दोम - द्वादशाह याग का आठवाँ, नवाँ एवं दशवाँ दिन छन्दोम कहलाता है।

तार्प्य - यह एक प्रकार का वस्त्र है, जो दक्षिणा में प्रदान किया जाता है।

---

२४. श ब्रा १/३/५/१२, तै सं० २/५/४/४ गता प्राप्ता श्रीर्यत्रासौ गतश्रीर्यमिति वा।' - का श्रौ ४/१३ पद्धति।

तीर्थ - चात्वाल एवं उत्कर के बीच एवं वेदि के मध्य का आवागमन का भाग है।[२५]

तूपर - सींगविहीन अज की तूपर संज्ञा है।

दक्षिणा - यज्ञकर्ता पुरोहितों को पारिश्रमिक के रूप में दी जाने वाली वस्तुओं की संज्ञा दक्षिणा है। यह यज्ञकर्म को समृद्ध करती है।

दशापवित्र - वस्त्र के किनारे के भाग को दशा कहते हैं। झालरदार छानने के वस्त्र की दशापवित्र संज्ञा है।

दीक्षा - सोमयाग से संबद्ध यजमान के लिए निर्दिष्ट नियमावली को दीक्षा कहते हैं।

देवयजन - यज्ञस्थल को ही देवयजन कहा जाता है। यह विशेष कर सोमयाग सम्पन्न करने का स्थल है।[२६]

धाना - भुने हुए जौ की संज्ञा धाना है।

धिष्ण्य - वेद के पार्श्व भाग में कुछ ऊँची मिट्टी को बालू से आच्छादित करने से बने हुए ढेर की धिष्ण्य संज्ञा है।

धाराग्रह - प्रवहमान सोमरस से भरा हुआ सोमचमस धाराग्रह कहलाता है।

नम्ब - यह एक प्रकार के चावल विशेष का नाम है।

नाभि - एक अङ्गुल ऊँचे एवं एक प्रादेश मात्र लम्बे उत्तर वेदि के केन्द्रीय स्थल की नाभि संज्ञा है।

निह्नव - द्यावापृथिवी को नमस्कार करना ही 'निह्नव' कहलाता है।[२७]

निर्वाप - देवता विशेष के उद्देश्य से यज्ञिय द्रव्य का पृथक्करण निर्वाप कहलाता है।[२८]

---

२५. आप श्रौ १/१/४-६, का श्रौ १/३/४२-४३

२६. का श्रौ ७/१/१० व्याख्या भाग - '--- देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति देवयजनं सकलप्रयोगाङ्गभूतो भूमिप्रदेशः।

२७. आप श्रौ ४/५/७ व्याख्या भाग 'निह्नवो नाम नमस्कारः...।

२८. वही, १/१७/१० व्याख्या भाग - 'देवतार्थत्वेन पृथक्करणं निर्वापः।

निवान्या - यह उस गाय का नाम है, जिसे बछड़े के मर जाने पर उसके सामने दूसरा बछड़ा खड़ा करके उसका दुग्ध दोहन किया जाता है।[२९]

निष्क - यह गले में धारण किया जाने वाला एक प्रकार का स्वर्णाभूषण है। इसका प्रयोग प्राचीन काल में सिक्के के रूप में भी होता था।

पत्नी सन्नहन - यह वह कृत्य है, जिसके अन्तर्गत एक विशेष प्रकार से यजमान की पत्नी की कटि में मेखला पहनायी जाती है। ज्ञातव्य है कि उक्त मेखला मूँज की रस्सी होती है।

पत्नी संयाज - यह एक अनुष्ठान है, जिसके अन्तर्गत दर्शपूर्णमास याग में सोम, त्वष्टा तथा देवपत्नियों एवं गृहपति को घी की चार आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[३०]

परिधि - यज्ञाग्नि के पश्चिम, दक्षिण और उत्तर किनारों पर रखी जाने वाली पलाश, खदिर, कार्ष्मर्य, उदुम्बरादि यज्ञिय वृक्षों की लकड़ियों को परिधि कहते हैं। यह बाहुमात्र अथवा प्रादेश मात्र लम्बी होती है, जिसके मध्य की परिधि सबसे मोटी, दक्षिण वाली सबसे लम्बी तथा उत्तर की सबसे पतली एवं छोटी होती है।

परिग्रह - स्फ्य के द्वारा वेदि के भीतर तीन रेखाएँ खींचने की क्रिया का अभिधान वेदिपरिग्रह है।

परिसमूहन - जलयुक्त पाणि द्वारा ईशान कोण से प्रारम्भ कर पूर्व दिशा तक अग्न्यायतनों के ऊपरी भाग का प्रदक्षिण क्रम से सम्मार्जन करना परिसमूहन है।[३१]

---

२९. शब्रा० १२/५/१/४

३०. सश्रौ, व्याख्या २/५/२३३ पत्नीभिः समभिज्यन्ते ते पत्नीसंयाजाः।

३१. श्रौ प नि, १०, ६९ जलसहितेन पाणिना अग्न्यायतनोपरिष्टाद्भागे प्रदक्षिणं सम्मार्जनं परिसमूहनमित्युच्यते।

परिप्लव - अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर अवकाश के समय दुहरायी जाने वाली कथा को परिप्लव आख्यान कहते हैं।

पशूपाकरण - कुश एवं मन्त्रों के साथ पशु को स्पर्श कर देवों को समर्पित करना पशूपाकरण है।[३२]

प्राशित्रावदान - ब्रह्मा के भाग की प्राशित्र संज्ञा है और उसके अवदान को प्राशित्रावदान कहते हैं।

पूर्णपात्र - जलाभिपूरित पात्र की पूर्णपात्र संज्ञा है।[३३]

पूर्णाहुति - आज्याभिपूरित स्रुच् के द्वारा दी जाने वाली आहुति का अभिधान पूर्णाहुति है।[३४]

पृषदाज्य - दही से युक्त एवं संस्कृत किये गये आज्य की संज्ञा पृषदाज्य है।

पुरोडाश - यह एक प्रकार की हविविशेष है, जो चावल या जौ के पिसान से बनायी जाती है। यह रोटी की भाँति कपालों पर अधिशृत करके पकायी जाती है।[३५]

प्रेष - याज्ञिक प्रसङ्ग में प्रायः अध्वर्यु द्वारा निर्देश देने वाले मन्त्रों को प्रैष कहते हैं।

पृष्ठ्या - अन्तःपात्य और यूपावटीय शङ्कुओं को मिलाने वाली भूमिगता रेखा पृष्ठ्या कहलाती है।[३६]

प्रक्रम - दो या तीन पदों के बराबर मापन प्रकार प्रक्रम कहलाता है।[३७] किन्तु बौधायन मत में पद १५

---

३२. का श्रौ ६/३/२६ व्याख्या 'तृणेन पशोरूपस्पर्शनं उपाकरणम्। आपश्रौ ७/१२/८ व्याख्या भाग 'देवतार्थत्वेन संकल्पनमुपाकरणम्।

३३. सश्रौ व्याख्या २/५/२२९ उदकेन पूर्णपात्रं पूर्णपात्रम्।

३४. का श्रौ, व्याख्या ४/१०/५ पूर्णया स्रुचा आहुतिः पूर्णाहुतिः।

३५. श्रौ प नि, ७९, ४६५

३६. श्रौ प नि, ४, १८

३७. आप श्रौ ५/४/३

अङ्गुल के परिमाण के बराबर होता है जबकि कात्यायन के अनुसार १२ अङ्गुल। इसके अतिरिक्त १ पद को दो प्रक्रमों के बराबर भी बताया गया है।[३८]

प्रतिषेक - दुग्ध के ऊपर स्रुव से जल का सिंचन 'प्रतिषेक कहलाता है।[३९]

प्रत्यभिघारण - सतत धारा के रूप में आज्य गिराने की प्रक्रिया प्रत्यभिघारण कहलाती है।[४०]

प्रादेश - अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी के मध्य की दूरी को प्रोदश कहते हैं। यह दोनों के फैलाने की स्थिति की दूरी होती है।

फलीकरण - तण्डुलों से कणों को पृथक् करने की क्रिया का अभिधान फलीकरण है।[४१]

ब्रह्मौदन - ऋत्विजों को खिलाने के लिए पकाये हुए ओदन की संज्ञा ब्रह्मौदन है।

मन्थ - आधे भुने हुए जौ वाले पात्र में निवान्या गौ के दूध को रखकर ईख के डंठल द्वारा मथने की क्रिया से विनिर्मित हवि की मन्थ संज्ञा है।

मार्जन - मन्त्रपाठ करके शिर को जल द्वारा प्रोक्षित करने की क्रिया मार्जन कहलाती है।[४२]

मार्जालीय - जहाँ पात्रों को स्वच्छ किया जाता है; उस धिष्ण्य को मार्जालीय कहते हैं।[४३]

वपा - यह पशुओं का एक अङ्गविशेष है; जो उनकी नाभि के चार अङ्गुल नीचे स्थित होता है।

---

३८. का श्रौ, व्याख्या ८/३/१४

३९. आप श्रौ ६/६/२-४, तै ब्रा २/१/३

४०. स श्रौ, व्याख्या २/१/१८५ प्रत्यमिघारणं किंचिद्धाराकरणेनेति।

४१. वही, १/५, फलीकरणं तण्डुलेम्यः कणानां वियोगकरणम्।

४२. सश्रौ २/३/२१० की व्याख्या।

४३. वही, ७/७/७२६ मृज्यन्ते शुद्धानि क्रियन्ते पात्राणि यत्र तन्मार्जालीयम्।

वसतीवरी - यह एक प्रकार का जलविशेष है, जो सोमाभिषव के निमित्त एक दिन पूर्व ले आया जाता है।

विधृति - यह दो ऐसे दर्भों की संज्ञा है; जिनकी लम्बाई आपस में समान होती है।

विमित - यह एक चतुष्कोणीय मण्डप होता है, जो पश्चिम से पूर्व १६ प्रक्रम लम्बा एवं दक्षिण से उत्तर को १२ प्रक्रम चौड़ा तथा ४ या ५ द्वारों से बना होता है। ज्ञातव्य है कि इसका पाँचवा द्वार उत्तरपश्चिम में होता है।[४४]

विहार - यह वह यज्ञस्थल है, जहाँ पर प्रज्वलित अग्नि रखी जाती है।

वेद - यह एक दर्भगुच्छ है, जो विशेष प्रकार के आकार का बनाया जाता है और जिसका प्रयोग मन्त्रपाठ के साथ वेदि को स्वच्छ करने में होता है। सामान्य दशा में इसका निर्माण बछड़े के घुटने के आकार सदृश् किया जाता है।[४५]

व्रतोपायन - यज्ञानुष्ठान हेतु संकल्प करके उसके अनुकूल आचरण करने की क्रिया व्रतोपायन कहलाती है।

व्याम - इसका परिमाप चार अरत्नियों के बराबर होता है।

शामित्र - यह वह अग्नि है, जिसके ऊपर पशु का श्रपण किया जाता है।

समञ्जन - आज्य को बिन्दुमात्र कर गिराने की क्रिया समञ्जन कहलाती है।[४६]

सामिधेनी - अग्नि के प्रज्वलन हेतु विनियुक्त किये जाने वाले

---

४४. आपश्रौ १०/५/५

४५. श्रौ प नि १०, ६३ दर्शपूर्णमासप्रकाश, यज्ञायुध, पृ० ३

४६. सश्रौ, व्याख्या २/१/१८५

मन्त्रों (ऋचाओं) की सामिधेनी संज्ञा है।[४७]

सोमप्रवाक - सोमयाग में भाग लेने के लिए ऋत्विजों के निमन्त्रण करने वाले व्यक्ति को सोमप्रवाक कहते हैं।

स्तोक - श्रप्यमाण वपा से निकली हुई बूँदें स्तोक कहलाती हैं।[४८]

रराटी - हविर्धान मण्डप में लगी हुई घास को रराटी कहते हैं।

राजक्रयणी - यह उस गाय की संज्ञा है; जो सोम राजा के खरीदने के लिए विनिमय के रूप में प्रयुक्त की जाती है।

वैतानिक - आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि आदि तीन पवित्र अग्नियों की वैतानिक अग्नि संज्ञा है।

शकल - पलाश की ईंधन की लकड़ी की संज्ञा 'शकल' की गयी है।

शंयुवाक् - यजमान के ऐश्वर्य की कामना से शंयु (बृहस्पति के पुत्र) की स्तुति के मन्त्रों का पाठ किया जाना शंयुवाक् कहलाता है।

शमितृ - यज्ञीय पशुओं का संज्ञपन करने वाला व्यक्ति शमितृ अथवा शमिता कहलाता है।

शामित्र - इसके तीन अर्थ हैं - (१) शमितृ से संबन्ध। (२) यज्ञीय पशु के विविध अङ्गों को पकाने वाली अग्नि, तथा (३) उक्त अग्नि का स्थल।

षोडशी - यह सोमयाग की वह संस्था है; जिसमें अग्निष्टोम और उक्थ्य के आग्नेय, अज एवं ऐन्द्राग्न अज के अतिरिक्त इन्द्र के निमित्त एक मेष का संज्ञपन किया जाता है तथा जिसमें षोडश शस्त्र एवं षोडश स्तोत्र होते हैं।

---

४७. आपश्रौ १/२/३ व्याख्या भाग 'अग्नेः समिन्धनार्था ऋचः सामिधेन्यः।

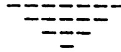
४८. का श्रौ ६/६/१८ व्याख्या भाग – 'वपायां श्रप्यमाणायां तापवशाद्वपाया ये बिन्दवः पतन्ति ते स्तोकाः।

सञ्चर - वेदि के भीतर ऋत्विजों एवं यजमान के आवागमन का मार्ग 'सञ्चर' कहलाता है।

साद्यस्क - यह एकदिवस सवनीय सोमयाग है। इसमें दीक्षा के दिन सोमक्रयण किया जाता है।

स्तोमायन् - अग्नि, इन्द्राग्नी, इन्द्र तौर सरस्वती को अर्पण किये जाने वाले ४ यज्ञीय पशुओं को स्तोमायन कहते हैं।

स्विष्टकृत् - प्रधान याग को जो भली प्रकार से इष्ट करता है वह स्विष्टकृत् कहलाता है।



परिशिष्ट - 2

यज्ञीय उपकरण, पात्र एवं आसनादि

अग्निहोत्रहवणी - अग्निहोत्र हवन में प्रयुक्त स्रुच्की अग्निहोत्रहवणी संज्ञा है। यह विकङ्कत काष्ठ द्वारा बनायी जाती है। इसे हंस के मुख के आकार एवं दण्ड युक्त बनाते हैं। इस की लम्बाई प्रादेश मात्र, बाहुमात्र अथवा अरत्निमात्र सविकल्प होती है।[१]

अधिषवण चर्म - यह लाल रंग वाले बैल का वह चर्म है, जिसके ऊपर अधिषवण फलकों को रखकर सोमरस निकाला जाता है।[२]

अभ्रि - यह खदिर, विकङ्कत, वारण या उदुम्बर की लकड़ी से बनी होती है। इसकी लम्बाई एक अरत्नि मात्र होती है। मिट्टी खोदने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।[३]

औदुम्बर दण्ड - दीक्षा के समय यजमान उदुम्बर वृक्ष की एक लकड़ी का दण्ड धारण करता है; उसे ही औदुम्बर दण्ड कहा जाता है।

---

१. इम्प्लीमेण्ट्स ऐण्ड वेसेल्स यूज्ड इन वेदिक सैक्रीफाइसेज, जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन, आयरलैण्ड, १९३४, आपश्रौ ६/३/६, श्रौ प नि ६/३६, य त प्र, पृ० ३४

२. सश्रौ ७/६/७११, का श्रौ ८/५/२३

३. यज्ञमधुसूदन, पृ० ३२, यतप्र ५-४५, शब्रा ६/३/१/३०

अरणि - शमीगर्म अश्वत्थ की उन दो लकड़ियों के टुकड़ों को अरणि कहते हैं; जो आपस में समतल होती हैं तथा जिनका प्रयोंग मन्थन द्वारा यजनीय अग्नि को उत्पन्न करने में होता है। इनमें नीचे के टुकड़े की अधरारणि और ऊपर वाले की उत्तरारणि संज्ञा है।[४]

उपभृत् - आहुति देने वाले स्रुच् चमस की संज्ञा 'उपभृत्' है। यह बिलयुक्त, दण्डयुक्त और एक अरत्नि मात्र, बाहुमात्र अथवा एक प्रादेश मात्र लम्बी अश्वत्थकाष्ठ से बनी होती है। इसका मुख हथेली की भाँति होता है तथा अग्रभाग हंस के चोंच के समान होता है। होम करते समय इसे बायें हाथ में जुहू के समीप धारण किया जाता है।[५]

उपमन्थ - लकड़ी का एक टुकड़ा जो अग्निमन्थन के समय मन्थ के ऊपर रखा जाता है।

उपयमनी - पकायी गयी मिट्टी के पात्र को उपयमनी कहा जाता है; जो अग्न्युद्धरण पात्री के नीचे रखी जाती है।

उपवेष - यह पलाश की शाखा के मूलभाग से बनाया गया हस्त के आकार एवं प्रादेशमात्र परिमाण वाला होता है। अङ्गारों के हटाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।[६]

उपला - दृषद् के ऊपर हवि आदि के पीसने में प्रयुक्त छोटे वर्तुल प्रस्तर खण्ड को उपला कहा जाता है। यह एक वितस्ति लम्बा होता है।[७]

---

४. का श्रौ, ४/७/२२, यत प्र, पृ० ८

५. तै सं ३/५/७/२, असं० १८/४/५-६, काश्रौ १/३/३६, तैब्रा १/३/२/११, श्रौ प नि ८/५७, सश्रौ १/४/१०९

६. दर्शपूर्णमासप्रकाश, यज्ञायुथ, पृ० ४, यतप्र १/३५, सश्रौ १/३/९१ का श्रौ २/४/२६ व्याख्या भाग, आपश्रौ १/६/७ व्याख्या भाग: अंगारेप्रेषणार्थः काष्ठमुपवेष इति समाख्यायते।

७. यज्ञमबुसूदन, पृ० २७, उपलौ वर्तुलः प्रोक्तौ वितस्तिः परिमाणकः।

उलूखल – यह व्रीहि के अवहनन में प्रयुक्त किया जाता है। यह पलाश या वारण काष्ठ से बनाया जाता है। इसका माप प्रादेश मात्र होता है। यह बिलयुक्त बनाया जाता है।[८]

कृष्णविषाण – काले मृग की सींग को कृष्ण विषाण कहते हैं। दीक्षा काल में इसी के द्वारा यजमान अपनी शरीर की खुजलाहट दूर करता है।[९]

कुटरू – यह एक प्रकार का प्रस्तर है; जो कूटने में प्रयुक्त किया जाता है।[१०]

दृषद् – आजकल इसे सिल कहते हैं। यह एक प्रकार का समतल प्रस्तरखण्ड है। इस पर हवि आदि पीसा जाता है।[११]

ध्रुवा – विकङ्कत काष्ठ से बनायी गयी जुहू के समान आकृति वाली और याग की परिसमाप्ति तक वेदि पर रहने वाली यह वह पात्री है; जो समतल बनी होने से ध्रुवा के नाम से जानी जाती है।[१२]

धवित्र – यह कृष्णाजिन के द्वारा बनाया गया वह पंखा है जो अग्नियों को प्रज्वलित किये रहने में प्रयुक्त किया जाता है।[१३]

धृष्टि – कपालोपथान आदि के समय गार्हपत्य के अङ्गारों को निकालने में प्रयुक्त किये जाने वाले चिमटे या सँड़सी की 'धृष्टि' संज्ञा है।[१४]

---

८. वैखा श्रौ ११/८, दर्शपूर्णमासप्रकाश, यज्ञायुध, पृ० २, वारणवृक्षनिर्मितमौदुम्बरं वा... प्रादेशमात्रं...। यज्ञमधुसूदन, पृ० २७, यतप्र, ३५

९. सश्रौ ७/१/५९४

१०. सश्रौ, व्याख्या १/४/११०

११. दर्शपूर्णमासप्रकाश, यज्ञायुथ, पृ० २, यज्ञमधुसूदन पृ० २७

१२. तै सं० ३/५/७/३, दर्शपूर्णमासप्रकाश, यज्ञायुध पृ० ३, श्रौ प नि, ८/४९

१३. सश्रौ २५/२/६

१४. यज्ञमधुसूदन, पृ० ३२

पूतभृत् - सोमरस रखने का चौड़े मुख वाला बड़ा सा फलक पूतभृत् कहा जाता है।

प्रचरणी - इसका प्रयोग सोमयागों में आहुति देने के लिए किया जाता है। यह विकङ्कतवृक्ष के काष्ठ से जुहू के आकार की बनायी जाती है।[१५]

मयूस - यह उदुम्बर की बनी हुई खूँटी है, जिसमें प्रवर्ग्य अनुष्ठान के समय छाग को बाँधा जाता है।[१६]

मेक्षण - विकङ्कत अथवा वारण काष्ठ से बना हुआ यह दण्डयुक्त दर्वी के समान आकार वाला; यह एक अरत्नि परिमाण वाला अक्षदान ग्रहण करने एवं चरु को लाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसके अग्रभाग में चार अङ्गुल का चतुरस्रफलक्ष लगा होता है।[१७]

मेथी - पशुओं को बाँधने के लिए प्रयुक्त शङ्कु (खूंटे) की मेथी संज्ञा है।[१८]

महावीर - प्रवर्ग्य याग में घर्म बनाने वाले पात्र की महावीर संज्ञा है।

मदन्ती पात्र - मदन्ती नामक जल के रखने वाले चमस को मदन्तीपात्र कहते हैं।

शम्या - यह खदिर वृक्ष के काष्ठ से बनायी गयी; गदा के आकार वाली एवं ३६ अङ्गुल नाप वाली होती है। हविपेषण के समय इसे सिल के नीचे रखा जाता है।[१९]

---

१५. श्रौ प नि, २२५, २१९

१६. सश्रौ २४/२/५

१७. यज्ञमधुसूदन, पृ० ३१, वैखा श्रौ २२/८/११/८, श्रौ प नि, ९/५३ दर्शपूर्णमासप्रकाश - यज्ञायुध पृ० ३, यत प्र, पृ० ३५

१८. सश्रौ २४/२/५

१९. दर्शपूर्णमासप्रकाश, यज्ञायुध, पृ० २, 'खदिर वृक्षनिर्मिता। गदाकृति... षट्त्रिंशदङ्गुला। यज्ञमधुसूदन पृ० २७, श्रौ प नि ७, ८, ४१

ग्रह - किसी बड़े पात्र से सोमरस निकालने के लिए प्रयुक्त होने वाले छोटे-छोटे पात्रों की ग्रह संज्ञा है। इनका विभाजन एवं प्रकार निम्नलिखित है - (१) अंशु आद्भ्यग्रह, (२) अतिग्राह्यग्रह, (३) अन्तर्यामग्रह, (४) आदित्यग्रह, (५) आश्विनग्रह, (६) उक्थ्यगह, (७) उपांशुग्रह, (८) ऋतुपात्र ग्रह, (९) ऐन्द्रवायव्य ग्रह, (१०) दधिग्रह, (११) मन्थिग्रह, मैत्रावरुणग्रह, (१२) शुक्रग्रह, षोडशीग्रह।

स्थाली - सामग्रियों को पकाने अथवा पकी हुई सामग्री को रखने के लिए स्थालियों का प्रयोग किया जाता है। इनके निम्नलिखित प्रकार हैं : (१) अग्निहोत्रस्थाली, (२) आग्रयणस्थाली, (३) आज्यस्थाली, (४) आदित्यस्थाली, (५) उक्थ्यस्थाली, (६) ध्रुवस्थाली, (७) ब्रह्मौदनस्थाली।

चमस् - दण्डरहित चम्मच की चमस संज्ञा है, जो रौहीतक अथवा न्यग्रोध वृक्ष के काष्ठ बनाया जाता है।[२०] इसके निम्नलिखित प्रकार हैं : (१) अच्छावाक चमस, (२) आग्नीध्र चमस। (३) उद्गातृ चमस, (४) नेष्ट्र चमस। (५) पोतृचमस, (६) प्रशास्तृ चमस। (७) ब्रह्मचमस, (८) बाह्मणाच्छंसी चमस। (९) यजमानचमस, (१०) होतृ चमस।

एकघनाघट - एकघना संज्ञक जल को जिस घट में भरकर रखा जाता है; उसे एकघना घट कहते हैं। इस जल को सोमाभिषवण के समय सोम-अंशुओं पर छिड़का जाता है।

स्थूण - प्रवर्ग्य याग में गाय बाँधने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले उदुम्बर की लकड़ी के खूँटे को स्थूण कहते हैं।

---

२०. श्रौ प नि ८/१/७७३

स्फ्य	-	खदिर वृक्ष के काष्ठ से बना हुआ, अरत्नि मात्र लम्बा एवं खड्ग की आकृति वाला वह उपकरण है; जिसका प्रयोग वेदि परिलेखन आदि में किया जाता है।[२१]
हृदयशूल	-	पशु के हृदय को पकाने में प्रयुक्त किये जाने वाले काँटे की हृदयशूल संज्ञा है।[२२]
रथ एवं शकट	-	यातायात सम्बन्धी वाहनों की संज्ञा है।
उखा आसन्दी	-	उखा स्थापित किये जाने वाला फलक।
उपस्तम्भन	-	यह गाड़ी को खड़ा करने में प्रयुक्त लकड़ी है।
कशिपु	-	घासकी बनी हुई चटाई।
कूर्च	-	बैठने के आसन की तरह प्रयुक्त होने वाले घास के ढेर को कूर्च कहा जाता है।
फलक	-	काष्ठ निर्मित छोटी सी बेंच की फलक संज्ञा है।
पर्शु	-	लकड़ी काटने का यन्त्र; जिसे आजकल कुल्हाड़ी कहते हैं पर्शु कहलाता है।
सूची	-	अश्वमेध याग में अश्व को छेदने में प्रयुक्त की जाने वाली बड़ी-बड़ी सूइयों को सूची कहा गया है।
दीक्षादण्ड	-	यजमान को दीक्षा के समय दी जाने वाली उदुम्बर की छड़ी को दीक्षादण्ड कहते हैं।
कृष्णविषाण	-	दीक्षा के समय यजमान को देय कृष्ण मृग की सींग को कृष्णविषाण संज्ञा है।
सीर	-	हल को सीर कहा गया है।
सुराग्रह	-	पलाश, न्यग्रोध अथवा अश्वत्थ काष्ठनिर्मित प्रादेश

२१. श्रौ प नि, ६/३४, यत प्र पृ० ३४, दर्शपूर्णमासप्रकाश यज्ञायुध, पृ० १, यज्ञमधुसूदन, पृ० २६

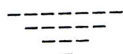
२२. श्रौ प नि, १२१, २०, यत प्र, पृ० ४५

मात्र नाप के उलूखल के आकार सदृश ऊर्ध्वमुख पात्रों को सुराग्रह कहते हैं। इसका उपयोग सौत्रामणी याग में सुराग्रहण करने के लिए किया जाता है। (द्र० सश्रौ १३/८/१५)।

राजा आसन्दी - यह सोम को स्थापित करने के लिए लकड़ी का बना हुआ मञ्च है जो छोटी ऊँची चौकी (स्टूल) के समान होता है।

सम्राड् आसन्दी - प्रवर्ग्य के घर्म को स्थापित करने के लिए काष्ठनिर्मित आसन्दी की 'सम्राडासन्दी' संज्ञा है।

अधिषवण फलक - उदुम्बर या कार्ष्मर्य अथवा पलाश पृक्ष के काष्ठ द्वारा बने हुए तख्तों पर सोम का अभिषव किया जाता है। ज्ञातव्य है कि इन्हीं फलकों की अधिषवणफलक संज्ञा है। (द्र० का.श्रौ. ८/५/२२, स.श्रौ. ७/६/१०८)।



सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. संहिताएँ

१. अथर्ववेद संहिता शौनक, सायणभाष्य सहित – एस०पी० पण्डित, बम्बई, १८९५-९८
– सातवलेकर सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत, १९५७

२. अथर्ववेदसंहिता – परोपकारी सभा द्वारा प्रकाशित, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, वि०सं० २०१४

३. ऋग्वेदसंहिता – सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, सूरत, १९५७
– प्रथम एवं द्वितीय भाग, मण्डल १-१०, मैक्सम्यूल्लेर सम्पादित, काशीग्रन्थमाला, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६५
– खण्ड १-४, सायणभाष्यसहित, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, वैदिक संशोधन मण्डल।

४. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य – सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी

५. यजुर्वेद काठक संहिता – सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, औन्ध, १९४३

६. कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता – धूपकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९५७

७. तैत्तिरीयसंहिता – भाग १-७, सायणभाष्य सहित,

आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, ग्रन्थाङ्क ४२, सन् १९५९, ६०, ६१, ६६

८. कपिष्ठल कठसंहिता - रघुवीर, दि संस्कृत बुक डिपो, दरियागंज, दिल्ली-६

९. तैत्तिरीयसंहिता - ए०बी०कीथ, दि वेद आफ ब्लैक यजुष् स्कूल, हारवर्ड ओरिएण्टल सीरीज, खण्ड, १८, १९

१०. मैत्रायणी संहिता - सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, औन्ध, वि०सं० १९९८

११. शुक्लयजुर्वेद संहिता - भाग १-४, वाजसनेयि माध्यन्दिन शाखा, उव्वटमहीधर भाष्य सहित, रामसकल मिश्र, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, १९१२, १३-१५

१२. वाजसनेयिसंहिता - सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, सूरत, १९६३

१३. शुक्लयजुर्वेद संहिता - वाजसनेयि माध्यन्दिन श्री मदुव्वटा चार्य विरचित मन्धभाष्य और श्रीमहीघर कृत वेदद्वीप भाष्यसहित, पं० जगदीश लाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास १९७१

१४. वाजसनेयिसंहिता - संपादित द्वारा ए० वेबेर, लन्दन, १८५२

१५. तैत्तिरीसंहिता - सं० वेबेर, वर्लिन, १८७१-७२

१६. यजुर्वेदसंहिता - दौलतराम गौड़, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६५

१७. सामवेदसंहिता - परोपकारी सभा द्वारा प्रकाशित वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, वि०सं० २०१८

१८. सामवेदसंहिता - सायणभाष्य बंगला अनुवादसहित,

शंकराचार्य, विद्याभवन, तारकेश्वर १९६५

– धर्मदेव आनन्दकुटीर, जबलपुर,१९६६

(ख) ब्राह्मण-ग्रन्थ

१. ऐतरेय ब्राह्मण – भाग १-२, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना १९३०, १९३१

२. ऐतरेयब्राह्मण आफ दि ऋग्वेद – भाग १, हाग कृत अनुवाद, सुधीन्द्रनाथ वसु, पाणिनि आफिस इलाहाबाद।

३. ऋग्वेदब्राह्मणाज़् – ए०बी० कीथ, हार्वर्ड ओरिएण्टल सिरीज, खण्ड, २५, १९२०

४. ऐतरेयब्राह्मण – गंगाप्रसाद उपाध्याय, हिन्दी अनुवाद, चौखम्बा, वाराणसी

५. ऐतरेयब्राह्मण का एक अध्ययन – नत्थूलाल पाठक, जयपुर, १९६६

६. कौषीतकि ब्राह्मण – आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, सं० ६५, १९११

७. गोपथब्राह्मण – डा० गास्ट्र लक्डउन, १९१९

८. जैमिनीयब्राह्मण – डा० रघुवीर, नागपुर १९५४

९. ताण्ड्यमहाब्राह्मण – भाग १, २, चिन्नस्वामी शास्त्री, वाराणसी, १९३५-३६

१०. तैत्तिरीब्राह्मण – भाग १, २, ३ आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना १९३४

११. शतपथब्राह्मण – माध्यन्दिन, भाग १, चिन्नस्वामी शास्त्री, वाराणसी, १९९३

१२. शतपथब्राह्मण – माध्यन्दिन, भाग २ श्री चन्द्रधर शर्मा अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, वि०सं० १९९७

१३. शतपथब्राह्मण - सायणभाष्यसहित, खण्ड १-५, खेमराज, बम्बई, १९४०

१४. शतपथब्राह्मण - अनुवाद, एगलिंग, से बु ई, खण्ड, १२, २६, ४१, ४३, ४४

१५. षड्विंशब्राह्मण - बी आर शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, सिरीज, ९, १९६७

१६. षड्विंशब्राह्मण - सं० डब्ल्यू०बी० बोली,

१७. शतपथब्राह्मण - सम्पादित, ए बेवेर, लन्दन, १८८५

(ग) आरण्यक एवं उपनिषद्

१. ऐतरेय आरण्यक - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १८०८

२. ऐतरेय आरण्यक - ए०बी० कीथ, आक्सफोर्ड, १९०९

३. तैत्तिरीय आरण्यक - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना १९९८

४. शाङ्खायन आरण्यक - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना १९५९

५. कठोपनिषद् - गीताप्रेस, गोरखपुर

(घ) श्रौतसूत्र

१. आपस्तम्बश्रौतसूत्र - भाग १, २, ३ आर० गार्वे, कलकत्ता, १८८२-१९०२

२. आपस्तम्बश्रौतसूत्र - प्रश्न १-५, ६-८, ९-१० रामाग्निचित्तवृत्ति सहित, धूर्तस्वामी भाष्यसहित, एवं आयंगर रंगस्वामि आयंगर, ओरिएण्टल लाइब्रेरी प्रकाशन, सं० सीरीज, नं ११, ८५, ९३, यूनिवर्सिटी आफ मैसूर, १९४५, ५४, ६०

३.	आश्वलायनश्रौतसूत्र	-	नारायणभाष्यसहित, गणेशस्वामी आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९१७
४.	कात्यायनश्रौतसूत्र	-	विद्याधर शर्मा, अच्युतग्रन्थमाला, काशी, वि०सं० १९८६
५.	,,	-	भाग १-२, नित्यानन्द पन्त, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९२८, ३८
६.	,,	-	ए०वेबेर कर्कभाष्यसहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १०४, ११३०
७.	,,	-	विद्याधर शर्मा, वाराणसी, सं १९८७
८.	जैमिनीय श्रौतसूत्र	-	डी० नास्ट्र, लाइडन, १९०६
९.	द्राह्यायणश्रौतसूत्र	-	१-११ पटल, जे०एन० रायटर, लन्दन, १९०४
		-	११-१५ पटल, डा० रघुवीर, जर्नल आफ वैदिक स्टडीज, भाग १, १९३३
		-	धन्विभाष्योपेतम्, सम्पादक. डॉ० बी०आर० शर्मा एवं डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम् चन्द्रशेखर आजाद पार्क प्रयाग-१९८३
१०.	बौधायनश्रौतसूत्र	-	भाग १, २, ३, डा० कैलेण्ड, बिब्लिओथिका इण्डिका, १९०४, १९०७, १९१३
११.	भारद्वाजश्रौतसूत्र	-	१-११ प्रश्न, डा० रघुवीर, लाहौर, १९३३, ३४
१२.	,,	-	भाग २, सी०जी० काशिकर, वैदिक संशोधनमण्डल, पूना, १९६४

१३. ,, - भाग १ पैतृमेधिकपरिशेष सूत्र सहित, वै०सं० मण्डल, पूना, वि०स० १८८६

१४. मानवश्रौतसूत्र - डा० गेल्डनर, शतपिटक सिरीज, इण्डोऐशियन लिटरेचर्स, भाग १७ इण्टरनेशनल एकेडेमी आफ इं० कल्चर, २२

१५. मानवश्रौतसूत्र - अंग्रेजी अनुवाद, जे०एफ०वी०गेल्डर, न्यू दिल्ली, १९६३

१६. लाट्यायनश्रौतसूत्र - पं० मुकुन्द झा, वाराणसी, १९३२

१७. वाराहश्रौतसूत्र - डा० डब्ल्यू० कैलेण्ड, एवं रघुवीर, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, २७३६ दरियागंज, दिल्ली, १९७१

१८. वैखानसश्रौतसूत्र - डा० डब्ल्यू० कैलेण्ड, कोलकाता, १९११

१९. वैतानश्रौतसूत्र - सोमादित्य कृत अग्निपानुविधिभाष्य सहित, विश्वबन्धु विश्वेश्वरानन्द संस्थान प्रकाशन, होशियारपुर, ४३०, वूल्नेर, भारतभारतीग्रन्थमाला १३, वि० २०२४

२०. शांखायनश्रौतसूत्र - खण्ड १, २, ३, हिल्लेब्राण्ट, बिब्लिओथेका इण्डिका, कालिकाता, १८८३, ९१, ९७

२१. सत्याषाढश्रौतसूत्र - खण्ड १-१०, काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना १९०७, ३२

(ङ) धर्मसूत्र

१. बौधायनधर्मसूत्र - गोविन्दस्वामी भाष्यसहित, चिन्नस्वामीशास्त्री, चौखम्बा सं०सि० आफिस, वाराणसी, १९३४

२.	आपस्तम्बधर्मसूत्र	- जी० व्यूह्लेर, बाम्बे, १८७१ - सं० डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा, वाराणसी।
३.	गौतमधर्मसूत्र	- निवासाचार्य, मैसूर, १९३७ - सं० डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा, वाराणसी।

(च) गृह्यसूत्र

१.	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र	- एम० विण्टरनित्स, वीयना, १८८७ - सं० डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा, वाराणसी।
२.	पारस्करगृह्यसूत्र	- खेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई १८५१
३.	वाराहगृह्यसूत्र	- डा० रघुवीर, पंजाब वि०वि०, लाहौर १९३२
४.	वैखानसगृह्यसूत्र	- डा० कैलेण्ड, कलकत्ता, १९२७
५.	खदिरगृह्यसूत्र	- महादेवशास्त्री तथा श्रीनिवासाचार्य, मैसूर १९१३
६.	हिरण्यकेशीगृह्यसूत्र	- किस्टे, वियना, १८८५
७.	आपस्तम्बपरिभाषासूत्र	- कदर्पि टीका, आनन्दाश्रम, पूना।
८.	कात्यायनशुल्बसूत्र	- एस०डी० खण्डिलकर, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९७४
९.	आपस्तम्बशुल्बसूत्र	- श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, १९३१

(छ) अन्य ग्रन्थ

१.	मनुस्मृति	- श्री कुल्लूकभट्ट विरचित मन्वर्थ मुक्तावली समेता, महावलोपा कृष्णशास्त्रिणा, रावेरग्रामनिवासि-गोविन्दशास्त्रिणा च संशोधिता, खेमरा-जगुप्त, गणपत कृष्णाजी मुद्रणालय, स० १९४५

२. मनुस्मृति - जे०आर० धारपुरे, बाम्बे १९२०

३. धर्मशास्त्र का इतिहास - भाग १, २, ३ मूललेखक पी०वी० काणे, अनु० अर्जुनचौबे काश्यप, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला ७४, लखनऊ।

निरुक्त - आचार्यविश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल ग्रन्थमा-ला, १०२ वाँ पुष्प, वाराणसी, १९६६

निरुक्त - उमाशंकर शर्मा ऋषि, विद्याभवन संस्कृत सीरीज, ५७, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

ऋत्विजों में ब्रह्मा - लेखक डॉ. रामहित त्रिपाठी मङ्गलम प्रकाशन, इलाहाबाद-२००२

ऋग्वेदभाष्यभूमिका - डा० हरदत्त शास्त्री, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७२

ऋग्वेदप्रातिशाख्य - डा० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

न्यायमञ्जरी - जयन्त भट्ट, बनारस, १९३६

प्रवरमञ्जरी - पुरुषोत्तम, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९१७

पाणिनीयशिक्षासूत्र - दयानन्द सरस्वती कृत भाष्य

बृहद्देवता - अंग्रेजी अनुवादसहित, ए०ए० मैकडानल, हारवर्ड ओरिएण्टल सिरीज, ग्रन्थ ५, ६, १९०४

वैदिक कोश - हंसराज, प्रथम संस्करण, लाहौर, १९२६

वैदिक कोश - डा० सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू० युनि० वाराणसी।

वैदिक वाङ्मय का इतिहास - भगवद्दत्त, पंजाबी बाग, देहली।

वैदिक धर्म एवं दर्शन - ए०बी० कीथ, अनुवाद-डा० सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसीदास, १९६५

श्रौतपदार्थनिर्वचनम् - विश्वनाथशास्त्री, द्वितीय संस्करण, बनारस, १९१९

भारतीयसाहित्य - एम० विण्टरनित्स, अनु० लाजपतराय, मोतीलाल बनारसीदास।

वैदिक साहित्य का इतिहास - पं० बलदेव उपाध्याय, शारदामन्दिर, वाराणसी, वि०सं० २०११

वैदिक इण्डिया - लुइस रनू, कलकत्ता १९५७

वेदों में भारतीय संस्कृति - पं० आद्यादत्त ठाकुर, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ १९६७

संस्कृत साहित्य का इतिहास - मैकाडोनेल, अनु० चारुदत्तशास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२

श्रौतकोश - संस्कृत विभाग, प्रथम एवं द्वितीय ग्रन्थ वैदिक संशोधनमण्डल, पूना, १९५८

यज्ञतत्त्वप्रकाश - ए० चिन्नस्वामिशास्त्री, रामनाथदीक्षित, मद्रास, १९५३

भारतीय साहित्य - मूललेखक, ए०वेबेर, अनुवादक-डा० उमेशचन्द्र पाण्डेय, किताबमहल इलाहाबाद, १९६८

श्रौतयागपरिचय - श्रीविद्याधर गौड़, वैदिक कर्मकाण्ड, मण्डल सकरकन्दी गली, वाराणसी, २०१३

दर्शपूर्णमासप्रकाश - श्री रामदीक्षित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थाङ्क ९३, १९२४

संस्कारकौस्तुभ - म०म० श्रीमित्र मिश्र, निर्णयसागरप्रेस, बम्बई

हिन्दू संस्कार - डा० राजबली पाण्डेय, वाराणसी, १९४९

यजुर्वेद भाष्यसंग्रह - महर्षि दयानन्द कृत, युधिष्ठिरमीमांसक, आर्यकुमार सभा, बड़ौदा, १९६१

यज्ञमधुसूदन - मधुसूदन शर्मा, लखनऊ १९२०

मैत्रायणी संहिता का एक अध्ययन - शोधप्रबन्ध, वेदकुमारी, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, १९६८

गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ	-	लखनऊ १९६८
महाभारत	-	सभापर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर
श्रीमद्भगवद्गीता	-	गीताप्रेस, गोरखपुर

(छ) शोधलेख

ऐतरेय ब्राह्मण के इतिवृत्तात्मक आख्यान	-	नत्थूलाल पाठक, विश्वम्भरा, ३/४/१९६७
अग्न्याधेय	-	कल्याणकल्पतरु, गोरखपुर, १९२३, १९६७-७१
अग्निहोत्र होम	-	अभयदेव, देवयाणी, २०, १९६८
अग्निहोत्र का प्रयोजन	-	आनन्दस्वामी, वेदवाणी, १२ नवम्बर, १९६५
वाजपेययागविवेचनम्	-	सरस्वतीसुषमा, वर्ष २६ अंक २, पृ० १३१-१३८, डा० मनोहरलाल द्विवेदी।
विमर्श	-	१९७२
हविर्यज्ञों की दक्षिणा पदार्थ के रूप में गौ की महत्ता	-	'कल्याण' जून अङ्क १९९९, डॉ. रामहित त्रिपाठी
वैदिकज्ञों में 'ब्रह्मा' के वाचिक कृत्य	-	३५ वाँ सम्मेलन AIOC - डॉ. रामहित त्रिपाठी
अयोध्या की वैदिक यज्ञ परम्परा	-	डॉ. रामहित त्रिपाठी 'ऋतावरी' अङ्क ३ गोरखपुर

ENGLISH WORKS

INDIA AS KNOWN TO PANINI : Dr. V.S. Agrawal Lucknow, 1953

SOCIAL AND RELIGIOUS LIFE IN THE GRIHYASUTRAS : V.N. Apte Ahmedabad, 1939

THE RELIGION OF THE VEDA : M. Bloomfield New York, 1908

A HISTORY OF SANSKRIT LTRRATURE : A.A. Macdonell London, 1900

VEDIC MYTHOLOGY : A.A. Macdonell London, 1912

HISTORY OF ANCIENT SANSKRIT LITERATURE : Max Muller Allahabad

HISTORY OF INDIAN LITERARUTE : M. Winternits Vol. I Calcutta, 1937

HISTORY OF DHARMASHASTRA : P.V. Kane Vol. I, Abori ? Poona, 1941

RELIGION AND PHILOSOPHY OF THE VEDA AND UPANISHADS : A.B. Keith Harward Oriental Seirs Vol. 31 and 32, 1925.

KATYAYANA SULBA SUTRA : Ed. by S.D. Khandilkar Vaidika Saṃsodhana Mandala, Poona

VEDIC CONCORDANCE : Bloomfield The Harvard Oriental Serres, Vol X, 1906

INDIA OF VEDIC KAPLA SUTRAS : Dr. Ram Gopal National Publications Daryaganj, Delhi, 1959

A CRITICAL STURY OF THE KATYAYANA SRAUTA SUTRA	:	Dr. K.P. Singh B.H.U. Publications Varanasi, 1969
THE YAJURVEDA	:	Devi Chand English translation New Delhi, 1965
SAMAVEDA SAMHITA	:	English translation Dharma deva Ananda Kutir Jwalapur, 1967
THE HYMNS FROM THE SAMAVEDA	:	Translation by T.H. Ralph Griffith Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1963
PICTURE ALBUM OF THE PRACTICAL APPARATUS FOR THE SCIENTIFIC STUDY OF PURVA MIMAMSA	:	Mimamsa Vidyalaya Poona
STUDIES IN THE BRAHMANAS	:	Dr. A.C. Banerjea Motilal Banarasidass New Delhi, 1966
CULTURE AND CIVLIZATION AS REVEALED IN SRAUTASUTRAS	:	R.N. Sharma Delhi, 1977
RELIGION AND SOCIETY	:	Dr. S. Radhakrishnan Allen & Unwin, London

RESEARCH PAPERS

VEDIC RITUALS	:	Cultural Heritafe of India Vol. I, R.M.I.C. Calcutta, 1958
THE ORIGIN OF YAJNA IN PRIMITIVE SOCIETY	:	D.K. Bedekar Summary of Papers, All India Oriental Confer-ence, Bombay, 1949
THE HINDU RITUALS	:	Chintaharan Chakraborty B.R.M.I.C., B. pp 212-17
INDIAN CONCEPTION OF SACRIFICE	:	S.B. Das Gupta B.R.M.I.C. 6 (8) p. 173-81.

ASHWAMEDHA ITS ORIGINAL SIGNIFICANCE	: R.D. Karmarkar A B O R I, Poona Vol. 30, pp. 332-45 Summary of Papers A I O C, Bombay.
A CRITICAL STUDY OF THE CHATURMASYA SACRIFICES	: V.B.D. III, 24, 80.
VAIDIKA YAJNA	: S.S. Vol. 13, 1961 23-39 Girdhar Sharma Chaturvedi.
A SHVAMEDHA	: Sudhir Kumar Gupta Trividha, April, 1964 Jaipur.
DARSHYAJNA MEN SHAKHA HARAN KARMA	: S.P. 25 All India Oriental Conference, 1969, 37-39
VEDIC SACRIFICE	: U.C. Pandey, Bharati Vol 6(2) 1962, 63 pp. 105-108.
A RARE MANUSCRIPT OF THE VARAH SCHOOL	: By G.C. Kashikar Vaidika namsodhan mandala, Poona, 1967.

JOURNALS

- Poona Orientalists Poona.
- Adyar Library Bulletin.
- Allahabad University Studies, Allahabad.
- Annsls of the Bhandarkar Oriental Institute, Poona.
- Annals of the Venkateshwar Oriental Institute, Tirupati.
- Bulletin of the Deccan College, Research Institute, Poona.
- All India Oriental Conference, Poona.
- Annals of Oriental Research, Madras, University.
- Calcutta Review, Calcutta University.
- Journal of the Bihar Research Soriety, Patna.
- Sarswati Sushama, Snaskrit University, Varanasi.
- Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland, London.
- Journal of the Ganga Nath Jha Kendreey Vidyapeeth, Allahabad

डॉ० राम हित त्रिपाठी

प्राचार्य, पं० महादेव शुक्ल कृषक
स्नातकोत्तरमहाविद्यालय, गौर, बस्ती (उ०प्र०)



जन्म : १० जुलाई सन् १९५२ ई०
स्थान : नसदपुर, पत्रा–उनुरखा, जनपद–सुल्तानपुर (उ०प्र०)
पिता : स्व० रामदौर त्रिपाठी "मङ्गल"
माता : स्व० मनराजी देवी त्रिपाठी
शिक्षा : आरम्भिक शिक्षा ग्रामीण प्राथमिक विद्यालय से प्रारम्भ कर एम.ए., पी– एच.डी. (संस्कृत) विशेष अध्ययन–वेद, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ०प्र०) से आद्योपान्त प्रथम श्रेणी में।
शिक्षण : गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर, रणवीर रणञ्जय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अमेठी में प्राध्यापक एवं रीडर के रूप में १४ वर्षों तक तथा विगत १०वर्षों से प्राचार्य पद पर कार्यरत।
लेखन एवं अनुसन्धान :
§ अब तक देश–विदेश के उत्कृष्ट रिसर्च जर्नल्स में ७० से भी अधिक शोधपत्रों का प्रकाशन।
§ शोधनिर्देशन में अब तक १६ शोध उपाधियाँ प्राप्त।
§ "वैदिक यज्ञों में ब्रह्मा"–यू.जी.सी. की लघुशोध–परियोजना पूर्ण।
§ "वैदिकयज्ञशाला और भारतीय ज्यामिति–विज्ञान" यू.जी.सी. की वृहद् अनुसन्धान–परियोजना पूर्ण।
§ "मानव एवं वाराह कल्प में हविर्यज्ञ" यू.जी.सी. की लघुशोध–परियोजना पूर्ण।
प्रकाशित पुस्तक : ऋत्विजों में ब्रह्मा – २०००
सदस्यता :
§ सदस्य–कार्य परिषद् दी.द.उ. गोरखपुर वि.वि., गोरखपुर।
§ सदस्य–परामर्शदात्री समिति एकेडेमिक स्टाफ कॉलेज, दी.द.उ. गोरखपुर वि.वि., गोरखपुर।
§ आजीवन सदस्य : अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन, (AIOC) पुणे।
§ सदस्य–वैदिक वर्ल्ड कान्फ्रेंस, अमेरिका
नामित विशेषज्ञ
(क) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई, दिल्ली।
(ख) उ.प्र. उच्चतर शिक्षा सेवा आयोग, इलाहाबाद
(ग) उ.प्र. माध्यमिक शिक्षा चयन बोर्ड, इलाहाबाद
(घ) उ.प्र. लोक सेवा आयोग, इलाहाबाद
(ङ) शासकीय एवं अर्द्धशासकीय विभागों की अनेक परामर्शदात्री समितियों के सदस्य।
(च) विविध साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संगठनों के सदस्य तथा उनसे सम्मानित और पुरस्कृत।
§ आकाशवाणी लखनऊ, इलाहाबाद एवं गोरखपुर केन्द्रों से ५० से भी अधिक संस्कृत वार्तायें प्रसारित।
विदेश यात्रा: लन्दन की शैक्षणिक तथा काठमाण्डू की सांस्कृतिक यात्रायें।
सम्प्रति : आर्ष परम्परा में ज्यामिति विज्ञान" विषय पर वृहद् अनुसन्धान परियोजना पर कार्यरत।

मुद्रक - दूबे प्रिंटर्स, इलाहाबाद- 2642506